प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल,
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण, मई १९५८



मूल्य दस रुपए

मुद्रक
नरसिंह नाथ भार्गव, बी० एस-सी०,
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स,
दरेसी न०२ आगरा।

उन पुनीत भावों के साथ

जिन्हें

व्यक्त करने में

भाषा

सदैव असफल रहेगी,

माता

यमुना देवी

और

पिता

रामजी तिवारी

को

निवेदन

हिन्दी कविता की नीतिधारा बडी लोकप्रिय रही है, पर हमारे अध्येताओ का ध्यान अभी तक इधर नही गया था। प्रस्तुत पुस्तक के रूप मे इस धारा का प्रथम अध्ययन हिन्दी-ससार के समक्ष रखा जा रहा है।

वस्तुत यह अध्ययन प्रारम्भिक-सा है। चाहते हुए भी एक प्रवन्ध की सीमा को देखते हुए बहुत-सी बातें नही ली जा सकी। दो-तीन प्रमुख बातो की ओर यहाँ संकेत किया जा रहा है—

(१) सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से होते नीति-काव्य की धारा आधुनिक भाषाओ के साहित्यो मे आई है, और उनका अधिकाश प्राय वही है जो संस्कृत आदि मे था। ऐसी स्थिति मे गुजराती, मराठी, बँगला आदि के नीति-काव्य के साथ हिन्दी के नीति-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है।[1]

(२) धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक या अन्य नीतियो के निर्धारण मे किन-किन सामाजिक, आर्थिक या मनोवैज्ञानिक कारणों ने काम किया है, यह बात भी यान देने की है।[2]

(३) मध्य-युग मे फारसी का भी अध्ययन पर्याप्त होता था और फारसी मे शेख सादी आदि बहुत से कवियो ने पर्याप्त नीति-काव्य लिखा है, अतएव हिन्दी के नीति-काव्य पर फारसी के प्रभाव की भी पूरी सम्भावना है।

उपर्युक्त बातें प्रस्तुत प्रवन्ध मे नही आ सकी इसका दु.ख है। इधर

---

१ प्रस्तुत प्रवन्ध के परिशिष्ट—जो 'हिन्दी नीति-काव्य सग्रह' नाम से अलग छप रहा है—की भूमिका मे इस सम्बन्ध मे कुछ निश्चित परिणाम दिए गए हैं।

२ मेरे एक परीक्षक ने अपनी रिपोर्ट मे संकेत किया था कि इस प्रवन्ध मे सत्य, धन, लोभ, वासना, धर्म आदि अनेकानेक विषयो को लेकर यह बतलाया गया है कि इनके सम्बन्ध मे नीति-काव्य मे क्या कहा गया है, पर लेखक ने यह नहीं बतलाया है कि ऐसा क्यो कहा गया है या समाज मे इन बातो की मान्यता के पीछे कौन-से कारण काम कर रहे हैं। सत्यतः इस प्रकार के विषयो के साथ न्याय तभी हो सकता है, जब उनमे से प्रत्येक को चार-चार पाँच-पाँच पृष्ठ दिए जायँ, किन्तु ऐसा करने पर यह प्रवन्ध प्रस्तुत आकार के चौगुने मे भी शायद समाप्त नही होता। इसीलिए इस प्रकार के अध्ययन को आवश्यक समझते हुए भी छोड देना पडा।

पजाब, दिल्ली तथा आगरा विश्वविद्यालय से तीन अनुसंधित्सु इसी विषय पर डॉक्टरेट के लिए काम कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि मेरे प्रबन्ध की कमियाँ उनके प्रबन्धों मे दूर हो जाएँगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए लिखे गए इस प्रबन्ध का शीर्षक था "हिन्दी नीति साहित्य", पर अध्ययन केवल "नीति-काव्य" तक ही सीमित रखा गया था।[1] अब नाम और विषय को सम्बद्ध करने की दृष्टि से इस प्रकाशित रूप मे इसका नाम "हिन्दी नीति-काव्य" कर दिया गया है।

प्रबन्ध छ अध्यायो मे विभक्त है।

पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसमे नीति शब्द के धात्वर्थ, व्यापक अर्थ, सकुचित अर्थ तथा ग्रथो मे दिये गये अर्थों के परीक्षणोपरान्त उसकी सम्भावित परिभाषा के निर्धारण का प्रयास है। आगे नीति के देश, काल, पात्र तथा विषय आदि के अनुसार वर्गीकरण की ओर अगुलि-निर्देश है। साथ ही नीति-काव्य के काव्यत्व आदि पर भी विचार किया गया है। इसी अध्याय मे इस अध्ययन की आधार-सामग्री भी दी गई है, और उसे वर्गीकृत भी किया गया है।

दूसरे अध्याय मे हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो—सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श—मे वर्णित नीति की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। वैदिक संस्कृत मे चारो वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, वेदाग तथा उपवेद के नीति-अश का सिंहावलोकन है और लौकिक सस्कृत में महाकाव्य, स्मृति, पुराण-उपपुराण, कथा तथा स्फुट काव्य आदि वर्गो को अलग-अलग लेकर सक्षेप मे नीति की दृष्टि से देखा गया है। अन्त मे सस्कृत साहित्य मे नीति कथन के विकास की पाँच सीढ़ियाँ—निर्देश, उपदेश, सूक्ति, अन्योक्ति तथा औपदेशिक कथा—स्थिर की गई हैं। पालि साहित्य के अन्तर्गत पिटक (सुत्त, विनय तथा अभिधम्म) तथा अनुपिटक दोनो ही के नीति अश पर प्रकाश डाला गया है। इसमे नीति की दृष्टि से धम्मपद तथा जातक विशेष महत्वपूर्ण हैं, अतएव उन पर स्वतन्त्र रूप से अपेक्षाकृत कुछ विस्तार से विचार किया गया है। प्राकृत साहित्य मे नीति की दृष्टि से गाहासत्तसई तथा वज्जालग्ग ही प्रमुखत

---

१ प्रस्तुत विषय पर कुछ दिन कार्य करने के बाद इन पक्तियो के लेखक का ध्यान इस ओर गया कि शीर्षक 'साहित्य' है और अध्ययन का आधार है 'काव्य' मात्र—यह समस्या मैंने डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के समक्ष रखी। दोनो ही व्यक्तियो ने राय दी कि विषय का शीर्षक बदलने की आवश्यकता नहीं, भूमिका मे इस बात को स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा। नीति की बातें प्रमुखत काव्य तक ही सीमित हैं और साथ ही नीति-काव्य अपने मे प्रबन्ध-लेखन के लिये पर्याप्त है, अतएव इसमे कोई गडबडी नही है।

उल्लेख्य हैं। यो कुछ प्रवन्ध-काव्यो मे भी यत्र-तत्र नीति की सामग्री मिल जाती है। समवेत रूप से प्राकृत का साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नही है, इसी कारण सक्षेप मे ही इस पर विचार किया जा सका है। अपभ्रंश साहित्य की धाराओ मे शैव धारा को छोडकर शेष तीनो ही (जैन, बौद्ध तथा ऐहिकतापरक) मे नीति की थोडी-बहुत बातें मिल जाती है। इस दृष्टि से विशेष महत्व की सामग्री पाहुड-दोहा, सावयधम्म दोहा, सिद्ध-साहित्य तथा हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत छन्दो मे मिलती है। प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश की सामग्री भी प्रचुर नही है, अत. इस पर भी सक्षेप मे विचार करके ही सन्तोष कर लेना पडा है।

तीसरे अध्याय मे पूर्ववर्ती साहित्यो का हिन्दी नीति साहित्य पर प्रभाव दिखलाया गया है। आरम्भ मे प्रभाव के सम्भाव्य स्रोतो पर प्रकाश डाला गया है। ये स्रोत प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो है। प्रत्यक्ष स्रोत का अर्थ है ग्रन्थो या उनके अनुवादो से सम्पर्क। परोक्ष स्रोत के साहित्यिक परम्परा सम्बन्धी एव सास्कृतिक दो उपभेद किये गये है। इन साहित्यो ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराओ एव सास्कृतिक स्रोत से परोक्षत भी हिन्दी नीति साहित्य को प्रभावित किया है। प्रभाव प्रधानतः परम्परा, शैली, छन्द, अलङ्कार तथा भाव इन पाँच क्षेत्रो मे सम्भव है, अतएव इन पर अलग-अलग विचार किया गया है। भाव के अन्तर्गत सामान्य विवेचन के अतिरिक्त सस्कृत-हिन्दी, पालि-हिन्दी, प्राकृत-हिन्दी तथा अपभ्रंश-हिन्दी के कुछ समानार्थी छन्द भी उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं।

चौथे अध्याय मे हिन्दी साहित्य पर युग-प्रभाव का अध्ययन है। युग-प्रभाव विषय तथा दृष्टान्त दोनो ही क्षेत्रो मे दिखलाया गया है।

पाँचवां अध्याय 'हिन्दी नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय' शीर्षक का है। धर्म-आचार, व्यवहार तथा समाज, राजनीति, नारी, स्वास्थ्य, खेती, व्यापार और शकुन के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न विषयो पर नीति ग्रन्थो से छन्दों को उद्धृत करते हुए प्रकाश डाला गया है और आवश्यकतानुसार उनकी समीक्षा भी की गई है।

छठा अध्याय नीति-काव्य के कला पक्ष का है। इसमे क्रम से हिन्दी नीति-काव्य मे प्रयुक्त भाषा, रूपो, शैलियो, अलकारो तथा छन्दो पर विचार किया गया है। अन्त मे उपसहार है, जिसमे पूरे अध्ययन का निष्कर्ष सक्षेप मे दिया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन सन् १९५० मे आरम्भ किया गया था, पर पारिवारिक एव आर्थिक कठिनाइयो के कारण इसे शीघ्र पूरा न किया जा सका। इतने दिनो के बाद भी इसे शायद ही पूरा कर पाता यदि पूज्य गुरुवर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के आशीर्वाद का सम्बल न मिलता। समय-समय पर विषय को समझने तथा सामग्री एकत्र करने मे श्रद्धेय डॉ० सूर्यकान्त, डॉ० दीनदयाल गुप्त, श्री भदन्त आनन्द

कौसल्यायन, प० रामनरेश त्रिपाठी, डॉ० उदयनारायण तिवारी, श्री वाचस्पति पाठक, श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी तथा श्री जयचन्द राय आदि से पर्याप्त सहायता मिली है, जिसके लिए इन सब का हृदय से आभारी हूँ। पुस्तक के प्रकाशन के लिए विनोद पुस्तक मन्दिर के उत्साही सचालक-द्वय धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रूफ की गलतियाँ—प्रमुखत संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्र श के छन्दो मे—रह गई हैं। उनके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। शुद्धि-पत्र का उपयोग नही होता अत नही दिया जा रहा है।

सम्मतियो, सुझावों और त्रुटि-निर्देशो के लिए आभारी हूँगा।

लेखक



विषय-सूची

: १ :
विषय-प्रवेश

हिन्दी काव्य मे वीर, मन्त, सूफी तथा शृङ्गार आदि धाराओं की भांति ही नीति काव्य की भी एक स्पष्ट और विशद् धारा प्रवहमान रही है। इस धारा के महत्व के विषय मे इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इसकी एक एक बात जीवन के खरे अनुभवो से सिक्त है और एक ओर यदि वह भूत के अनुभवों का सार है, तो दूसरी ओर वर्तमान और भावी समाज की प्रदर्शिका भी है। हमारे समाज के लिए इस नीति काव्य के अनेकानेक छन्द और छन्दांश लोकोक्ति बन गए हैं और जीवन के प्राय सभी क्षेत्रो मे वे जनता की समस्याओ को सुलझाते है, एव उसके कन्धे पर हाथ रखकर दुख-सुख मे उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार जीवन मे उद्भूत और जीवन के लिए होने के कारण हमारे साहित्य की यह धारा अपना अत्यधिक महत्व रखती है। इस क्षेत्र मे भारतीयो का लोहा पाश्चात्य विद्वानों[1] ने भी माना है और भारतीय नीति काव्य को नीति-साहित्य के क्षेत्र मे विश्व का सर्व-श्रेष्ठ साहित्य घोषित किया है।

नीति की परिभाषा—

धात्वर्थ—नीति शब्द का सम्बन्ध संस्कृत की 'णीय्' धातु से है, जिसका अर्थ 'ले जाना' होता है। अर्थात् धातु की दृष्टि मे "नीति" वह है जो "ले जाय" या "आगे ले जाय"।

व्यापक अर्थ—नीति के इस अर्थ को और स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि नीति का कार्य मनुष्य को जीवन मे अग्रसर करना या आगे ले जाना है। यह "आगे ले जाना" केवल एक दिशा मे न होकर अनेक दिशाओ मे हो सकता है। स्थूल रूप से आध्यात्मिक, धार्मिक, मानसिक, भौतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आचारिक आदि दिशाएँ हो सकती हैं। मानव-जीवन इन सभी दिशाओ मे आगे बढना चाहता है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए नीति की एक परिभाषा यो भी दी

---

1 In one department of literature, that of the aphorism (gnomic poetry), the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation
—*Winternitz : A History of Indian Literature, Vol I, 1927, p. 2*

जा सकती है कि "मनुष्य की सर्वोन्मुखी उन्नति की प्रदर्शिका ही नीति है"। नीति के इस व्यापक अर्थ को व्यापकतम रूप देते हुए और आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के सारे ज्ञान चाहे वे किसी भी क्षेत्र के हो, उसे आगे ले जाने मे सहायक होते हैं, अत वे सभी नीति के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे शब्दो मे दर्शन, धर्म-शास्त्र, समाज-शास्त्र, आचार-शास्त्र, साहित्य, रसायन-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र आदि, अर्थात् कला, विज्ञान और वाणिज्य की सारी शाखाएँ-प्रशाखाएँ या और भी जो कुछ कार्य करने की युक्तियाँ, कलाएँ आदि हैं यदि उनसे मनुष्य तनिक भी आगे बढ़ता है तो वे 'नीति' हैं या 'नीति' के अन्तर्गत आती हैं।

यह नीति का व्यापकतम रूप है, जहाँ विश्व के सारे सत्यो, सारे शिवो और सारे सौन्दर्यो को वह ढक लेती है। किन्तु, यह उसे देखने की एक अन्तिम सीमा है। यह परिभाषा लेकर चलने मे सामान्यत जिसे नीति समझा जाता है उसके साथ न्याय नही किया जा सकता, अत इस परिभाषा को अतिव्याप्ति दोष से दूषित समझकर छोड़ देना ही उचित होगा।

सकुचित अर्थ—'नीति' शब्द के कभी-कभी कुछ और अर्थों मे भी प्रयोग मिलते हैं। जब हम कहते हैं "अमुक समस्या मे या अमुक मामले में आपकी क्या नीति होगी ?" तो "नीति" से हमारा आशय किसी कार्य की सिद्धि के लिए चली जाने वाली चाल से होता है। नीति के "युक्ति", "उपाय" या "हिकमत" आदि अर्थ भी प्राय इसके ही समीप पड़ते हैं। "नीति" का एक दूसरा अर्थ "दृष्टिकोण" भी होता है। जब हम किसी सरकार की अर्थ-नीति की आलोचना करने बैठते हैं तो हम आर्थिक योजनाओ मे उसकी 'चाल' या 'युक्ति' की आलोचना के अतिरिक्त आर्थिक समस्याओ के प्रति उसके दृष्टिकोण की भी आलोचना करते हैं। 'नीति' का एक तीसरा अर्थ 'ले जाने' या 'ले चलने' की क्रिया, उसका भाव या ढग भी होता है। कहना न होगा कि ऊपर के दृष्टिकोण मे यदि अतिव्याप्ति दोष था तो इन सभी मे अव्याप्ति दोष है। सामान्यत प्रचलित अर्थो मे नीति न तो उतनी व्यापक है और न इतनी सकुचित।

ग्रन्थों के प्रमाण—सस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के बहुत से ग्रन्थो मे नीति की परिभाषा तथा उसके विस्तार के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से कुछ सामग्री मिलती है, जिनमे प्रमुख ग्रन्थ महाभारत, कालिकापुराण, अग्निपुराण, विष्णुपुराण, हरिवश, शुक्रनीति, नीति-मजरी, शब्द-कल्पद्रुम, हिन्दी विश्वकोष, हिन्दी शब्दसागर, विंटरनित्स का संस्कृत साहित्य का इतिहास तथा मोनियर विलियम का सस्कृत कोष आदि हैं। इनमे से कुछ ऐसे ग्रन्थो की सामग्री यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा जो नीति के स्वरूप को स्थिर करने तथा उसके अर्थ को स्पष्ट करने मे सहायक हो।

महाभारत—महाभारत के शान्तिपर्व के ५९वें अध्याय मे युधिष्ठिर ने भीष्म से नीति-शास्त्र का विषय पूछा है। भीष्म ने बतलाया है कि सत्ययुग मे सृष्टि-रचना के कुछ ही दिनो बाद सभी मनुष्य पाप-पथ पर चलने लगे और संसार मे हाहाकार मच गया। देवता लोग घबराकर ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे अपना दुख कहा। ब्रह्मा ने विश्व को पाप-पथ मे हटाने के लिए तुरन्त एक नीति-शास्त्र की रचना की जिसमे एक लाख अध्याय थे। रचना के बाद ब्रह्मा ने देवताओ से कहा कि इस नीति-शास्त्र के अध्ययन मे निग्रह और अनुग्रह प्रदर्शनपूर्वक लोक-रक्षा करने की बुद्धि उत्पन्न होगी। इस नीति-शास्त्र को महादेव ने ग्रहण किया और प्रजा-वर्ग की आयु बहुत कम देखकर उसका एक 'शालाख्य' नाम का संक्षिप्त संस्करण बनाया जिसमे दस हजार अध्याय थे। इन्द्र को फिर भी यह ग्रन्थ संसार के लिए बड़ा लगा अतः उन्होंने बाहुदत्तक नाम का उसका और भी संक्षिप्त संस्करण तैयार किया, जिसमे पाँच हजार अध्याय थे। बृहस्पति ने इसको भी संक्षेप कर "बार्हस्पत्य" नामक नीति-शास्त्र लिखा जिसमे तीन हजार अध्याय थे। शुक्राचार्य को अब भी सन्तोष न हुआ और उन्होंने और भी संक्षेप कर एक हजार अध्यायो के नीति ग्रन्थ "शुक्रनीति" की रचना की। इस कथा की ऐतिहासिकता या सत्यता के विषय मे यहाँ विचार करने की आवश्यकता नही। इससे अपने काम के कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं — (१) नीति की आवश्यकता मनुष्य को बहुत पहले से है। (२) नीति का अच्छी प्रकार विवेचन किया जाय तो वह विवेचन अत्यन्त वृहत् हो सकता है। (३) नीति का प्रधान ध्येय लोक-रक्षा की बुद्धि उत्पन्न करना है।

कालिकापुराण—कालिकापुराण के ८४वें अध्याय मे भी नीति की परिभाषा या उसकी सीमाओ को निश्चित करने के विषय मे कुछ उपयोगी सामग्री मिलती है। यह सामग्री महाराज सगर और महर्षि और्व के संवाद मे है। सगर ने और्व से नीति के विषय मे पूछा है। सगर राजा है अत और्व ने उनके प्रश्न के उत्तर मे, नीति के विषय मे कहते हुए भी प्रधानत राजनीति का ही वर्णन किया है। फिर भी वह वर्णन इतना विस्तृत और बहुमुखी है कि उसमे अनायास ही धर्म, समाज और आचार के विषय मे बहुत सी बाते आ गई हैं। संक्षेप मे नीति मे (१) सर्व-सामान्य के लिए शौच (आन्तरिक तथा बाह्य), प्रसन्नता, उत्साह, सत्य, सहिष्णुता, सच्चरित्रता, असूयाहीनता, अक्रोध, विपत्ति मे धर्म, स्त्रियो को अधिकार मे रखना तथा सबसे यथोचित व्यवहार आदि के विषय मे उपदेश रहते हैं। (२) राजा के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की आवश्यकता तथा उनके प्रयोग, अनासक्त भाव से विश्व का भोग, पाप-कर्मों का त्याग और धर्म का अवलम्बन तथा शत्रु, मित्र एवं प्रजा-पालन सम्बन्धी व्यावहारिक एव आन्तरिक बातो का उल्लेख रहता है।

शुक्रनीति—शुक्रनीति मे नीति के सम्बन्ध मे कई श्लोक है

१ सर्वोपजीवक लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलहि स्मृत मोक्षप्रद यत ॥

(नीति-शास्त्र, धर्म, अर्थ और काम का मूल है तथा मोक्ष को देने वाला है गत का उपकारक तथा मर्यादा का पालक है ।)

२ सर्वलोक व्यवहार स्थितिर्नीत्या विना न हि ।

(सम्पूर्ण लोक के व्यवहार की स्थिति नीति के विना नही ।)

३ अत सदा नीतिशास्त्रमभ्यसद्यत्नतोनृप ।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्चशत्रुजिल्लोक रजका ॥

(इससे राजा नीति-शास्त्र का यत्न से अभ्यास करे, जिसके ज्ञान से राज न्त्री आदि शत्रुओ के जेता और जगत के प्रिय होते हैं ।)

नीति-मजरी—द्याद्विवेद ने अपनी नीति-मजरी मे प्रथम श्लोक का रते हुए लिखा है —

एव कर्तव्यमेव न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्म सा नीति ।

(जो कर्तव्य और अकर्तव्य को स्पष्ट करे वही नीति है ।)

वे आगे लिखते हैं—

इमाज्ञात्वा धर्मे रतिरधर्मे विरतिर्भवति ।

(इसके जान लेने मे धर्म मे रति और अधर्म में विरति होती है ।)

निष्कर्ष—इम पृष्ठभूमि के आधार पर 'नीति' की परिभाषा दं कती है —

"समाज को स्वस्थ एव सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एव व्यक्ति के र्य, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन वि पेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमो का विधान देश, काल और ं न्दर्भ मे किया जाता है, उन्हे 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं ।"

ीति का वर्गीकरण—

'नीतियाँ' विभिन्न प्रकार की हैं । उनका वर्गीकरण निम्नाकित प्र र हो सकता है—

१ देश—देश के आधार पर विभिन्न देशों की नीति को अलग-अलग ा मकता है । जैसे भारतीय नीति, यूरोपीय नीति या चीनी नीति आदि ।

२ काल—काल के आधार पर विभिन्न कालो की नीतियाँ वर्गीकृ ा मकती हैं । जैसे प्राचीन नीति, मध्ययुगीन नीति या [illegible]

काल के आधार पर नीति के एककालिक, सामयिक या अस्थायी तथा सार्वकालिक, शाश्वत या स्थायी ये दो वर्ग भी बनाए जा सकते हैं।[१]

३. पात्र—पात्र के आधार पर छोटे-बड़े, राजा-प्रजा, धनी-गरीब, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-शत्रु, दाता-मगन तथा रक्षक-रक्षित आदि की नीति अलग-अलग हो सकती है।

४. विषय—विषय के आधार पर नीति के धार्मिक आचारिक, लोक-व्यवहार सम्बन्धी तथा राजनीतिक आदि वर्ग बनाए जा सकते हैं।

५. व्यक्ति तथा समाज—व्यक्ति और समाज के आधार पर भी नीति का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ नीतियां वैयक्तिक होती है जैसे मास भक्षण न करना या मद्य न पीना आदि। आचार (नशा, सफाई तथा विचारो की उच्चता आदि), स्वास्थ्य, शकुन, नियमितता तथा कुछ धर्म (पूजा-पाठ तथा आस्तिकता-नास्तिकता, आदि) एवं जीविका (खेती, श्रम या व्यापार आदि) सम्बन्धी नीतियां भी इसी वर्ग की हैं। दूसरी ओर कुछ नीतियां सामाजिक होती हैं। लोक-व्यवहार तथा राज सम्बन्धी नीतियां सामाजिक ही हैं। इनकी आवश्यकता व्यक्ति को समाज मे पड़ती है या ये समाज-सापेक्ष हैं। बहुत सी धार्मिक नीतियां (दया, सत्य, गर्व तथा नम्रता आदि विषयक) कुछ अशो मे वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक या समाज-सापेक्ष हैं, क्योकि व्यक्ति इनके अनुकूल या प्रतिकूल आचरण समाज मे ही करता है।[२]

---

१ नीति की कुछ बातें सामयिक महत्व की होती हैं और कुछ शाश्वत महत्व की। सामयिक नीति अस्थायी होती है और युग या काल की परिस्थिति के अनुकूल। इसका विकास या ह्रास होता है तथा इसमें परिवर्तन होते हैं। सार्वकालिक या शाश्वत नीति में प्राय परिवर्तन नहीं होता। 'सच बोलना चाहिए', 'जीवो पर दया करनी चाहिए' या 'गर्व करना निन्द्य है'—शाश्वत नीति है। ये बातें जाने कब से मान्य हैं और सम्भवत· सर्वदा रहेगी। दूसरी ओर 'युद्ध में प्राण देना ही जीवन की सार्थकता है' या 'नारी नरक का द्वार है' जैसी नीतियां अशाश्वत या सामयिक हैं। मध्ययुग में जब युद्धाधिक्य था, तथा भक्त या उनसे प्रभावित कवि अपनी दुर्बलता को नारी पर थोपकर पुरुष की उच्चता का निराधार ढका पीट रहे थे, इन दोनों का विकास हुआ और आज समय इतना परिवर्तित हो गया है कि इनकी मान्यता बिलकुल समाप्त है।

२ नीति-कथन की शैली के आधार पर भी विभाजन हो सकता है पर तत्त्वत वह विभाजन 'नीति' का न होकर 'नीति-साहित्य' या 'नीति-काव्य' का होगा।

नीति-काव्य और उसका काव्यत्व—

नीति-काव्य—ऊपर नीति की परिभाषा दी जा चुकी है। जिस काव्य[1] का विषय नीति हो, या दूसरे शब्दो मे जिस काव्य का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो, उसकी सज्ञा 'नीति-काव्य' है।[2]

काव्य के दृश्य' और 'श्रव्य' दो भेद किये गये है। श्रव्य के तीन उपभेद हैं—पद्य, गद्य और मिश्र। इनमे 'पद्य' की 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' दो शाखाएँ हैं। 'मुक्तक' शाखा 'पाठ्य' और 'प्रगीत' दो उपशाखाओ में विभाजित की गई है। नीति की कविताएँ प्रमुखत इस 'पाठ्य' उपशाखा के ही अन्तर्गत आती हैं।[3] रहीम या वृन्द आदि के नीति-दोहे इसी प्रकार के (पाठय मुक्तक) हैं।

नीति-काव्य का काव्यत्व—नीति-काव्य के काव्यत्व के सम्बन्ध मे कुछ

---

१ 'काव्य' की विभिन्न देशो में विभिन्न परिभाषाएं दी गई हैं, जिनमे कुछ प्रमुख

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् —भामह, काव्यालकार,

वाक्य रसात्मक काव्यम् —विश्वनाथ, साहित्य दर्पण,

रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम् —जगन्नाथ, रस गगाधर,

"कविता वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" —रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि,

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason"

—*S Johnson Lives of Poets,*

"(Poetry) is the spontaneous overflow of powerful feelings (and) emotion recalled in tranquility"

—*Wordsworth Preface to Lyrical Ballads*

"Music when combined with pleasurable idea is Poetry"

—*E A Poe Letter to B*

ये हैं। इन्हीं के आधार पर कह सकते हैं—'सहृदय को अलोक-सामान्य आनन्द की अनुभूति कराने वाली शब्द-रचना काव्य है।'

2 "That kind of poetry, which aims or seems to aim at instruction as its object, making pleasure entirely subservient to this In the poems generally called didactic, the information or instruction given in the verse is accompanied with poetic reflection, illustrations and episodes etc"—चेम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया, खण्ड २, पृ० ५४६।

३ 'प्रमुखत' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि पाठ्य मुक्तक के अतिरिक्त प्रगीत मुक्तक (या गीतिकाव्य, उदाहरणस्वरूप कबीर, सूर, मीरा तथा तुलसी के उपदेशात्मक एव नीतिपरक गीत) या प्रबन्ध काव्य के अश रूप (जैसे पृथ्वीराजरासो, पद्मावत या रामचरितमानस आदि के नीतिपरक छन्द) मे भी नीति की कविताएं हो सकी हैं।

लोगो को सन्देह रहा है। हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट (पृ० ६४) मे नीति के कवियो के विषय मे सम्भवत. इसीलिए कहा गया है—'इनकी कविता साहित्य कोटि मे स्थान पाने योग्य चाहे न हो पर कही-कही चमत्कृत अवश्य है।'[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की काव्य-पद्धति पर विचार करते समय दोहावली के प्रसंग मे कहा है—

'भक्ति और प्रेम का स्वरूप व्यक्त करने वाले दोहे तो काव्य के अन्तर्गत लिए जायेंगे पर नीतिपरक दोहे सूक्ति की श्रेणी मे स्थान पायेंगे।'[2]

इतिहास मे भी रीतिकाल के फुटकल कवियो के सामान्य परिचय मे वे लिखते है—

'चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालो का है। इनको हम कवि कहना ठीक नही समझते।……ऐसी रचना करने वालो को हम कवि न कहकर 'सूक्तिकार' कहेंगे।'[3]

इस आधार पर कुछ लोग कहते सुने गए हैं कि शुक्ल जी की दृष्टि मे नीति की कविता 'काव्य' न होकर 'सूक्ति' मात्र है। पर, यथार्थत शुक्लजी के उपर्युक्त कथन सामान्य नीति-कविता के विषय मे न होकर कुछ विशिष्ट लोगो की नीति-कविता के विषय मे है। 'रहीम' के प्रसग मे वे कहते है—

'रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यो के समान कोरे नीति के पद्य नही है, उनमे मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियो के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि मे होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।'[4]

'ये (रहीम) ·· पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे।'[5]

इसी प्रकार दीनदयाल गिरि, जो अन्योक्ति रूप मे नीति की बाते कहने वाल मे सर्वोपरि हैं, के सम्बन्ध मे शुक्ल जी कहते हैं—

'ये एक अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिन् के और किसी कवि की नही हुई।'[6]

---

१ हिन्दी सर्वे कमेटी के सयोजक तथा इस रिपोर्ट के लेखक थे लाला सीताराम ६ यह सन् १९३० मे हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी।

२ गोस्वामी तुलसीदास, सं० २००८, काशी, पृ० ७१।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, स० १९९९, काशी, पृ० ३५५।

४ वही, पृ० २४२।

५ वही, पृ० २४०–१।

६ वही, पृ० ४२७।

इसका अर्थ यह है कि रहीम और दीनदयाल के नीति-काव्य को वे शुद्ध काव्य मानते हैं।

यो सामान्य दृष्टि से नीति-काव्य के काव्यत्व पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। एक तो यह कि काव्य और नीति का गठवन्धन हो सकता है या होना चाहिए या नही, और दूसरे यह कि नीति विपय को लेकर शुद्ध काव्य या उच्च कोटि के काव्य की रचना हो सकती है या नही।

पहले प्रश्न पर 'नीति और कविता', 'नीति और कला', 'कला कला के लिए', 'कला जीवन के लिए' तथा 'कला या कविता का उद्देश्य' आदि शीर्षको के अन्तर्गत बहुत पहले से विचार होता आया है। कुछ लोग कला या काव्य का उद्देश्य केवल 'आनन्द' मानते रहे है पर इसके विरुद्ध काव्य या कला को जीवन के लिए मानते हुए कुछ लोग उसमे नीति के समर्थक रहे है। कुछ लोगो ने दोनो का समन्वय उचित समझा है।[1] तत्त्वत कला या काव्य का उद्देश्य आह्लादित करते हुए जीवन को

---

१ कुछ उद्धरण दर्शनीय हैं—

"Poetry is an art of imitation with this end to teach and delight"
—P Sidney *An Apology for Poetry*

"(Delight) is the chief, if not the only end of poetry, instruction can be admitted but in the second place, for poetry only instructs as it delights" —J Dryden *Defence of an Essay of Dramatic Poetry*

"The end of writing is to instruct, the end of poetry is to instruct by pleasing" —S Johnson *Preface to Shakespeare*

"The office of poetry is not moral instruction, but moral emulation, not doctrine but inspiration"
—G H Lewes *Inner Life to Art*

"नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि मे अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशो के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।" —प्रेमचन्द साहित्य का उद्देश्य।

"कवि संसार के शिक्षक है, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके ससार की चित्त-शुद्धि करते है। यही चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।"

—वंकिमचन्द्र रामदहिन मिश्र के काव्य दर्पण (१९५१) मे पृ० ३० पर उद्धृत।

"Every author and every work of art is of some benefit to man, thus all art is didactic."

विकसित करना है। श्रेष्ठ काव्य मे यही बात मिलती है। पृष्ठ ८ पर प्रेमचन्द या वकिमचन्द्र के उद्धरण इस दृष्टि से आदर्श माने जा सकते है, और इस आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य और नीति का गठबन्धन सर्वथा सम्भव है। रामायण, महाभारत, रघुवश, मानस, गीताजलि आदि सभी मे यह बात पाई जाती है।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध मे ध्यान देने की बात यह है कि 'नीति' विषय है, और कविता किसी भी विषय पर हो सकती है। यह कवि की काव्य-शक्ति पर निर्भर करता है कि वह किसी विषय को लेकर काव्य की रचना करता है या पद्य की। ऐसी स्थिति मे यह भी मानना ही पडेगा कि नीति विषयक विषयो को लेकर भी उच्च-कोटि का काव्य लिखा जा सकता है। यह बात दूसरी है कि यह कार्य कठिन है और इसीलिए नीति के कवि कम है, पद्यकार अधिक है।

नीति-काव्य के रूप—'नीति-काव्य के कितने रूप हो सकते है' इस प्रश्न पर स्पष्टत. कही विचार नही किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी के नीतिकार कवियो पर विचार करते समय अपने इतिहास मे तीन शब्दो (कवि, सूक्तिकार, पद्यकार या काव्य, सूक्ति, पद्य) का प्रयोग किया है। यद्यपि उनके ये प्रयोग कही-कही आत्मविरोधी भी है[१], पर इससे लगता है कि उनकी दृष्टि मे नीति-काव्य के काव्य, सूक्ति और पद्य तीन रूप थे।

यहाँ 'काव्य' और 'सूक्ति' शब्द विचारणीय हैं। शुक्ल जी के अनुसार—

'जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जाग्रत कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।'[२]

इसका अर्थ यह है कि इन दोनो को शुक्ल जी बिल्कुल अलग दो चीजें मानते हैं। तत्त्वत सुन्दर ढङ्ग से कही गई उक्ति या बात ही 'सूक्ति' या 'सुभाषित' है।

---

१ (क) ये (रहीम) पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे।··· रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यो के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं।—इतिहास, पृ० २४०-१ तथा २४२।

(ख) रीतिकाल के भीतर वृन्द, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं। —वही, पृ० ३५५।

(ग) इन्होने (बैताल ने) जोरदार पद्य कहे हैं। —वही, पृ० ३६०।

(घ) ये (गिरिधर) कोरे पद्यकार ही कहे जा सकते हैं, सूक्तिकार नहीं। —वही, पृ० ३६०।

२ 'कविता क्या है', चिन्तामणि, भाग १, सन् १९५०, प्रयाग, पृ० १७१।

ऐसी स्थिति मे 'सूक्ति' काव्य हो भी सकती है और नही भी।[1] इस प्रकार 'सूक्ति' और 'काव्य' को अलग-अलग वर्ग नही माना जा सकता। शुक्ल जी ने 'सूक्ति' शब्द का प्रयोग यहाँ कोरी चमत्कारपूर्ण[2] कविता के लिये किया है[3] जो उचित नहीं कहा जा सकता।[4] इस सशोधन के साथ शुक्ल जी का वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है।

नीति-काव्य दो रूपो मे उपलब्ध है—(१) सूक्ति, (२) पद्य।

'सूक्ति' मे नीति की बाते सुन्दर ढङ्ग से कही जाती हैं और पद्य[5] में उन्हें सीधे शब्दो मे छन्दबद्ध कर दिया जाता है। आगे सूक्ति को दो वर्गो मे रखा जा सकता है। एक प्रकार की सूक्ति वह होती है, जिसमे काव्य के विधायक तत्त्व होते हैं और दूसरी प्रकार की सूक्ति काव्य के विधायक तत्त्वो से शून्य होती है, चमत्कार या रचना-

---

१ ऊपर दी हुई सूक्तियो मे रचना-चातुर्य के सहारे अप्रस्तुत दृष्टान्त का प्रभाव प्रस्तुत में आरोपित कर दिया गया है। इसी प्रकार की सूक्तियाँ कविता के अन्तर्गत आ सकती हैं।

—डॉ० श्यामसुन्दरदास सतसई सप्तक, सन् १९३१, प्रयाग, पृ० १४ (प्रस्तावना)।

नीति विषयक कविता होने पर भी वह (वृन्द-सतसई) कवितागत विशेषताओं से रहित नहीं है।

—हरिऔध हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, स० १९९७, पृ० ४४७।

'शुक्ल जी के मत से स्पष्ट है कि सूक्ति काव्य नहीं है। पर, सूक्ति क्या, उक्ति विशेष भी काव्य होता है। जैसा कहा गया है—'उक्तिविशेष' काव्यम्' .. सूक्ति के लक्षण में शुक्ल जी ने जितनी बातें कही हैं समुचित प्रतीत नहीं होतीं। इस प्रकार काव्य का भेद काव्यत्व का विघातक है।

—विद्यावाचस्पति पं० रामदहिन मिश्र काव्य दर्पण, १९५१, पटना, पृ० २४ (भूमिका)

२ पण्डितराज जगन्नाथ आदि पुराने आचार्यो ने 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग 'रमणीयता' या 'अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराने वाली विशेषता' के अर्थ में किया है पर अब 'चमत्कार' उस तत्त्व को कहते हैं जिसमें हृदय को फडका देने की शक्ति हो, रसानुभूति कराने की नही।

३ जायसी ग्रन्थावली, काशी, स० २००६, पृ० १६८।

४ ... को सूक्ति की सज्ञा देना सूक्ति शब्द के अर्थ को भ्रष्ट करना है।

—वही, पृ० २४।

५ जैसे—राग द्वेष इरषा मद मोहू। सपनेहुँ जनि इनके वस होहू।

—तुलसी सूक्त०, पृ० ६२२।

वैचित्र्य मे ही उसका सूक्तित्व होता है ।[1] अन्योक्ति, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिग, दृष्टान्त तथा उदाहरण आदि अलकारो के सहारे कहे गये छन्द प्रथम प्रकार की सूक्तियो मे आते हैं । यों इन प्रथम प्रकार की सूक्तियो को भी दो वर्गो मे रखा जा सकता है । पहले वर्ग के छन्द काव्यत्व की दृष्टि से ऊँचे होते हैं और दूसरे वर्ग के अपेक्षाकृत निम्न । अन्योक्तियाँ या ऐसे छन्द जिनमे कवि अपने हृदय मे अनुभूत तथ्य की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति कर पाठक के चित्त मे तद्गत भाव को उद्बुद्ध कर सके या दूसरे शब्दो मे भाव कवि की सहजानुभूति के रूप मे परिणत होकर व्यक्त हो, पहले वर्ग के हैं ।[2] शेष दूसरे के ।[3] दूसरे वर्ग की सूक्तियो मे इस सहजानुभूति का अभाव होता है इसी कारण वे पाठको मे सफलता के साथ भावो का स्फुरण नही करा पाती ।

निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि नीति-काव्य के तीन रूप हैं । एक तो वह जिसमे केवल पद्यात्मकता है । इसे 'पद्य' या 'पद्यमात्र' कह सकते हैं । गिरिधर की अधिकाश कुण्डलियाँ, सन्त कवियो की अधिकाश साखियाँ, अन्य भक्त कवियो के अधिकाश नीति छन्द और टोडरमल, बीरबल, गग, घाघ, बैताल तथा भड्डरी आदि का नीति-साहित्य इसी श्रेणी का है । दूसरा रूप वह है जिसमे चमत्कार हो । इस प्रकार के नीति-काव्य से हृदय फडक उठता है पर काव्य की यथार्थ रसानुभूति नही होती । इसे चमत्कार मात्र वाला नीति-काव्य कह सकते हैं । कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, दीनदयाल, रामचरित उपाध्याय तथा महात्मा भगवानदीन के बहुत से नीति के छन्द इस वर्ग के हैं । तीसरा रूप वह है जिसमे यथार्थ रूप मे काव्यत्व मिलता है । तुलसी, रहीम, वृन्द के कुछ नीति दोहे तथा दीनदयाल गिरि की बहुत सी अन्योक्तियाँ इस प्रकार की हैं ।

हिन्दी नीति-काव्य मे सबसे अधिक छन्द 'पद्यमात्र' हैं और सबसे कम छन्द यथार्थ काव्य । ऐसी स्थिति मे सभी नीतिकार कवियो को 'कवि' कहना या नीति के

---

१ जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम चरन छव-तीन ।
तुलसी देखु विचारि हिय, है यह मतो प्रवीन ।। —सतसई सप्तक, पृ० १४ ।

२ सर सूखे पछी उडै, औरे सरन समाहि ।
दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहि ।। —रहिमन विलास, पृ० २६ ।

या

बाग़बाँ ने आग दी जब आशियाने को मेरे ।
जिन पै तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे ।। —साकिब लखनवी ।

३ पिसुन छल्यो नर सुजन सों करत बिसास न चूकि ।
जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाछहि फूकि ।। —सतसई सप्तक, पृ० १७ ।

सभी छंदो को 'काव्य' कहना वैज्ञानिक नही है। पर इन दोनो के लिए वैज्ञानिक और उचित शब्द न मिल सके और 'काव्य' तथा 'कवि' सामान्यत. बडे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, अतएव इस प्रबन्ध मे भी इन दोनो का उस व्यापक अर्थ मे ही प्रयोग किया गया है।

हिन्दी नीति-काव्य—

सामग्री—नीति और उपदेश से हमारी सास्कृतिक परम्परा ओत-प्रोत है। हमारा साहित्य भी उससे उतना ही भरा-पूरा है। यह कहने मे तनिक भी अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी के आदिकाल से आधुनिक काल तक ऐसे कवि बहुत ही कम होगे जिनकी रचनाओ मे नीति और उपदेश के अश बिल्कुल न हो। विभिन्न कवियो मे इस प्रकार की प्राप्त सारी सामग्री नीति-काव्य के अन्तर्गत आयेगी पर इस प्रकार की केवल कुछ पक्तियो या छन्दो के रचयिता होने के कारण ही इन सभी कवियो को नीति के कवियो की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। नीतिकार या नीति के कवि केवल उन्ही को कह सकते हैं जिन्होने इस प्रकार की रचना अपेक्षाकृत कुछ अधिक मात्रा मे की हो। इस प्रकार के नीतिकार कवियो की भी दो श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। एक तो वे हैं जो प्रमुख रूप से नीति के कवि हैं और इस रूप में ही हिन्दी-साहित्य मे उनकी ख्याति है। उदाहरणार्थ, रहीम, वृन्द, घाघ, भड्डरी, गिरिधर, बैताल तथा दीनदयाल इसी प्रकार के कवि हैं। कबीर और तुलसी का प्रमुख रूप से निर्गुण काव्य-धारा तथा राम-काव्यधारा के कवि होने पर भी, अपने काव्य मे उपदेशात्मक तथा नीतिपरक दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा है, साथ ही इन लोगो ने नीति और उपदेश की रचना पर्याप्त मात्रा मे की है। अतएव इन दोनो को भी नीति के प्रमुख कवियो मे स्थान दिया जा सकता है। अप्रसिद्ध या अल्पप्रसिद्ध कवियो मे देवीदास, रतनावली, सम्मन तथा महात्मा भगवानदीन आदि भी इसी श्रेणी के अधिकारी हैं।

दूसरे प्रकार के कवि वे हैं जिन्हे नीति-काव्य के गौण कवि कहा जा सकता है। इस वर्ग मे लगभग पौने दो सौ कवि हैं।

यहाँ प्रमुख और गौण दोनो ही श्रेणी के कवियो की सूची, उनकी नीति-रचनाओं के साथ काल-क्रम से दी जा रही है।

कवि	नीति-रचनाएँ
गोरखनाथ (लगभग १०वी सदी)	उपदेश के फुटकर छन्द
चन्दवरदायी (१२वी सदी)	'पृथ्वीराजरासो' के नीति के छन्द
योगचन्द्र (१२वी सदी)	'दोहा सार'[१] के उपदेश और नीति के छन्द

१ ये रचनाएँ हिन्दी और अपभ्रंश के सन्धि-स्थल पर हैं। इन्हें कुछ लोग अपभ्रंश और कुछ लोग हिन्दी की मानते हैं।

कवि	नीति-रचनाएं
जगनिक (१३वीं सदी)	'आल्ह खंड' के नीति के छन्द
धर्मसूरि (१३वीं सदी)	'जम्बू स्वामी रासा'[१] के उप नीति के छन्द
कबीर (१५वीं सदी)	उपदेश और नीति की साखियां
रैदास (१५वीं सदी)	उपदेशात्मक साखियाँ तथा पद
गुरु नानक (जन्म १४६९ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथ
ईश्वरदास (रचना-काल १५०० ई० के आस-पास)	सत्यवती की कथा के नीति छ
ठाकुर सी (रचना-काल १६वीं सदी प्रथम चरण)	'कृपण चरित्र'
जायसी (१४९४-१५४२ ई०)	'पद्मावत' तथा 'अखरावट' और उपदेश के छन्द
देवीदास (रचना-काल १६वीं सदी पूर्वार्द्ध)	'देवदास का कवित्त'
नरहरि (१५०५-१६१० ई०)	छप्पय
व्यासजी (१५१०-१६१२ ई०)	साखियां
टोडरमल (१५२३-१५८९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
बीरबल (१५२८-१५८५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
तुलसी (१५३२-१६२३ ई०)	'दोहावली', 'सतसई' तथा 'म नीति और उपदेश के छन्द
रतनावली (१६वीं सदी)	'दोहावली'
गंग (१५३८-१६२५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
कुशललाल (रचना-काल १६वीं सदी मध्य)	माधवानल-कामकंदला के नी छन्द
अग्रदास (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'कुण्डलिया' के नीति के छन्द
कादिर (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	नीति के फुटकर छन्द
जमाल (रचना-काल १६वीं सदी उत्तरार्द्ध)	नीति के फुटकर दोहे

१ ये रचनाएँ हिन्दी और अपभ्रंश के सन्धि-स्थल पर हैं। इन्हें कुछ लोग

कवि	नीति-रचनाएँ
मनोहर (रचना-काल १६वी सदी उत्तरार्द्ध)	'शत प्रश्नोत्तरी' के फुटकर नीति के दोहे
दादू (१५४४-१६०३ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ तथा पद
केशव (१५५५-१६१७ ई०)	'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित्र' तथा 'विज्ञान गीता' के नीति के छन्द
रहीम (१५५६-१६२६ ई०)	'दोहावली'
अल्लूजी (जन्म १५६३ ई०)	नीति के फुटकर छप्पय
रज्जबजी (१५६७-१६८९ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ तथा पद
मलूकदास (१५७४-१६८२ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ तथा पद
गरीबदास (१५७५-१६३६ ई०)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ
परिमल (रचना-काल १६०० ई० कुछ पूर्व)	'श्रीपाल चरित' के उपदेशात्मक छन्द
महानन्दि देव (,,)	'आनन्द तिलक' के नीति के छन्द
उदयराज (रचना-काल १६०० ई० के आस-पास)	राजनीति विषयक फुटकर छन्द
रूपचन्द जैन (रचना काल १६०० ई० के आस-पास)	'परमार्थी दोहा शतक'
बनारसीदास जैन (जन्म १५८६ ई०)	'ज्ञान बावनी' तथा फुटकर उपदेशात्मक पद
उसमान (रचना-काल १६१३ ई० के आस-पास)	चित्रावली के नीति छन्द
परशुराम (रचना-काल १६२० ई० के आस-पास)	नीति के फुटकर दोहे
कुंवरपाल (रचना-काल १७ वी सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर दोहे
सुन्दरदास (१५९६-१६८९ ई०)	नीति से फुटकर छन्द
बिहारी (१६०३-१६६३ ई०)	'बिहारी सतसई' के नीति के दोहे
मतिराम (जन्म लगभग १६१७ ई०)	'मतिराम सतसई' के नीति के दोहे
गुरु तेगबहादुर (जन्म १६२२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
जिनहर्ष (रचना-काल १६५० ई० के लगभग)	'उपदेश छत्तीसी'

कवि	नीति-रचनाएँ
गोपालचन्द्र मिश्र (जन्म १६३३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
अहमद (रचना-काल १७ वी सदी मध्य)	नीति के फुटकर दोहे
खेमदास (रचना-काल १७वी सदी मध्य)	'नसीहतनामा'
रसनिधि (रचना-काल १६६० ई० के लगभग)	'रतन हजारा' के नीति के दोहे
वृन्द (१६४३–१७२३ ई०)	'वृन्द सतसई'
छत्रसाल (जन्म १६४६ ई०)	'नीति मजरी'
कुलपति (रचना-काल १७वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'कुलपति सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति के फुटकर छन्द
भगवतीदास (रचना-काल १७वी सदी उत्तरार्द्ध)	'योगीरासा' तथा 'खीचडी रासा' के उपदेश तथा नीति के छन्द
वीरभान (१७वी सदी)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद
जयदेव (१७वी सदी)	नीति के फुटकर छन्द
प्राणनाथ (१७वी सदी)	नीति के फुटकर छन्द
जान (१७वी सदी)	'सिपसागर पद नामा', 'चेतन नामा' 'सिपग्रथ', 'सुधासिप', 'बुधिदायक' 'बुधिदीप', 'मत्तनावा', 'वर्न नामा' तथा 'ग्रन्थ पदनामा लुकमान का' के उपदेश तथा नीति के छन्द
जिनरंग सूरि (रचना-काल १७वी सदी अन्तिम चरण)	'प्रबोध बावनी'
वीरदास (रचना-काल १७वी सदी अन्तिम चरण)	'सीख पचीसी'
जगजीवनदास (१६७०–१७६१ ई०)	उपदेश तथा नीति की कुछ साखियाँ तथा पद
द्यानतराय (जन्म १६७४ ई०)	'उपदेश शतक', 'सज्जन गुण दशक' 'दान बावनी' तथा 'पूरण पंचासिका'
वैताल (जन्म १६७७ ई०)	नीति के फुटकर छप्पय
रघुनाथ (रचना-काल १८वी सदी आरम्भ)	नीति के फुटकर छन्द

कवि	नीति-रचनाएँ
दयाराम (रचना-काल १८वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
श्रीपति (रचना-काल १७२० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
घाघ (जन्म १६९६ ई०)	व्यवहार, खेती तथा स्वास्थ्य विषयक छन्द या छन्दांश
चरनदास (१७०३–१७८२ ई०)	उपदेश तथा नीति के दोहे तथा पद एवं 'ज्ञान स्वरोदय' के शकुन के छन्द
सहजोबाई (रचना-काल १८वीं सदी मध्य)	उपदेश और नीति की कुछ साखियाँ
भूपति (रचना-काल १८वीं सदी मध्य)	'भूपति सतसई' के नीति के दोहे
जसुराम कवि (रचना-काल १८वीं सदी मध्य)	'राजनीति'
गिरिधर (जन्म १७१३ ई०)	'गिरिधर की कुण्डलियाँ'
ब्रजपाल (रचना-काल १८वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति संग्रह'
अमृत कवि (रचना-काल १८वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'राजनीति'
श्रीनाथ शर्मा (रचना-काल १८वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'अन्योक्ति मंजूषा'
ठाकुर, असनीवाले (जन्म १७३५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
उम्मेदराम (जन्म १७४३ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
तुलसी साहब (जन्म लगभग १७५३ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द
देवीदास (रचना-काल १७९० ई० के लगभग)	'राजनीति'
रामचरण (रचना-काल १७९० ई० के लगभग)	'समतानिवास ग्रन्थ'
खींवड़ा (रचना-काल १८०० ई० से पूर्व)	'खींवड़ा का दूहा'
चन्दन (रचना काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	'चन्दन सतसई' के नीति के दोहे
दयाबाई (रचना-काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	'दयाबोध' के नीति और उपदेश के छन्द

कवि	नीति-रचनाएँ
व्यास (रचना-काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	नीति के फुटकर छन्द
चतुर्भुजदास (रचना-काल १८वीं सदी अन्तिम चरण)	मधुमालती के नीति-छन्द
बोधा (जन्म १८वीं सदी मध्य)	नीति के फुटकर छन्द
गरीब गिर (रचना-काल १८००ई० के पूर्व)	'जोग पावडी' नीति के छन्द
भैया भगवतीदास (१८वीं सदी)	नीति तथा उपदेश के फुटकर छन्द तथा 'अनित्य पच्चीसिका'
चेतन (रचना-काल १८०० ई० के आस-पास)	अध्यात्म बारहखड़ी
परमानन्द (रचना-काल १८०० ई० के आस-पास)	'नीति सारावली', 'नीति सुधा मन्दाकिनी', 'नीति मुक्तावली' तथा 'राजनीति मजरी'
बेनी, रायबरेली वाले (रचना-काल १८०० ई० के आसपास)	'भँडौवा संग्रह' के नीति के छन्द
कृपाराम (रचना-काल १८०० ई० के आस-पास)	नीति के फुटकर सोरठे
हित वृन्दावनदास (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	नीति-कुण्डलियाँ
दयाराम (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	'दयाराम सतसई' के नीति के छन्द
जगदीशलाल गोस्वामी (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	'षट उपदेश' तथा 'नीति अष्टक'
रामसहायदास (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	'राम सतसई' तथा 'ककहरा' के नीति तथा उपदेश के छन्द
सम्मन (रचना-काल १९वीं सदी प्रथम चरण)	नीति के फुटकर दोहे
बाँकीदास (१७८१–१८३३ ई०)	'नीति मंजरी', 'कृपण दर्पण', 'संतोष बावनी' तथा 'चुगल मुख चपेटिका' आदि
जैकेहरि (रचना-काल १९वीं सदी दूसरा चरण)	'भूप-भूषण'

कवि	नीति-रचनाएँ
विश्वनाथसिंह (जन्म १७८९ ई०)	'ध्रुवाष्टक', 'अवाव नीति' तथा 'उत्तम नीति चन्द्रिका'
दयाल (रचना-काल १९वीं सदी दूसरा चरण)	नीति के फुटकर छन्द
रसिक गोविन्द (रचना-काल १९वीं सदी पूर्वार्द्ध)	'कलियुग रासो' के नीति छन्द
निहाल (रचना-काल १९वीं सदी पूर्वार्द्ध)	'सुनीति-रत्नाकर' तथा 'सुनीति-पथ प्रकाश'
दीनदयाल गिरि (१८०२–१८५८ ई०)	'अन्योक्ति कल्पद्रुम' तथा 'दृष्टान्त तरंगिणी'
लक्ष्मणसिंह (जन्म १८०७ ई०)	'नृप नीति शतक' तथा 'समय नीति शतक'
शिवबक्ससिंह (रचना-काल १८५० ई० के पूर्व)	नीति की कुछ कुण्डलियाँ
विष्णुदत्त (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'राजनीति चन्द्रिका'
अम्बुज (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
विहारीप्रसाद (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'नीति प्रकाश'
गोविन्द रघुनाथ थत्ते (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'शरण्य नीति'
दीनजी (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'अन्योक्ति मञ्जूषा'
पलटू (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	उपदेश तथा नीति की साखियाँ और कुण्डलियाँ
ठाकुर (रचना-काल १८५०ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
अनीस (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
रामदया (रचना-काल १८५० ई० के लगभग)	'सभाजीत सर्वनीति'

कवि	नीति-रचनाएं
बुधजन (१९वीं सदी)	'बुधजन सतसई' के नीति के छन्द तथा नीति और उपदेश के फुटकर पद
भूधरदास (१९वीं सदी)	'भूधर शतक' तथा 'पार्श्व पुराण' के नीति के छन्द
रामहित सिंह (रचना-काल १८६० के लगभग)	नीति के फुटकर छन्द
बख्तावर जी (जन्म १८१३ ई०)	'अन्योक्ति प्रकाश'
प्रधान (जन्म १८१३ ई०)	'कवित्त राजनीति' तथा फुटकर छन्द
रामावतारदास (रचना-काल १८७० ई० के लगभग)	'सन्तविलास' के नीति के छन्द
मथुरादास (रचना-काल १८७० ई० के आस-पास)	'नीति विलास'
शिवचन्द्र (रचना-काल १९वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति वाक्यामृत'
मजबूतसिंह (रचना-काल १९वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति चन्द्रिका'
गुलाबराम राव (रचना-काल १९वीं सदी उत्तरार्द्ध)	'नीति मजरी'
ब्रज (जन्म १८२२ ई०)	'नीति मार्तण्ड', 'सुतोपदेश', 'नीति रत्नाकर' तथा 'नीति प्रकाश'
गुलाब जी (जन्म १८३० ई०)	'नीति सिन्धु', 'नीति मजरी', 'नीति चन्द्र' तथा 'मूर्ख शतक'
गिरिधरदास (१८३३–१८६० ई०)	नीति के कुछ दोहे
रामप्रसाद तिवारी (१८४०-१९०५ ई०)	'सुताप्रबोध' तथा 'नीति-सुधा तरगिणी' के नीति के छन्द
गोविन्द गिल्ला भाई (जन्म १८४८)	अन्योक्तियाँ तथा नीति के फुटकर छन्द
पतितदास (रचना-काल १९००ई० के पूर्व)	'दोहावली' के नीति के छन्द
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द एव मुकरिया
चिम्मनलाल (जन्म १८५३ ई०)	'नीति शिरोमणि'
बालाबख्श (जन्म १८५५ ई०)	नीति के फुटकर छन्द

कवि	नीति-रचनाएं
प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ ई०)	'लोकोक्ति शतक' तथा अन्य फुटकर छन्द
जानकीप्रसाद पवांर (रचना-काल १९०० ई० के लगभग)	'नीति विलास'
बालकृष्ण चौबे (रचना-काल १९०० ई० के लगभग)	'नीति सार'
पाटन (रचना-काल १९०० के लगभग)	'ज्ञान सरोवर' के नीति-छन्द
सरयूप्रसाद (जन्म १८६२ ई०)	'नसीहतनामा' तथा 'अलिफनामा'
शिवसम्पति (जन्म १८६३ ई०)	'नीति चन्द्रिका' तथा 'नीति शतक'
जगदीशलाल (जन्म १८६३ ई०)	'नीति अष्टक'
रामनाथ (जन्म १८६३ ई०)	'नीतिसार' तथा 'नीति शतक'
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जन्म १८६५ ई०)	'हरिऔध सतसई' तथा 'दिव्य दोहावली' के नीति-छन्द
रामेश्वर 'करुण' (रचना-काल २०वीं सदी प्रथम चरण)	'करुण सतसई' के नीति के छन्द
दयाशंकर मिश्र (रचना-काल २०वीं सदी प्रथम चरण	'सदाचार सोपान'
हरदीन त्रिपाठी (रचना काल २०वीं सदी प्रथम चरण)	'सामान्य नीति काव्य'
रामचरित उपाध्याय (जन्म १८७२ ई०)	'ब्रज सतसई' के नीति के छन्द, 'सूक्ति शतक' तथा 'उपदेश रत्नमाला'
सैयद अमीरअली 'मीर' (१८७३-१९३७ ई०)	'नीति दर्पण' तथा 'अन्योक्ति शतक'
दामोदरसहायसिंह 'कवि किंकर' (जन्म १८७५ ई०)	'सुधा सरोवर' के 'नीति निचय' भाग के छन्द
चतुरसिंह (जन्म १८७९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द
गुरु अमरदास (जन्म १८७९ ई०)	उपदेश तथा नीति के फुटकर छन्द
महेशचन्द्र प्रसाद (रचना-काल १९३० के आस-पास)	'स्वदेश सतसई' के नीति के छन्द
रूपनारायण पाण्डेय (जन्म १८८४ ई०)	'नीति रत्नमाला' तथा 'नारी नीति'
महात्मा भगवानदीन (जन्म १८८४ ई०)	'नीति के दोहे'

कवि	नीति-रचनाएँ
उल्फतसिंह 'निर्भय' (रचना-काल १९३७ के आस-पास)	'किसान सतसई' के नीति विषयक छन्द
टेकचन्द (रचना-काल १९३७ के आसपास	'टेकचन्द सतसई' के नीति. के छन्द
मैथिलीशरण गुप्त (जन्म १८८६ ई०)	'भारत भारती' तथा अन्य बहुत सी रचनाओ के उपदेश एव नीति के छन्द
लोचनप्रसाद पाडेय (जन्म १८८७ ई०)	'नीति कविता'
रामनरेश त्रिपाठी (जन्म १८८९ ई०)	नीति के फुटकर छन्द तथा पद्यबद्ध नीति कथाएँ
वियोगी हरि (जन्म १८९६ ई०)	'वीर सतसई' के नीति के छन्द
मोहनसिंह (जन्म १८९९ ई०)	'मोहन सतसई' के नीति छन्द तथा 'नीति शतक'
शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' (रचना-काल आधुनिक काल)	'सिरस नीति सतसई'
दुलारेलाल भार्गव (जन्म १९०१ ई०)	'दुलारे दोहावली' के नीति के छन्द
जगनसिंह सेंगर (जन्म १९०३ ई०)	'किसान सतसई' के नीति के छन्द
रामधारीसिंह 'दिनकर' (जन्म १९०८ ई०)	'नए सुभाषित'
कुलदीपा (रचना-काल १९३८ ई० के लगभग)	'सहस्र दोहावली' के नीति के छन्द
रामस्वरूप मिश्र (रचना-काल २०वी सदी मध्य)	'सुविचार सतसई'
राजेशदयाल श्रीवास्तव (जन्म १९२४)	'राजेश सतसई' के नीति के छन्द
दयाशकर दीक्षित (रचना-काल २० वी सदी मध्य)	नीति के फुटकर छन्द

हिन्दी के कुछ छोटे-मोटे ऐसे नीतिकार कवियो का भी पता चला है जिनके काल-निर्णय के लिए आधार का अभाव है। इनकी सूची वर्णानुक्रम से दी जा रही है।

कवि	नीति-रचनाएँ
अत्ता कवि	नीति के फुटकर छन्द
अनाथ	सर्वसार भाषा उपदेश
उमादास	नवरत्न
उम्मरदान	मदिरा विरोधी तथा अन्य नीति विषयक फुटकर छन्द

कवि	नीति-रचनाएँ
कालू	कालू की साखी
किशन कवि	उपदेश वावनी
किसनिया	किसनिया का दूहा
केवलकृष्ण शर्मा	नीति पचीसी
क्षमा हस	वावनी
गोपाल	शिक्षा चातुर्य
चिम्मनसिंह	प्रश्नोत्तर नीति शतक
जनार्दन भट्ट	व्योहार निर्नय
त्रिलोकसिंह	राजनीति के दोहे
पार्वती	नीति के फुटकर छन्द
प्रतापसिंह	नीति मजरी
भड्डरी	खेती तथा शकुन के फुटकर छन्द
भीखजन	भीखजन वावनी के नीति के छन्द
लालचन्द	मूरख सोलही
विनयमत्ति	अन्योक्ति वावनी
वृन्दावनसिंह	विवेक लछन वेलि
सुखलाल	दस्तूर अमल
सुदर्शनशाह	सभासार
हित कवि	सभा प्रकाश

उपर्युक्त सूची पर दृष्टि दौडाने से स्पष्ट हो जाता है कि नीति-काव्य की सामग्री हिन्दी के आदि काल मे अधिक नही है। मुक्तक रूप मे केवल गोरखनाथ तथा योगचन्द्र के कुछ छन्द हैं तथा प्रबन्ध-काव्यो के अशरूप मे चन्द के पृथ्वीराजरासो, जगनिक के आल्हखण्ड तथा जैन कवि धर्मसूरि के 'जम्बूस्वामी रासा' के नीति अश। इनमे जगनिक के 'आल्हखण्ड' की कोई पुरानी प्रति उपलब्ध न होने से यह कहना कठिन है कि इसके नीति-छन्दो मे कितना अश आदि काल का है और कितना बाद का। चन्द के पृथ्वीराजरासो की स्थिति भी इससे बहुत भिन्न नही है। इसकी कुछ पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध हैं, पर अभी तक उनकी पूरी छान-बीन करके पाठ-विज्ञान के सिद्धान्तो पर पाठ-निर्णय नही हुआ है।[1] ऐसी स्थिति मे इसका ६१वाँ समय जो नीति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है, तथा अन्य भी कितने अशो मे आदिकाल की या चन्द की रचना

१ इधर डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसका वैज्ञानिक सम्पादन कर रहे हैं पर अभी तक कार्य पूरा नहीं हुआ है।

है, कहना कठिन है। फिर भी इनके मूल स्वर आदिकालीन हैं, इसमे सन्देह नहीं। हिन्दी का मध्ययुग (भक्तिकाल और रीतिकाल) नीति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न हैं। आधुनिक युग मे मध्ययुग से कम परन्तु आदिकाल से अधिक सामग्री है। इन दोनो ही युगो के, विशेषत पुराने कवियो मे कवीर, जायसी, तुलसी तथा विहारी आदि कुछ कवियो को छोडकर अधिकतर की रचनाओ के सुसम्पादित सस्करण नही प्रकाशित हुए हैं फिर भी इनमे अधिकाश की रचनाओ के विपय मे विशेष सन्देह की गु जायश नही है। जिनके सम्वन्ध मे सन्देह है वे घाघ, भड्डरी तथा सम्मन[1] हैं। इन तीनो ही के छन्दो के संग्रह प्रमुखत मौखिक आधार पर किये गये हैं, अत. इनकी रचनाओ की प्रामाणिकता के सम्वन्ध मे कुछ कहना कठिन है। इन तीनो मे भी 'घाघ' की समस्या और भी कठिन है। हिन्दी के विद्वान इन्हे अकवर के समकालीन, कन्नौज-निवासी हिन्दी का एक कवि मानते हैं पर दूसरी ओर आसामी के विद्वान इन्हें 'डाक' नाम से आसामी का 'लोकनीतिकार' मानते हैं। इनके छन्द आसामी मे 'डाकार वचन' नाम से प्रसिद्ध हैं।[2]

पर यह सव जो भी सामग्री हिन्दी मे उपलब्ध है हिन्दी के नीति-काव्य के अन्तर्गत तो आयेगी ही। सदिग्धता उनके रचयिता या कुछ अशो मे काल के सम्वन्ध में ही सम्भव है, उनके हिन्दी नीति-काव्य होने के सम्वन्ध मे नही। जहाँ तक घाघ के छन्दो का सम्वन्ध है वे लोक-परम्परा मे आते हैं और लोक-परम्परा मे किसी आसामी लोक कवि की रचनाओ का अनूदित होकर इस प्रकार उत्तरी भारत के कई प्रान्तो मे गाँव-गाँव और घर-घर प्रचलित हो जाना गले नही उतरता। ऐसी स्थिति मे उनके भी हिन्दी-क्षेत्र के ही किसी एक या एक से अधिक हिन्दी रचयिता की रचना होने की ही सम्भावना दिखाई पडती है। यो 'डाक' नाम से 'घाघ' आसामी लोक कवि माने जाते हैं पर आसाम के अतिरिक्त काश्मीर, गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिणी भारत, उडीसा और वगाल मे भी घाघ के छन्दो से मिलते-जुलते छन्द भाषा के अन्तर के साथ प्रचलित है।[3] इस ज्ञान और अभिव्यक्ति के ऐक्य और भाषाओ की विभिन्नता के रहस्य के सम्वन्ध मे निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है।

सामग्री का वर्गीकरण—उपर्युक्त पूर्ण सामग्री के मुख्यत दो वर्ग वनाए जा

---

१ सम्मन की एक ७२ छन्दो की पोथी छतरपुर में है पर उस पर लिपि-काल नही है।

2 *B. K Barua Assamese Literature, Bombay, 1941, p. 8 and 61-2.*

३ घाघ और भड्डरी सं० रामनरेश त्रिपाठी, सन् १६४६, पृ० ३।

सकते है। पहला वर्ग मुक्तक रूप (जैसे रहीम, वृ द, गिरिधर, दीनदयाल या भगवान-दीन आदि के नीति-छन्द) मे प्राप्त सामग्री का, और दूसरा प्रवन्ध-काव्यो[1] के अश रूप (पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस या रामचन्द्रिका आदि के नीति अश) मे प्राप्त का।

सस्कृत पचतत्र तथा पालि के जातको की औपदेशिक कथाओ की भाँति की हिन्दी मे भी कुछ पद्यबद्ध औपदेशिक कथाएँ लिखी गई हैं। प० रामनरेश त्रिपाठी की इस प्रकार की एक कथा आगे शैली पर विचार करते समय उद्धृत भी की गई है। इस प्रकार की रचनाओ के लिए एक तीसरा वर्ग भी बनाया जा सकता है, यद्यपि ऐसी रचनाएँ बहुत ही कम हुई हैं, और जो हुई भी है उनमे अधिकतर बालोपयोगी हैं।

मुक्तक रूप मे प्राप्त हिन्दी नीति-काव्य को निम्नाङ्कित तीन उप-वर्गो मे रखा जा सकता है —

(क) **नीति की फुटकर कविताएँ**—जैसे गग, बीरबल तथा टोडरमल आदि प्राचीन और रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार एव रामचरित उपाध्याय आदि नवीन कवियो के नीति के फुटकर छन्द।

(ख) **नीति की मुक्तक कविताओं के सग्रह**—इसके कई भेद किये जा सकते हैं —

१ सतसई रूप मे सग्रह, जैसे 'वृ द सतसई'।

२. सतसई से बडे सग्रह, जैसे महात्मा भगवानदीन के 'नीति के दोहे"।

३. सतसई से छोटे सग्रह, जैसे 'रहीम दोहावली', छत्रसाल की 'नीति मजरी', मीर का 'अन्योक्ति शतक' विनय यत्ति की अन्योक्ति बावनी', केवलकृष्ण शर्मा की 'नीति पचीसी' आदि।

४ किसी विशेष युग, समाज या वर्ग को दृष्टि मे रखकर किये गये सग्रह, जैसे गुप्त जी की 'भारत-भारती', शिवशकर मिश्र का 'सदाचार-सोपान', रामप्रसाद तिवारी का 'सुता-प्रबोध'।

(ग) **अन्य विषयक मुक्तक कविताओं के साथ सग्रहीत नीति कविताएँ**—इसके भी कई भेद किए जा सकते हैं—

१ **अन्य विषयक सतसइयों में संगृहीत नीति कविताएँ**—सतसइयो के

---

१ प्रबन्ध काव्यों के अश रूप में प्राप्त नीति सामग्री मुक्तक रूप में प्राप्त की तुलना में बहुत कम है।

विपय के ग्राधार पर इसके ग्रनेक उपभेद हो सकते हैं। प्राप्त सतसइयो के ग्राधार पर प्रधान निम्नाङ्कित है —

(ग्र) भक्ति विषयक सतसई मे सगृहीत, जैसे 'तुलसी सतसई' मे।

(ग्रा) शृङ्गार विषयक सतसई मे सगृहीत, जैसे विहारी, मतिराम या भूपति ग्रादि की सतसइयो मे।

(इ) वीर रस की सतसई मे सगृहीत, जैसे वियोगी 'हरि की वीर सतसई मे।

(ई) किसान विपयक सतसई मे सगृहीत, जैसे निर्भय की 'किसान सतसई' मे।

(उ) राष्ट्रीय उत्थान विषयक सतसई मे सगृहीत, जैसे महेशचन्द्र प्रसाद की 'स्वदेश सतसई' मे।

२ **ग्रन्य विषयक सतसइयों से वड़े सग्रहो में संगृहीत नीति कविताएं**— इसके भी उपभेद हो सकते है —

(ग्र) शृङ्गार विषयक वडे सग्रहो मे सगृहीत नीति कविताएँ, जैसे रसनिधि कृत 'रतन-हजारा' मे।

(ग्रा) भक्ति विषयक वडे संग्रहो की नीति कविताएँ, जैसे कुलदीप की 'सहस्र दोहावली' मे।

(इ) मिश्रित विषयो के वडे सग्रह मे सगृहीत नीति कविताएँ, जैसे पाटन के 'ज्ञान-सरोवर' मे।

३. **ग्रन्य विषयक सतसइयो से छोटे सग्रहो मे सगृहीत नीति कविताएं**— इसके भी उपभेद हो सकते हैं —

(ग्र) भक्ति ग्रोर ज्ञान विषयक छोटे सग्रहो मे सगृहीत नीति कविताएँ, जैसे वनारसीदास की 'ज्ञान वावनी' मे।

(ग्रा) मिश्रित विषयो के छोटे सग्रहो मे सगृहीत नीति कविताएँ, जैसे दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' या कवि किंकर के 'सुधासरोवर' मे।



आगे बढने वाला स्वादिष्ट उदुम्बर आदि फल प्राप्त कर लेता है। अविश्रान्त रूप से दिन-रात गतिशील रहने के कारण ही सूर्य विश्व-वद्य है, इसलिए जीवन मे दृढ निश्चय के साथ कदम बढाए चल।' शतपथ ब्राह्मण (२ १ ४ ६) के अनुसार दो बार मिताहार करने वाला ही पूरी आयु पाता है। शतपथ (३ २. ४ ६) मे ही यह भी कहा गया है कि 'स्त्रियाँ निरर्थक बातो की ओर जाती हैं। जो नाचता-गाता है वे उसी से प्रेम करने लगती हैं।' इसी प्रकार सत्य की प्रशसा, असत्य की निन्दा, स्वास्थ्य का ध्यान, उचित गुरु की खोज, अभिमान और अहकार से दूर रहने तथा धार्मिक आचरण रखने के सम्बन्ध मे भी बहुत से नीति-वचन मिलते हैं।

जातक तथा पच-तत्र आदि मे हमे उपदेशपरक कथाएँ मिलती है। इस प्रकार की नीति-कथाओ के बीज यद्यपि ऋग्वेद की आख्यायिकाओ मे भी खोजे जा सकते हैं और द्याद्विवेद ने अपनी नीति-मजरी मे इसका आधार भी उदाहरणार्थ लिया है, पर इसके विकसित और स्पष्ट रूप ब्राह्मण ग्रन्थो मे ही मिलते हैं, जिनका बाद के भारतीय साहित्य मे समुचित विकास हुआ है। शतपथ ब्राह्मण मे एक स्थान पर देवासुर-सग्राम का वर्णन है, जहाँ मक्कारी से असुर जीत जाते हैं, पर अन्त मे देवताओ की विजय होती है। यहाँ लेखक कहता है कि, इसी प्रकार जब मनुष्य सत्य का अनुसरण करता है तो आरम्भ मे उसे कष्ट हो सकता है पर अन्ततोगत्वा उसे सुख की प्राप्ति अवश्य होती है। पर, दूसरी ओर असत्य आचरण करने वाला आरम्भ मे सुखी और सफल हो सकता है पर अन्त मे उसे मुँह की खानी ही पडती है।[1]

इस प्रकार ब्राह्मणो में नीति का अश यद्यपि बहुत थोडी मात्रा मे है पर नीति-साहित्य की परम्परा की एक कडी के रूप मे उसके महत्वपूर्ण स्थान को भुलाया नही जा सकता।

उपनिषद वेदो के अन्तिम भाग हैं। यो तो इनकी सख्या २०० से ऊपर है, पर प्रधान १०८ हैं, और उनमे भी ईश, कठ, केन, प्रश्न, मु डक, माडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिहपूर्वतापनी, ये ११ ही प्रमुख हैं। उपनिषदो का प्रधान विषय अध्यात्म और दर्शन है पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए आचारिक उन्नति भी आवश्यक है, अत' इनमे यत्र-तत्र आचार और धर्मनीति—सत्यवादन, धर्माचरण, अतिथि एव गुरुजनो के प्रति आदरभाव, गुरु का महत्व, लोभ तथा अह-भाव का त्याग, सर्वात्मभाव, दान, दया, दम, शम तथा विवेक आदि—की बाते मिल जाती हैं।

प्रश्न उपनिषद मे कहा गया है कि जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है वह सब

---

१ विटरनित्स हिस्ट्री ऑव इडियन लिट्रेचर, भाग १, १९३७, पृ० २०७।

ओर से मूलसहित सूख जाता है ।[१] ईशावास्योपनिषद मे 'मा गृध कस्यस्विद्धनम्' कहकर दूसरे के धन की इच्छा न करने का उपदेश दिया गया है ।[२] श्वेताश्वतर उपनिषद मे कहा गया है कि जैसे तिल को पेरने से तेल और दधि को मथने से मक्खन पाया जाता है · · वैसे ही सत्य और तपस्या के द्वारा खोज करने पर अपनी आत्मा मे ही परमात्मा को पाया जाता है ।[३] तैत्तिरीय उपनिषद मे गुरु-गृह से प्रत्यावर्तन के समय शिष्य को माता-पिता तथा गुरु-सेवा, स्वाध्याय एवं सच बोलने के उपदेश दिये गये है ।[४] कठोपनिषद मे मन और बुद्धि के महत्व के सम्बन्ध मे कहा गया है कि तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम समझ ।[५] यहाँ मन और बुद्धि के उचित सहयोग से आत्मा को सतपथ पर ले जाने का सकेत है ।

आख्यायिकाओ द्वारा उपदेशात्मक निष्कर्ष निकालने की परम्परा का, जिसका ऋग्वेद सहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे उल्लेख हो चुका है, उपनिषदो मे भी कही-कही दर्शन हो जाता है । छान्दोग्य उपनिषद के बैल तथा चिडिया द्वारा सत्यकाम को उपदेश देने या कुत्तो द्वारा अपने लिए नेता खोजने की आख्यायिकाएँ कुछ इसी प्रकार की हैं ।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष, ये छ वेदाग हैं । नीति की दृष्टि से इनमे केवल कल्प का थोडा सा महत्व है । कल्पसूत्र के श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र दो भेद हैं । इनमे श्रौतसूत्र का सम्बन्ध तो यज्ञ-याग से है पर स्मार्त (जिसमे गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र दो भेद हैं) का हमारे दैनिक आचार और धर्म से सम्बन्ध है । चारो वर्णो के चारो आश्रमो मे कर्तव्य तथा रीति-रिवाज देने के अतिरिक्त विविध सस्कार एवं प्रजा तथा राजा के अधिकार और कर्तव्य आदि तथा कुछ व्यवहार की बातें इसमे विस्तार से वर्णित हैं ।

यहाँ कुछ नीतिपूर्ण सूत्रो के हिन्दी अनुवाद दिए जा रहे है ।[६] इनसे वेदाग के अन्तर्गत आने वाले सूत्रो के नीति-अश का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ।

जिस समय विहार-भूमि मे कोई कार्य हो रहा है उस समय उसे पीठ नही दिखानी चाहिए ।

---

१ प्रश्न० ६. १ ।

२ ईश० १ ।

३ वैदिक साहित्य, पृ० १८३ ।

४ तैत्तिरीय० १.२. १-३ ।

५ कठ० १. ३. ३ ।

६ वैदिक साहित्य, पृ० २०३–१६ ।

महाभारत मे नीति की बाते तीन ढङ्ग से कही गई हैं। कही-कही तो नी ग्रन्थो की भाँति सामान्य सूक्तियाँ हैं, जो प्रसङ्गवशात् आ गई है। कही-कही स के रूप मे नीतियाँ हैं। जैसे, एक स्थान पर समुद्र गगा से पूछता है कि तुम ल बड़े-बड़े पेडो को तो उखाड देती हो पर छोटी-छोटी घास ज्यो की त्यो रह जाती गगा उत्तर देती है कि वे पेड अभिमान से भरे सीधे खडे रहते है अत उखड जाते पर घासें प्रवाह के आगे विनीत होकर झुक जाती हैं अत नही उखडती।[1] तीस प्रकार की नीतियाँ जातको तथा पचतत्र की भाँति की नीति-कथाओ मे हैं। ये कथाएँ शान्ति तथा अनुशासन पर्व मे विशेष हैं, यद्यपि इनकी सख्या बहुत अधि नही है।

यहाँ उदाहरण के लिए महाभारत से दो नीति-श्लोक दिए जा रहे हैं

न हृष्यत्यात्मसमाने नावमानेन तप्यते।
गागो ह्रद इवाक्षोभ्यो य स पडित उच्यते।[2]

(पडित लोग अपना सम्मान होने पर कभी फूलकर लक्ष्यच्युत नही होते न कभी अपमान से कार्यच्युत होते हैं। जो गगाह्रद की भाँति व्याकुलता से ह होता है, वही पडित कहलाता है।)

धनमाहु परधर्मं धनै सर्व प्रतिष्ठितम्।
जीवति धनिनो लोके मृतायेत्वधना नरा।[3]

(धन तो सबसे बडा धर्म है क्योकि धन मे ही सब कुछ है। ससार मे धनवान ही जीवित है, जो निर्धन हैं उनको तो मरा हुआ समझो।)

सस्कृत के महाकाव्यो मे रामायण और महाभारत के अतिरिक्त घोष के 'बुद्ध-चरित्र' और 'सौन्दरानन्द', कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव', भारवि का 'किरातार्जुनीय', भट्टि का 'रावण-वध' (जिसे प्राय भट्टि-काव्य कहते हैं), माघ का 'शिशुपाल वध' तथा श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' आदि प्रमुख हैं। इन सभी मे यत्र-तत्र नीति की सूक्तियाँ हैं, यद्यपि उनका बाहुल्य नही है। यहाँ कालिदास और भारवि की दो सूक्तियाँ जो लोकोक्ति-रूप में प्रसिद्ध हो गई हैं, दी जा रही हैं

एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाकः

—कालिदास

---

१ विटरनित्स · हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० ४०७।
२ महा० ५ ३३ २६।
३ महा० ५ ७२. २३।

(जैसे चन्द्रमा की ज्योति मे उसका कलक छिप जाता है वैसे ही गुणो के समूह मे एक दोप भी छिप जाता है।)

हित मनोहारि च दुर्लभ वच

—भारवि

(ऐसा वचन दुर्लभ होता है जो सुन्दर तथा कल्याणप्रद दोनो हो।)

संस्कृत का स्मृति-साहित्य भी नीति की दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण है। स्मृतियो की सख्या १८ कही गई है पर इनमे अधिक प्रसिद्ध केवल तीन—मनु, याज्ञवल्क्य और नारद है। इन तीनो मे भी मनु और याज्ञवल्क्य अधिक लोकप्रिय है। स्मृतियो के वर्ण्य-विपय प्रधानत तीन हैं—(क) आचार, (ख) व्यवहार (कानून), (ग) प्रायश्चित। इनमे प्रथम अर्थात् आचार का ही नीति मे विशेप सम्वन्ध है। इसमे व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारो वर्णो तथा व्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास इन चारो आश्रमो के कर्तव्यो का वर्णन है। इस प्रकार आचार, आपसी व्यवहार तथा धर्म सम्वन्धी वहुत सी नीति की वाते इनमे है। साथ ही राजनीति और स्त्री-धर्म के भी सुन्दर निर्देश हैं, यद्यपि नीति-साहित्य की भाँति इनमे नीति को उदाहरणो द्वारा आकर्पक वनाने का प्रयास प्राय नही के वरावर है।

स्मृति ग्रन्थो मे सवसे प्रसिद्ध मनुस्मृति है। इस स्मृति के श्लोकों का प्रयोग नीति ग्रन्थो की सूक्तियो की भाँति ही वहुत दिनो से जनता में होता आया है। यहाँ के कुछ इस प्रकार के श्लोक देखे जा सकते हैं—

स्वभाव एप नारीणा नराणामिह दूपणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यति प्रमदासु विपश्चित ॥[1]

(अर्थात् पुरुपो को विचलित करना नारियो का स्वभाव है। इसलिए ज्ञानी प युवती स्त्रियो के सम्वन्ध मे कभी नही गाफिल होते।)

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया ॥[2]

(जिस कुल मे स्त्रियो का पूजन होता है उस पर देवता प्रसन्न होते हैं और ाँ स्त्रियो का अपमान होता है वहाँ सभी कर्म निष्फल होते है।)

वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।[3]

---

[1] मनु० २, २१३।
[2] मनु० ३, ५६।
[3] मनु० ७, १०६।

(राजा का कर्तव्य है कि बगुले की तरह अपने शत्रु का धन लेने की चिन्ता करता रहे, सिंह के समान बल करे, भेडिये की तरह समय पाकर शत्रु को मारे और समय पडने पर खरगोश की तरह निकल जाय ।)

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम् ॥[1]

(धैर्य, क्षमा, मन का दमन, चोरी से किसी की वस्तु न लेना, पवित्र इन्द्रियो का विषयो की ओर जाने से रोकना, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध ये दस धर्म लक्षण कहे गए हैं ।)

पुराण साहित्य भी नीति की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखता है । पुराणो पुराण और उपपुराण दो भेद हैं । पुराणो की सख्या १८ है, जिनमे ब्रह्म, पद्म, विष्ण शिव, भागवत, अग्नि, मार्कण्डेय, स्कन्द, गरुड तथा ब्रह्माड आदि प्रमुख हैं । उपपुरा की भी सख्या १८ है, जिनमे नरसिंह, कालिका, लिंग, कपिल तथा नारदीय आ प्रधान हैं । पुराणो के प्रमुख विषय सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर और वशानुचरित, पाँच हैं ।

पुराणो मे नीति-श्लोको की सख्या बहुत अधिक है । डॉ० कर्माकर ने अ 'पुरानिक वर्ड्स ऑव विज्डम'[2] नामक पुस्तक मे लगभग एक सहस्र ऐसे श्लोको एकत्र किया है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पुराणो के नीति-विषय ख पडित, सज्जन, नीच, धन, कृपण, भाग्य, सुख, दु ख, ससार, विद्या, धर्म, काल, सत जीवन, मन, उद्यम, चिन्ता, मित्र तथा शत्रु आदि हैं । नीति के प्रसिद्ध ग्रन्थ वृहस्प तथा शौनकीय नीतिसार पुराण (गरुड) के ही अश है ।

पुराणों के नीति-श्लोक स्मृतियो से मिलते-जुलते हैं । उनमे भी दृष्टान्तो द्वा नीतियो को पुष्ट करने का प्रयास बहुत कम है । यहाँ दो उदाहरण दिए जा रहे हैं ।

अधमा कलिमिच्छन्ति सधिमिच्छन्ति मध्यमा ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महता धनम् ॥[3]

(अधम व्यक्ति कलह चाहते हैं, मध्यम व्यक्ति सधि चाहते हैं तथा व्यक्ति मान चाहते हैं, मान ही सबसे बडा धन है ।)

---

१ मनु० ६, ९२ ।

२ डॉ० कर्माकर पुरानिक वर्ड्स ऑव विज्डम, बम्बई, १९४७ ।

३ वही, पृष्ठ २१ ।

जलौका केवलं रक्तमाददाना तपस्विनी ।
प्रमदा सर्वदा दत्ते चित्त वित्त वल सुखम् ।[1]

(जोक तो केवल रक्त लेती है पर स्त्री चित्त, धन, वल और सुख सभी ले लेती है। अर्थात स्त्री जोक से भी बुरी है।)

भागवत पुराण मे नीति प्रस्तुत करने की एक नवीन पद्धति दिखलाई पडती है। उसके १०वें स्कन्ध मे वर्षा तथा शरत् वर्णन मे प्रकृति-चित्रण के साथ नीति की बातें वर्णित हैं। प्राय, नीति-साहित्य मे नीति की बातो के प्रमाणस्वरूप या उन्हे उदाहृत करने के लिए अन्य तथ्य या घटनाएँ दी गई हैं, पर यहाँ वात उसके विरुद्ध है। प्रधान ध्येय तो है प्रकृति-चित्रण, पर उसके साथ उसे उदाहृत करने के लिए नीति-वचन लिए गए हैं। यहाँ वर्षा और शरत् मे एक-एक छन्द दिए जा रहे हैं

लोक वधुषु मेघेपु विद्युतश्चलसौहृदा ।
स्थैर्य न चक्रु कामिन्यः पुरुषेपु गुणिष्विव ।[2]

(यद्यपि बादल वडे लोकोपकारी हैं, फिर भी विजलियाँ उनमे स्थिर नही रहती, जैसे चपल अनुराग वाली कामिनी स्त्रियाँ गुणी पुरुषो के पास भी स्थिर भाव से नही रहती।)

गाधवारिचरास्तापमविन्दन्छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्र कृपणः कुटिम्व्यविजितेन्द्रिय ।[3]

(थोडे जल मे रहने वाले प्राणियो को शरत्कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से बडी पीडा होने लगी। जैसे अपनी इन्द्रियो के वश मे रहने वाले कृपण एव दरिद्र कुटुम्बी को तरह-तरह के ताप सताते ही रहते है।)

सस्कृत मे कथाएँ मोटे रूप से दो प्रकार की हैं। एक तो वे जिनका उद्देश्य मनोरजन मात्र है, जैसे गुणाढ्य की बृहत्कथा, तथा दूसरी वे जिनका उद्देश्य है राज तथा लोकनीति की शिक्षा देना, जैसे पंचतत्र। नीति-साहित्य का सम्वन्ध दूसरे प्रकार की कथाओ से है। इस प्रकार की कथाओ का संस्कृत मे प्राप्त प्रथम ग्रन्थ पचतत्र है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार की औपदेशिक कथाएँ लोक-कथाओ के रूप मे प्रचलित थी। आज भी लोक मे ऐसी कथाओ का प्रचलन है। उन लोक-कथाओ के ही आधार पर जातक की कथाओ का निर्माण हुआ है या यह भी सम्भव है कि जातक की वहुत सी कथाएँ पूर्णरूपेण लोक-कथाएँ रही हो। जातको के अतिरिक्त ऐसी कुछ कथाएँ

---

1. डॉ० कर्माकर : पुरानिक वर्ड्स ऑव विज्डम, वम्वई, १९४७, पृ० १।
2. भागवत, १०. २०. १७।
3. वही, १०. २०. ३८।

महाभारत मे भी मिलती हैं। ऐसा अनुमान लगता है कि जातको मे ही ऐसी कथाओ को प्रथम बार साहित्य में प्रतिष्ठित किया गया।[1] फिर महाभारत मे इन्हे स्थान मिला। महाभारत के इस प्रकार के अश पर जातको का प्रभाव पर्याप्त है।[2] आगे इस परम्परा मे पचतत्र मिलता है। कीथ का तो अनुमान है कि पंचतत्र का कोई मूल रूप अत्यन्त प्राचीन था और कई जातक कथाएँ उसी से प्रभावित हैं।[3] पर, दूसरी ओर राइजडेविड तथा वेनफी आदि कुछ अन्य लोगोका अनुमान इसके विरुद्ध है इनके अनुसार या तो पचतत्र जातको से प्रभावित है या जातक के ढग के किसी अन्य बौद्ध कथा-ग्रन्थ से। मेरा अपना अनुमान यही है कि जातक का कुछ अश इस दृष्टि से सबसे पुराना है और उसी को देखकर महाभारत के इस प्रकार के अश की ओर फिर इन दोनो को देखकर पचतत्र की रचना की गई है। आगे इस परम्परा मे सस्कृत मे एक भी नवीन ग्रन्थ नही लिखा गया है। पचतत्र के कई रूपान्तर अवश्य हुए जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध नारायण पण्डित का हितोपदेश है।

पचतत्र की रचना किसी विष्णु शर्मा ने एक राजा के पुत्रो को छ महीने में राजनीति और लोकनीति सिखाने के लिए की थी। इसमे कथाओ के द्वारा शिक्षा दी गई है। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि विश्व की अनेकानेक भाषाओ में इसके अनुवाद हो चुके हैं।

पचतत्र मे कथाएँ तो गद्य मे हैं पर कथाओं के आरम्भ, बीच या अन्त नीति की बातें श्लोक मे दी गई हैं। इसके प्रधान विषय मूर्खता, विद्वता, मैत्री, फूट गुण, चुगली, धन, दरिद्रता, परोपकार, सज्जन, दुर्जन, कृपण, दानी, अवसर, रहस्य शीघ्रता, स्त्री, शत्रु, राजा, जाति, निन्दा, बडाई एव अन्य व्यावहारिक बातें हैं।

उदाहरण के लिए यहाँ पचतत्र की एक कथा का सक्षेप और उससे निकलने वाली नीति की बात दी जा रही है

'एक बार कुछ बढई कही लकडी चीर रहे थे। दोपहर में वे आधे चीरे हुए पे मे कीली लगाकर खाना खाने चले गये। इस बीच कुछ बन्दर वहाँ आ पहुँचे। उनमे ए उस आधे चीरे पेड पर बैठकर कीली को निकालने लगा। कीली निकलते ही दर के बीच मे बन्दर का अडकोष दब गया और उसकी मृत्यु हो गई। इस कथा के सा नीति-श्लोक है—

१ पीछे ऋग्वेद सहिता, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में उपदेशपूर्ण आख्यायिकाओं मिलने का सकेत किया जा चुका है, पर वहाँ ये कथाएँ उतने विकसित में नीति-कथा नहीं हैं जितनी कि महाभारत, जातक तथा पचतत्र की कहानियां हैं
२ विटरनित्स · हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० ४०६।
३ कीथ हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिट्रेचर, पृ० २४६।

अव्यापारेषु व्यापार यो नर कर्तुमिच्छति ।
स एवं निधनं याति कीलोत्पाटीव वानर. ।[१]

(जो पुरुष विना काम के काम करना चाहता है वह उसी प्रकार नष्टावस्था को प्राप्त होता है जिस प्रकार कीली को निकाल कर वन्दर ।)

मनोरंजन कथाओ की श्रेणी मे आने वाली सस्कृत की वैतालपचविंशति, सिंहासन द्वात्रिंशिका तथा शुक्रसप्तति आदि मे भी कुछ उपदेशात्मक सामग्री मिल जाती है ।

वौद्ध जातको की भाँति जैनो ने भी जातक लिखे हैं जिनकी भाषा सस्कृत है। इन जैन कथाओ मे वौद्ध जातको की तुलना मे सामान्य नीति प्राय नही के वरावर हैं। इन कथाओ का उद्देश्य केवल जैन धर्म सम्वन्धी वातो की शिक्षा देना है। इनमे सवसे प्रसिद्ध ग्रन्थ हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्वन है ।

सस्कृत मे स्फुट काव्य प्रमुखत तीन प्रकार के मिलते हैं। एक तो भक्ति सम्वन्धी जैसे सूर्य शतक, चण्डी शतक तथा स्तोत्रावलि आदि, दूसरे शृङ्गार सम्वन्धी जैसे शृङ्गार शतक, अमरुक शतक या आर्यासप्तशती आदि, और तीसरे नीति सम्वन्धी जैसे चाणक्य नीति एव नीति-शतक आदि ।

सस्कृत के नीति सम्वन्धी स्फुट काव्य-ग्रन्थो की सख्या वहुत वडी है, जिनमे कुछ प्रधान ग्रन्थ निम्न है :—

शुक्रनीति	शुक्राचार्य
चाणक्य सूत्र	चाणक्य
चाणक्य नीति	चाणक्य[२]
नीति-शतक	भर्तृहरि[३]
लोकोक्ति मुक्तावली	दक्षिणामूर्ति
उपदेश-शतक	गुमानि

---

१ पचतन्त्र, पृ० १७ ।

२ चाणक्य नीति की छोटी-वड़ी प्रतियाँ चाणक्य नीति, चाणक्य राजनीति, चाणक्य नीति-दर्पण, वृद्ध चाणक्य तथा लघु चाणक्य आदि प्राय १७ रूपो में मिलती हैं ।

—दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिट्रेचर, भाग १, १९४७, कलकत्ता ।

चाणक्य नीति वास्तव में चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य द्वारा रचित न होकर लोक-प्रचलित नीति-श्लोको का संग्रह है ।

३ भर्तृहरि के नीति-शतक के सम्वन्ध मे भी लोगो का यही अनुमान है ।

सूक्ति मुक्तावली	सोम प्रभाचार्य
सभा रजन	नीलकण्ठ
सूक्ति सग्रह	कवि राक्षस
नीति धनदम्	धनदराज
नीतिमजरी	द्याद्विवेद
नीति वाक्यामृत	सोमदेव
नीति द्विषष्टिका	सुन्दर पड्या
नीतिमाला	सदानन्द
नीतिमजरी	शम्भुराज
नीति-शतक	वेंकटराय
नीतिसार	घटकर्पर
नीति-शतक	सुन्दराचार्य
नीति चन्द्रिका	दयानन्द
नीति रत्न	वररुचि
नीति प्रदीप	बैताल भट्ट
सेव्य सेवकोपदेश	क्षेमेन्द्र
दृष्टान्त शतक	कुसुमदेव
नीति मयूख	नीलकण्ठ
नीतिसार	कामदक
नीति कमलाकर	कमलाकर
नीति कल्पतरु	क्षेमेन्द्र
नीति चिन्तामणि	वाचस्पति मिश्र
नीति प्रकाश	कुलमुनि
नीति प्रकाशिका	वैशपायन
नीति माला	नारायण
नीति रत्नाकर	कृष्ण बृहत्पण्डित महापात्र
राजनीति रत्नाकर	चण्डेश्वर
नीतिलता	क्षेमेन्द्र
नीतिविलास	भ्रजराज
नीतिविवेक	करुणाशकर
नीतिसग्रह	मधुसूदन
नीति कुसुमावलि	भ्रप्पा वाजपेयी

इन नीति-ग्रन्थो मे चाणक्यसूत्र सूत्र-शैली मे है तथा शेप सामान्य ग्रन्थो की भाँति श्लोक मे हैं। विषय की दृष्टि से शुक्र तथा कामदक आदि के ग्रन्थो का झुकाव तो विशेषत राजनीति की ओर है, पर शेष का प्रायः लोक और व्यवहार नीति की ओर। धर्म और आचार नीति की वाते भी कुछ मे हैं, यद्यपि कम। यदि इसके वर्ण्य विषय की एक सामान्य सूची बनाना चाहे तो भाग्य, समय, सज्जन, दुर्जन, धन, सत्य, वचन, दया, विद्या, मित्र, शत्रु, राजा, दान, माँगना, प्रण, मूर्ख, विद्वान, प्रेम, निर्बल, सन्तोष, सग, नम्रता, कजूस, स्त्री, जवानी, धैर्य, सुख, दुख, पिता, सन्तान, माता, स्वार्थ, स्वामी, सेवक तथा मन आदि को सम्मिलित कर सकते हैं।

इन नीति-ग्रन्थो मे नीति की बातें सीधे कही गई हैं, पर इनके अतिरिक्त कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनमे बातें अप्रत्यक्ष ढग से कही गई हैं। ऐसी कविता को अन्योक्ति या अन्योपदेश कहते हैं। इनमे बातें किसी अन्य से कही जाती हैं और घटित होती हैं किसी अन्य पर। यहाँ सस्कृत के प्रमुख अन्योक्ति ग्रन्थो की एक सक्षिप्त सूची दी जा रही है

अन्योक्ति शतक	वीरेश्वर
अन्योक्ति मुक्तलता शतक	शम्भु
अन्योपदेश शतक	मधुसूदन
अन्योक्तिमाला	लक्ष्मी नरसिंह
अन्योक्ति शतक	सोमनाथ
अन्योक्ति कण्ठाभरण	चन्द्रचूड
अन्योक्ति शतक	भट्ट वीरेश्वर
अन्योक्ति शतक	विजयगणि
अन्योक्ति शतक	नीलकण्ठ
अन्योक्ति शतक	जगन्नाथ
अन्योक्ति शतक	गणपति
अन्योक्ति शतक	घनश्याम

इनमे केला, आम, कटहल, आदि वृक्षो, चातक, मोर, बाज आदि पक्षियो, मृग, कुत्ता, गीदड, सिंह, गाय आदि पशुओ, पृथ्वी, बादल, सरिता, पवन, सूर्य, चन्द्र आदि प्रकृति की वस्तुओ तथा तितली, झिल्ली, भृ ग, आदि कीट-पतगो एव इसी प्रकार अन्य बहुतो को सम्बोधित करके नीति की बातें कही गई हैं, जो विभिन्न श्रेणी और प्रकार के मनुष्यो पर घटित होती हैं।

इसी वर्ग मे एक तीसरी प्रकार की संस्कृत पुस्तके भी रक्खी जा सकती है, जिन्हे सुभाषित कहते हैं। इनमे अनेकानेक कवियो की सूक्तियाँ विपयो के अनुसार

विभाजित रहती हैं। सस्कृत मे कवीन्द्र-वचन-समुच्चय, सुभाषित कौस्तुभ, सुभाषित त्रिशती, सुभाषित रत्नाकर, सुभाषित रत्न भाडागार, सदुक्तिकर्णामृत (श्रीधरदास), सुभाषितावली (वल्लभदेव), हरिहर सुभाषित (हरिहर), सुभाषित रत्न सन्दोह (अमितगति), तथा सुभाषितावली (श्रीवर), आदि इस श्रेणी के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके विषयो मे नीति-विषयो की ही प्रधानता है, यद्यपि किसी-किसी मे कुछ अन्य विषय भी हैं।

सस्कृत के मुक्तक काव्य वर्ग के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं। सस्कृत के नीति-ग्रन्थो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ चाणक्य नीति और भर्तृहरि का नीति-शतक हैं, अत दो उदाहरण उनसे लिये गये हैं और एक अन्योक्ति है। सूत्र शैली के उदाहरण के लिए एक सूत्र चाणक्य सूत्र से लिया गया है।

अज्ञ सुखमाराध्य सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञ ।
ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्मापि त नर न रजयति ॥

(अज्ञानी जन सहज मे समझाया जा सकता है और ज्ञानवान पुरुष उससे भी अधिक सरलता से समझाया जा सकता है, किन्तु जो अपने को बुद्धिमान या ज्ञानवान समझ बैठा है उसको ब्रह्मा भी नही समझा सकते।)

धर्मार्थ काम मोक्षाणा यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

(धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमे से जिसके पास एक भी न हो उसका जीवन बकरी के गले के स्तन की भाँति बेकार है।)

पत्र मुग्धतर फल सुमधुर सौरभ्यमभ्युन्नत ।
चचत्काचनजित्वर पुनरहो त्वत्केसर सुन्दरम् ॥
लावण्य पुनरुत्तम किमपर किंतु स्फुरत्कटक-
व्यग्र नालमिद सरोरुह परं तेनातिदूयामहे ॥

(हे कमल! तुम्हारा पत्र सुन्दर, फल सुमधुर, सौरभ उच्चकोटि का, केसर सोने सा चमकता सब के मन को हरने वाला, तुम्हारे सौन्दर्य का पूछना ही क्या, पर तुम्हारे नाल मे काटे हैं, हम इसी से सन्तप्त हैं। अर्थात् किसी चीज मे बहुत से गुण हो पर एक अवगुण के कारण भी लोग उसकी निन्दा करते हैं या उसे बुरा मानते हैं।)

अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्तव्यम् याद्दच्छिकत्वात् ।
कृमिरपि रूपान्तराणि करोति ।

(अज्ञानी द्वारा किए गए कार्य को बहुत नही मानना चाहिए क्योकि कीडा भी अपनी इच्छा से अनेक रूप-रूपान्तर बना देता है।)

इस प्रकार संस्कृत साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न और बहुमुखी है। धर्म, आचार, व्यवहार तथा राजनीति आदि नीति की सभी प्रमुख दिशाओ मे उसकी महत्वपूर्ण देन है।

विकास की दृष्टि से संस्कृत नीति साहित्य मे पॉच सीढियाँ या अवस्थाएँ दिखाई देती हैं.

१. **निर्देश**—प्राचीनतम नीति वचन निर्देश रूप मे हैं। वे सामान्य नीति के रूप मे न कहे जाकर किसी विशेष व्यक्ति के लिए कहे गए हैं।

२. **उपदेश**—आगे चलकर धीरे-धीरे सामान्य नीति कहने की परम्परा चली और तब से नीतिकार व्यष्टि के स्थान पर समष्टि को महत्व देने लगे। समष्टि के लिए कहे गये ये नीति-वचन उपदेश कहे जा सकते हैं।

३ **सूक्ति**—तीसरी अस्वथा सूक्ति की है। सूक्तियो मे उपदेश प्रभविष्णुता तथा आकर्षण के लिए उदाहरणो के साथ चुभती हुई सुन्दर शैली मे रखे गए। इनमे थोडे स्थान मे अधिक कहने या सागर को गागर मे भरने का भी प्रयास है।

४. **अन्योक्ति**—चौथी अवस्था अन्योक्ति की है। इसमे भी उपदेश ही रहता है, पर उपदेश जिसको लक्ष्य करके दिया जाता है उसका नाम न लेकर किसी अन्य को उसका प्रतीक मानकर उसके प्रति कहा जाता है। इस रूप के जन्म मे मूल भावना यह थी कि जिसे उपदेश दिया जाय उसे बुरा न लगे।

५ **औपदेशिक कथा**—अन्तिम अवस्था औपदेशिक कथाओ की है। यह नीति-कथन का सुन्दरतम ढंग है। सूक्तियाँ इसमे कथा के निष्कर्ष-स्वरूप होती हैं, अत उनकी शक्ति बढ जाती है, साथ ही घटना या कथा से सम्बद्ध होने के कारण वे बुद्धि-विलास से उत्पन्न न ज्ञात होकर प्रतिदिन के जीवन की ज्ञात होती हैं।

(ख) पालि साहित्य मे नीति—

पालि साहित्य को मोटे रूप से दो भागो मे बाँटा जाता है—

१. पिटक साहित्य

२. अनुपिटक साहित्य

पिटक साहित्य का प्रणयन और विकास भगवान बुद्ध के निर्वाण-काल से पहली शताब्दी ईसवी पूर्व तक होता रहा है तथा अनुपिटक साहित्य का उसके बाद से आधुनिक काल तक।

पिटक साहित्य तीन भागो मे विभक्त है—

१. सुत्त पिटक

२. विनय पिटक

३. अभिधम्म पिटक

सुत्त पिटक का प्रधान विषय बौद्ध धर्म और उसके सिद्धान्तो का परिचय देना है। इसमे दीघ, मज्झिम, सयुक्त, अगुत्तर और खुद्दक नाम के चार निकाय या विभाग हैं। नीति की दृष्टि से निन्दा और स्तुति मे समान रहने का उपदेश[1] सन्तोष, शील तथा इन्द्रिय-सयम का अभ्यास[2], सच्चे ब्राह्मण की परिभाषा[3], आचार-विचार की महत्ता[4], ३२ महापुरुष-लक्षण[5], पाप के स्थान, मित्र-अमित्र की पहचान[6], चित्त निर्मल होने का लाभ[7], नर-देह की असारता[8], सम्पूर्ण दुखो का मूल प्रेम[9], क्रोध-त्याग, क्षमा, तथा सत्सगति[10], तथा एक धर्म, दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के बल, तीन प्रकार के दुष्कृत्य, चार सत्य क्या हैं आदि[11] अनेकानेक प्रकार की सामग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। इसमे कुछ उपदेशपरक कथाएं भी हैं। पर, सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय के 'धम्मपद' और 'जातक' भाग जिन पर यहाँ विस्तार से विचार किया जा रहा है, नीति की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

धम्मपद—

धम्मपद को बौद्ध धर्म की गीता कहा गया है। यह बौद्ध धर्म का सबसे अधिक लोकप्रिय तथा प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमे कुल ४२३ गाथाएँ हैं जो २६ वर्गो मे बँटी हैं। एक वर्ग मे एक ही विषय की प्राय गाथाएं है। इसके वर्ग ठीक उसी प्रकार के हैं जैसे सन्त साहित्य के 'अङ्ग' या सुभाषितो के 'वर्ग'।

नीति की दृष्टि से धम्मपद बहुत सम्पन्न है। श्री भरतसिह उपाध्याय ने उसके विषय मे ठीक ही कहा है कि उसमे नीति के वे सभी आदर्श सगृहीत हैं जो भारतीय सस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति हैं।[12] इस दृष्टि से उसकी बहुत सी गाथाएँ

---

१ दीघ १/१
२ दीघ १/२
३ दीघ १/४
४ दीघ १/८
५ दीघ २/७
६ दीघ ३/८
७ मज्झिम १
८ मज्झिम ३
९ मज्झिम ९
१० सयुक्त १
११ अगुत्तर
१२ पालि साहित्य का इतिहास, प्रथम सस्करण, पृ० २२०।

उपनिषद्, महाभारत, गीता तथा स्मृति ग्रन्थो के श्लोको से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। डॉ० लाहा ने ऐसे बहुत से उद्धरण अपने पालि इतिहास मे दिए है।[1]

धम्मपद की गाथाओ मे प्रमुख नीति-विषय पण्डित-लक्षण, काल, क्षमा, शान्ति, अक्रोध, अवैर, कजूसी, सन्तोष, सत्सग, प्रेम, तृष्णा, बहुत बोलना, चचलता, वाणी, मन तथा शरीर, दूसरो का दोप देखना, स्त्री, सयम, निन्दा तथा मित्र आदि हैं। ये बाते कोरे उपदेश के रूप मे न कही जाकर बडे सुन्दर काव्यात्मक ढङ्ग से कही गई हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिए जा रहे है—

भगवान बुद्ध ने चचलता तीन प्रकार की बतलाई है—मन की, वाणी की, तथा शरीर की। तीनो ही चंचलताएँ बुरी हैं। एक गाथा है—

अयसाव मल समुट्ठित तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अति धोन चारिनं सककम्मानि नयनन्ति दुग्गतिं।[2]

(जिस प्रकार लोहे से उत्पन्न मोर्चा उस लोहे ही को खा जाता है उसी प्रकार अति चचल मनुष्य की चचलता उसकी दुर्दशा कर डालती है।)

इसी प्रकार पाप के सम्बन्ध मे एक गाथा है—

नहि पाप कत कम्म सज्जु खीरं व मुच्चति।
डहन्त वालमन्वेति भस्मच्छन्नोव पावको॥[3]

(पाप कर्म ताजे दूध की भाँति तुरन्त विकार नहीं लाता। वह भस्म से ढँकी आग की तरह जलता हुआ मूर्ख आदमी का पीछा करता है।)

मूर्खो के सम्बन्ध मे भगवान बुद्ध ने बडी सुन्दर बात कही है—

यो बालो मञ्ञती बाल्य पण्डितो वापि तेन से।
बालो च पण्डित मानी, स वे बालो ति वुच्चति॥[4]

(यदि मूर्ख आदमी अपने को मूर्ख समझे तो उतने अश मे तो वह बुद्धिमान है, असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए भी अपने आप को बुद्धिमान समझता है।)

धम्मपद की कुछ नीतियाँ तो बहुत ही व्यावहारिक है। प्राय धर्म-ग्रन्थो मे परोपकार की प्रशसा की गई है, पर, धम्मपद विश्व का सम्भवत. अकेला धर्म-ग्रन्थ है जिसमे परार्थ के लिए आत्मार्थ न छोड़ने की शिक्षा दी गई है :

---

१ हिस्ट्री ऑव पालि लिट्रेचर, प्रथम संस्करण, जिल्द १, पृ० २००-२१४।

२ धम्मपद २४०।

३ धम्मपद ७१।

४ धम्मपद ६३।

अत्तदत्थ परत्थेन बहुनापि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसु तो सिया।

(परोपकारार्थ आत्मार्थ को बहुत न छोडे। आत्मार्थ को जानकर सदर्थ मे लगे।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि धम्मपद का नीति की दृष्टि से बहुत उच्च स्थान है।

जातक—

जातक नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ भगवान बुद्ध की पूर्व-जन्म की कथाओ का सग्रह है। इसकी कथाओ को जातक कथा कहने का आधार है 'जातक' का अर्थ 'जन्म सम्बन्धी' होना। परम्परा के अनुसार जातक कथाओ की सख्या ५५० कही जाती है, यद्यपि इस सम्बन्ध मे बहुत विवाद है। जातक कथाओ के उपलब्ध रूप मे ५४७ या ५४८ कथाएँ मिलती हैं। विद्वानो का विचार है कि मूलत ये कथाएँ लोक-कथाएँ हैं, जिन्हे बुद्ध धर्म और उसके उपदेशो के अनुरूप रूप प्रदान कर दिया गया है। सस्कृत के कथा-साहित्य पर जातको का प्रभाव है, विशेषत महाभारत तथा पच-तन्त्र आदि पर तो यह प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है।

जातक कथाओ को विंटरनित्स ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास मे मुख्यत सात भागो मे बाँटा है।[1] इनमे एक भाग व्यावहारिक नीति सम्बन्धी कथाओ का है। सच पूछा जाय तो कुछ अपवादो को छोडकर जातक की प्राय सभी कथाएँ व्यावहारिक उपदेश, धर्म और नीति से भरी हैं। किसी भी नीति या उपदेश के लिए एक कथा ली गई है और उस कथा के द्वारा परिणामस्वरूप उक्त उपदेश दिया गया है। अन्त मे या बीच मे गाथाओ द्वारा उक्त कथा के सार को छन्द-बद्ध किया गया है। इस प्रकार पच-तन्त्र की भाँति ही जातक भी कथापूर्ण नीति ग्रन्थ है। उदाहरण के लिए 'रोहिणी जातक' लिया जा सकता है। इस जातक मे रोहिणी नामक दासी की कथा है। रोहिणी की माँ एक बार सोई थी और उसे मक्खियाँ काट रही थी। माँ ने पुत्री से मक्खियाँ हटाने को कहा। पुत्री ने मूसल उठाकर मक्खियो को इतनी जोर से मारा कि उसकी माँ मर गई। यह देख रोहिणी रोने लगी। इस कथा के बाद गाथा है—

सेय्यो अमित्तो मेधावी यञ्चे बाला नु कपको।
पस्स रोहिणिक जम्मि मातर हन्तवान सोचती।[2]

---

१ हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, जिल्द २, पृ० १२५।
२ जातक, १, पृ० ३२३-२५।

(मूर्ख दयालु मित्र की अपेक्षा बुद्धिमान शत्रु अच्छा है। मूर्ख रोहिणी को देखो, माता को मार कर अब सोचती है।)

आज की लोकोक्ति 'नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा है' भी इसी आशय की है।

जातक की कथाओ मे व्यक्त नीतियो को एकत्र किया जाय तो यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि व्यवहार और नीति विषयक जितनी भी बातें सफल जीवन के लिए अपेक्षित हैं, प्राय सभी वहाँ मिल जायेंगी। इस दृष्टि से जातक कथाओ को भारतीय लोक एवं व्यवहार नीति का विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

नीति की दृष्टि से जातको के स्वरूप और विस्तार का सिंहावलोकन करने के लिए उसके विषयो की एक सक्षिप्त सूची यहाँ दी जा रही है। जातक की नीति-कथाओ के प्रधान विषय सत्पुरुष तथा साधु की परिभाषा, स्त्रियो के प्रकार, स्त्रियाँ सामान्यत बुराई की खानि होती है, स्त्रियो का भेद जाना नही जा सकता, पति स्त्री के लिए सर्वस्व है, अपने को जीतने वाला सबसे बडा होता है, अवसर देखकर कार्य करे, कृतघ्नता बुरी है, चंचलता बुरी है, अच्छी चीज की भी अति बुरी है, वैरी के साथ न रहे, लोभ बुरा है, वाणी मधुर और धीमी अच्छी है, सन्तोष अच्छा है, बुरे से मैत्री न करे, जो जैसा व्यवहार करे उसके साथ वैसा ही करे, सफल गृहस्थ कौन है, बुरे को दण्ड दे, बहुत खाना बुरा है, एकता मे बडी शक्ति है, भाग्य का लिखा नही जाता, शील का बडा महत्व है, बडो का आदर करे तथा उनकी आज्ञा माने, धैर्य, दया तथा क्षमा अपनावे, आशा दुख की जड है, राजा को कार्य विचारपूर्वक करना चाहिए, राजा जैसा होगा प्रजा भी वैसी ही होगी, क्रोध न करे, दिन सदा एक से नही रहते, दूसरे के छिद्र देखना आसान है पर अपना देखना कठिन तथा बुरे की सगति न करे, आदि है।

कहना न होगा कि इसमे राज, लोक-व्यवहार तथा धर्म सभी प्रकार की प्रमुख नीतियो का समावेश है। निश्चय ही विश्व के किसी एक ग्रन्थ मे नीति की इतनी अधिक बातें नही मिल सकती।

यहाँ उदाहरण के लिए जातक की कुछ नीति-गाथाएँ दी जा रही है—

प्रत्येक कार्य पर्याप्त सोच-विचार कर धीरे-धीरे करना चाहिए। 'सिगाल जातक' मे एक गाथा है—

असमोक्खितकम्मन्त तुरताभि निपातिन।
सानि कम्मानि तप्पेन्ति उण्ह वज्फोहित मुखे॥[1]

---

१ जातक १, पृ० १४७।

धर्मदास गणि का "उपदेश माला", महेश्वर सूरि का "ज्ञान पचमी कथा", जयसिंह सूरि का "धर्मोपदेश माला विवरण" एव जिनेश्वर सूरि के "कथा कोप प्रकरण" का है। ये ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित हैं। इनमे उपदेशपरक गाथाओ को स्पष्ट करने के लिए कथाएँ हैं। पालि की जातक कथाओ की ही भाँति ये भी हैं, यद्यपि इनमे जातको की भाँति लोक-नीति नही है। इनका प्रधान विपय जैन धर्म सम्बन्धी है। उदाहरणार्थ "कथा कोप प्रकरण" को ले। इसमे प्रथम ७ कथाएँ जिनेन्द्र देव की पूजा विपयक, ८वी जिनेन्द्र देव के गुणगान के फल विपयक, ९वी साधु विपयक, १०वी से १६वी तक दान के फल विषयक तथा दो कथाएँ साधुनिंदा के फल विषयक हैं।

जैन प्राकृत साहित्य में ही विमल सूरि का "पउमचरिय", हरिभद्र का "समरा-इच्च कहा" तथा धनेश्वर मुनि का "सुरसुन्दरी चरिय" आदि प्रवन्ध-काव्य भी हैं, जिनमे हिन्दी के रामचरित मानस जैसे ग्रन्थों को भाँति यत्र-तत्र नीति के छन्द हैं। श्री वी० एम० शाह ने अपने प्राकृत सुभाषित सग्रह मे इन सभी से नीति छन्दों को एकत्र किया है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

साहित्यिक प्राकृत के साहित्य का नीति की दृष्टि से जैन प्राकृत की अपेक्षा अधिक महत्व है। इस वर्ग मे मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनो प्रकार के ग्रन्थ हैं। मुक्तको मे अब तक केवल दो ग्रन्थ मिले हैं—(१) गाहा सत्तसई, और (२) वज्जा-लग्ग।

"गाहा सत्तसई" का अधिक प्रचलित नाम "गाथा सप्तशती" है। मुक्तक काव्य-परम्परा मे भारतीय साहित्य मे इस सप्तशती का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। इसी के अनुकरण पर सस्कृत तथा हिन्दी की अनेकानेक सतसइयाँ बनी।

"गाहा सत्तसई" किसी एक कवि की कृति न होकर एक सकलन ग्रन्थ है। इसमे कुल ७०० प्राकृत गाथाएँ हैं, जो उस समय प्रचलित बहुत सी गाथाओ मे से चुनकर सगृहीत की गई हैं। इसके सग्रहकर्ता हाल या सातवाहन हैं। "गाहा सत्तसई" के रचना-काल के विषय मे बडा मतभेद है। मोटे रूप मे इसे ३०० ई० से ७०० ई० के बीच मे माना जा सकता है।

"गाहा सत्तसई" की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। बिहारी की सतसई की भाँति इसमे भी शृङ्गार की प्रधानता है पर भक्ति, प्रकृति-चित्रण तथा नीति आदि अन्य विपय भी हैं। इसमें नीति की गाथाओ की सख्या बहुत अधिक तो नही है, पर जो हैं बडी ही सुन्दर है। "गाहा सत्तसई" के प्रधान नीति-विषय सज्जन, दुर्जन, कुलीन, चुगुला, टेढे और सीधे का सम्बन्ध तथा कृपण आदि हैं। इसमे कोई भी बात सीधे उपदेशात्मक ढङ्ग से न कही जाकर उदाहरणो के साथ सूक्त्यात्मक ढङ्ग से कही गई है। नीच या अकुलीन के विपय मे एक गाथा है.

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअण मुहे जाव ।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ ।[1]

(अकुलीन या नीच व्यक्ति मृदग की भाँति दोमुँहा होता है । जब तक मुख मे भोजन रहता है मधुर बोलता है और नही तो अमधुर या रसहीन ।)

यहाँ मृदङ्ग का उदाहरण कितना सटीक है । जब तक मृदङ्ग पर आटा लगाया रहता है, उससे मधुर ध्वनि निकलती है और उस आटे के न रहने पर अमधुर और बेसुरी ।

इसी प्रकार एक गाथा कुटिल और सरल के सम्बन्ध के विषय मे है :

चावो सहाव सरलं विच्छिवइ सर गुणम्मि वि पडन्तम् ।
वकस्य उज्जुअस्स अ सम्बन्धो किं चिर होइ ॥[2]

(अर्थात् टेढे और सीधे का सम्बन्ध स्थायी नही होता । धनुष टेढा है इसी कारण तीर उस पर आते ही फेंक दिया जाता है ।)

दूसरा प्राकृत मुक्तक ग्रन्थ "वज्जालग्ग" "गाहा सत्तसई" की अपेक्षा कम प्रसिद्ध होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नही है । इसके अन्य नाम पद्यालय, वज्जालय तथा विज्जाहल आदि भी हैं । "वज्जालग्ग" भी एक संग्रह-ग्रन्थ है । इसका सग्रह जयवल्लभ ने किया था, जिनका समय विद्वानो ने चौदहवी सदी ई० के कुछ पूर्व माना है । "गाहा सत्तसई" मे और इसमे प्रधान अन्तर यह है कि इसमे गाथाएँ वज्जाओ या वर्गो मे विभक्त हैं । 'वज्जालग्ग" का भी प्रधान विषय शृङ्गार है पर नीति आदि अन्य विषयो की गाथाएँ इसमे भी हैं । एक उदाहरण देखा जा सकता है —

दिढ लोह सकलाण अन्नण वि विविह पास बधाणं ।
ताण चिय अहिययर वायावध कुलीणम्य ॥[3]

(दृढ लोहे की शृ खला तथा अन्य भी बहुत से बन्धन है, पर कुलीन के लिए वचन का बन्धन सबसे बडा है ।)

प्रबन्धात्मक ग्रन्थो मे प्रवर सेन का "रावणवहो" तथा वाक्पतिराज का "गउडवहो" प्रधान है, जिनमे रामचरितमानस की भाँति नीति के छन्द यत्र-तत्र मिलते हैं ।

श्री वी० एम० शाह ने प्राकृत के मुक्तक और प्रबन्ध सभी प्रकार के प्रायः

---

१ गाथा० ३. ५३ ।

२ गाथा० ५. २४ ।

३ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल : प्राकृत विमर्श, लखनऊ, स० २००९, पृ० ६ ।

२० ग्रन्थों से नीति के छन्दो को छाँट कर प्राकृत सुभाषित सग्रह[1] नाम से प्रकाशित किया है। निश्चय ही प्राकृत साहित्य मे नीति अश के लिए यह एकमात्र प्रतिनिधि सग्रह है। इस सग्रह के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृत के नीति छन्दो के प्रधान विषय सज्जन, दुर्जन, धन, दरिद्रता, नारी, शील, कर्म, दान, अहिंसा, वेश्या, काव्य, ससार, उपदेश, चुगला, कृपण, क्रोध, मूर्ख, समय तथा प्रेम आदि हैं। सज्जन के विषय मे इसका पहला छन्द है—

अवयारपरे वि परे कुणति उवयारमुत्तमा नूण।
सुरहेइ चन्दणदुमो परसुमुख छिज्जमाणो वि ॥[2]

(सज्जन उनकी भी भलाई करते हैं, जो उनकी बुराई करते हैं। चन्दन का पेड यद्यपि कुल्हाडी से काटा जाता है, पर उसकी धार को सुगन्धमय बना देता है।)

प्राकृत के नीति छन्दो मे अन्योक्तियाँ भी हैं। सज्जन और दुर्जन को ध्यान मे रखकर कवि कहता है—

वायससाण खराई निवारिया हु हवन्ति असुइरुई।
हसकरि सिंह पमुहा न कयावि पराुल्लयावि पुणो।[3]

(कौवा, कुत्ता और गदहा मना करने पर भी गन्दगी की ओर झुकते हैं, पर हस, हाथी और सिंह कहने पर भी उधर नही जाते।)

प्रकृतिदत्त स्वभाव की स्थिरता भी इस छन्द से प्रकट होती है, पर इसमे अन्योक्ति की भावना भी अस्पष्ट नही है।

प्राकृत के नीति साहित्य मे लोक व्यवहार की बातें अधिक हैं तथा धर्म आचार की कम और राजनीति की तो प्राय नही के बराबर। यह साहित्य सस्कृत तथा पालि की भाँति नीति के क्षेत्र मे बहुत सम्पन्न तो नही है पर जो थोडे से छन्द हैं भाव और अभिव्यजना दोनो ही दृष्टियो से बहुत सुन्दर हैं।

(घ) अपभ्र श साहित्य में नीति—

अपभ्र श का भाषा के रूप मे प्रचलन लगभग ५०० ई० से १००० ई० तक रहा पर साहित्य मे उसका प्रयोग ६ठी सदी के बाद से हुआ और ९वी सदी तक राज-दरबारो मे उसका आदर होने लगा। ९वी से लगभग १२वी सदी तक अपभ्रश साहित्य का समृद्धि युग रहा यद्यपि साहित्य रचना १९वी शताब्दी तक होती रही।

---

१ वी० एम० शाह प्राकृत सुभाषित सग्रह, १९३५, सूरत।
२ वही, पृ० १।
३ वही, पृ० ४८९।

अपभ्रंश साहित्य को मोटे रूप से चार धाराओ मे बाँटा जा सकता है। जैन धारा, बौद्ध धारा, शैव धारा और ऐहिकतापरक धारा। इनमे नीति की दृष्टि से जैन, बौद्ध तथा ऐहिकतापरक इन तीन धाराओ का ही महत्व है।

जैन धारा के अन्तर्गत मुक्तक और प्रबन्ध साहित्य की दो स्पष्ट उपधाराएँ है। मुक्तक धारा के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थो मे नीति की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक महत्व रामसिंह मुनि के "पाहुड दोहा", देवसेन के "सावयधम्म दोहा" तथा जिन दत्त सूरि के "उपदेश रसायन" का है।

पाहुड दोहा (लगभग १००० ई०) प्रमुखत रहस्यवादी रचना है पर इसमे गुरु, सन्तोष, विषयो से पराङ्मुखता, मोह, आत्मा की एकता, अस्वाद, स्त्री, क्रोध, मन, दया, सग, तीर्थ तथा पुस्तकीय ज्ञान आदि के सम्बन्ध मे नीतिपरक बातें भी बडे सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त की गई हैं। "सङ्ग-प्रभाव" के सम्बन्ध मे कितनी सुन्दर उक्ति है।

भल्लाण वि णासति गुण जहिं सहु संगु खलेहिं।
वइसाणरु लोहह मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं ॥[1]

(जहाँ खलो का सङ्ग हुआ वहाँ भले पुरुषों के भी गुण नष्ट हो जाते हैं। लोहे से मिलकर अग्निदेव भी बडे घनो मे पीटे जाते हैं।)

कही-कही अन्योक्ति के ढङ्ग पर भी बाते कही गई हैं—

महुयर सुरतरु मजरिहिं परिमलु रमिवि हयास।
हियडा फुट्टिवि किण मुयउ ढढोलतु पलास ॥[2]

(हे हताश मधुकर! कल्पवृक्ष की मजरी के परिमल का रस लेकर अब पलाश पर भ्रमता फिरता है। तेरा हृदय क्यो न फूट गया और तू मर क्यो न गया ?)

देवसेन के "सावयधम्म दोहा' (९३३ ई० के आसपास) का प्रमुख विषय श्रावको का धर्म तथा आचार है। इसमे प्रवृत्ति मार्ग से आदर्श-चरित्र गृहस्थ के लिए मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है। इस प्रकार यह स्वत. उपदेश-प्रधान ग्रन्थ है। नीति की दृष्टि से यह जैन अपभ्रंश साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे गुरु, जुआ, दया, आहार, वेश्या, चोरी, कर्म का फल, दान, पाप, सन्तोष तथा सत्य आदि विषयो पर बडी ही सुन्दर सूक्तियाँ हैं। दान के विषय मे कवि कहता है—

---

१ पाहुड०, पृ० १४८।
२ पाहुड०, पृ० १५२।

ज दिज्जइ त पावियइ, एउ ण वयणु विसुद्धु ।
गाइ पइण्णाइ खडभुसइँ किण पयच्छइ दुद्धु ।।[१]

(जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है । क्या यह बात ठीक नही है ? गाय को खली-भूसी खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नही देती ?)

दया के विपय मे कवि कहता है

मणवय कायहि दय करहि जेम ण ढुक्कइ पाउ ।
उरि सण्णाहे बद्धइण अवसि ण लग्गइ घाउ ।।[२]

(मन, वचन और काया से दया कर जिससे पाप न आवे । उर में कवच बांधने से अवश्य घाव नही लगता ।)

जिनदत्त सूरि (१०७५-११५३ ई०) के 'उपदेश-रसायन' तथा 'काल स्वरूप कुलक' मे मनुष्य जन्म, आत्मोद्धार, कुटुम्ब-सङ्गठन, माता-पिता का आदर, तथा अन्य बहुत सी लौकिक एवं पारलौकिक बातो से सम्बन्धित शिक्षाएँ है । योगीद्र देव (सन् १००० ई० के लगभग) के 'परमात्म प्रकाश' एव 'योगसार' मे भी कही-कही नैतिक उपदेश है ।

प्रबन्ध उपधारा मे प्रधान ग्रन्थ स्वयभू (८०० से ९०० ई०) का पउमचरिउ, पुष्पदन्त (९५७ ई० से पूर्व) का महापुराण, जसहर चरिउ तथा णयकुमार चरिउ एव धनपाल (१०वी सदी ई०) का भविसयत्त कहा आदि है । रामचरितमानस की भाँति इनमे भी कही-कही नीति के छन्द मिल जाते है । यद्यपि इनकी सख्या अत्यल्प है ।

बौद्ध धारा मे सिद्धो (८०० से लगभग १००० ई०) का साहित्य आता है । सिद्धो की सख्या ८४ कही गई है, यद्यपि केवल २६ की ही रचानाएँ प्राप्त है, जिनमे कण्हपा, सरहपा, भुसुकुपा, विरूपा, तिलोपा तथा लुईपा प्रधान है । दोहा कोष और चर्यापद रूप मे इनकी रचनाएं प्राप्त है । इनका अधिक साहित्य तो इनकी साधना और सिद्धान्तो से सम्बद्ध है, पर कही-कही खण्डन-मण्डन की भी प्रवृत्ति है, जिसका हिन्दी सन्तों की खण्डन-मण्डन विषयक कविता के रूप मे हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पडा है । इसी मे कही-कही नीति की बातें भी है, जिनमे गुरु का महत्व, पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा, पडितो के प्रति व्यग्य, जाति-पाँति का तिरस्कार तथा शरीर का महत्व आदि प्रधान है । सिद्धों की साधना मे बोधिचित्त का बहुत महत्व है । यह चित्त की वह अवस्था है, जब वह धर्म-साधना के लिए उदबुद्ध होता है । बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिए छ पारमिताओ की साधना करनी होती है । ये छ पारमिताएँ दान, शील,

---

१ सावयधम्म०, पृ० ९२ ।

२ वही, पृ० ९० ।

क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, और प्रज्ञा हैं। इनके प्रसङ्ग मे भी दान, शील, एकाग्रता एवं सहनशीलता आदि के विषय मे उपदेश की कुछ बातें कही गई है।

सरहपा कहते हैं :

जब लो आप न जानिए तब लो सिख न करेइ।
अन्धा काढे अन्ध तिमि दोउहिं कूप पडेइ ॥[1]

(जब तक गुरु को ज्ञान न हो जाय शिष्यो को शिक्षा कभी न देनी चाहिए। यदि अन्धा अन्धे को निकालना चाहेगा तो दोनो कूप मे गिर जायेंगे।)

सरहपा ने ही एक अन्य स्थान पर कहा है कि विषयो मे रमण करते हुए भी विषयो मे लिप्त न हो, जैसे कमल जल मे होने पर भी उससे निर्लिप्त रहता है

विसऊ रमत ण विसअ विलिप्पइ।
ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ ॥[2]

मन की चचलता की सभी नीतिकारो ने निन्दा की है। सस्कृत के एक कवि ने 'अव्यवस्थित चित्तस्य प्रसादो अपि भयकर' कह कर इसकी विकरालता व्यक्त की है। भुसुकपा ने भी इस चित्त रूपी चूहे को मारने का आदेश दिया है—

मार रे जोइआ मूसा पवणा।[3]

कण्हपा ने पुस्तकीय ज्ञान वाले पडितो को श्रीफल के बाहर घूमने वाला भौंरा बताया है

आगम वेअ पुराणेही पण्डिअ माण वहति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम वाहेरीअ भमति ॥[4]

अपभ्रश की ऐहिकतापरक धारा इसकी शुद्ध साहित्यिक धारा है, जिसका धर्म से कोई सम्बन्ध नही है। इसकी भी दो उपधाराएँ हैं। एक तो प्रबन्ध काव्यो की और दूसरी मुक्तको की। प्रवन्धो मे प्रधान ग्रन्थ अब्दुर रहमान का 'सन्देशरासक' तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्ति पताका' आदि हैं। नीति की दृष्टि से इनका कोई महत्व नही है, पर इसकी मुक्तक उपधारा नीति की दृष्टि से बहुत सम्पन्न है। हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत छन्दो (प्राकृत पैंगलम तथा प्रवन्धचिन्तामणि) मे विशेषत यह सामग्री प्रचुर मात्रा मे है। इनमे गृहस्थ, स्त्री, भाग्य, सज्जन, दुर्जन, प्रेम, उन्नति मे

---

१ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३।
२ दोहाकोष, पृ० १२३।
३ चर्यापद, पृ० १२८।
४ हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृ० २६३।

मित्रता, धन तथा भाग्य के सम्बन्ध मे बहुत सी सूक्तियाँ है। कहीं-कहीं अन्योक्तियाँ भी बड़ी सुन्दर कही गई हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

सज्जन का लक्षण है—

परगुण-गहणु स-दोस पयासणु।
महु महुरकरवरहि अमिअ-भासणु॥
उवयारिण पण्डिकिओ वेरिअणह।
इअ पद्धडी मणोहर सुअणह॥[1]

(दूसरे के गुण को ग्रहण करना, अपने दोष को न छिपाना, मीठी बात कहना तथा वैरियो का भी उपकार करना सज्जनो का लक्षण है।)

वेश्या के विषय मे—

वेस विसिट्ठइ वारिअइ जइ वि मणोहर गत्त।
गगा जल पक्खालिअवि, सुणिहि कि होइ पवित्त॥[2]

(वेश्याओं को दूर रखिए चाहे वे मनोहर शरीर की ही क्यो न हो। गङ्गाजल मे धोई कुतिया क्या पवित्र हो जाती है?)

प्रेम का महत्व—

तिलह तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलति।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खलहोति।[3]

(तिलो का तिलपन तभी तक है जब तक स्नेह नही गलता। स्नेह नष्ट होने पर तिल खल (खली) हो जाते हैं।)

अपभ्रंश का नीति काव्य धर्म तथा आचार नीति के क्षेत्र मे सस्कृत तथा पालि से भी अधिक सम्पन्न है, पर, लोक तथा व्यवहार नीति के क्षेत्र उनसे कुछ पीछे है। राजनीति के विषय मे प्राकृत की भाँति ही प्राय शून्य सा है।



१ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३८२।

२ हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृ० २७०।

३ वही, पृ० २६०।

: ३ :

पूर्ववर्ती साहित्यों का हिन्दी नीति काव्य पर प्रभाव

पीछे हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो—सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श—मे नीति पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्याय मे हिन्दी नीति काव्य पर उनके प्रभाव का अध्ययन है।

प्रभाव के स्रोत—प्रभाव के मूल विपय पर आने के पूर्व उसके सम्भाव्य स्रोतो और उनसे प्रभाव की सम्भावनाओ पर विचार कर लेना आवश्यक है। ये स्रोत दो प्रकार के सम्भव हैं—

(क) प्रत्यक्ष

(ख) परोक्ष

प्रत्यक्ष स्रोत—प्रत्यक्ष स्रोत का आशय है इन साहित्यो के मूल ग्रन्थ या उनके अनुवाद आदि का सम्पर्क। हिन्दी जनता का इस प्रकार का सम्पर्क प्रधान रूप से सस्कृत साहित्य से ही रहा है। इसके कारण भी हैं। अंग्रेजो के शासन के पूर्व भारत मे प्रधानत केवल सस्कृत की पाठशालाएँ ही शिक्षा के केन्द्र थी, अत शिक्षा का अर्थ ही था सस्कृत की शिक्षा। इसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन प्रभावो के कम हो जाने पर धर्म की दृष्टि से भी लोगो का ध्यान सस्कृत के ही ग्रन्थो की ओर विशेप रूप से जाता था। इस प्रकार शिक्षा और धर्म दोनो ही के कारण लोगो को सस्कृत के सम्पर्क मे आना पडता था। इसके अतिरिक्त सस्कृत के पण्डित सस्कृत ग्रन्थो का हिन्दी मे रूपान्तर भी करते थे। सभा, राज-स्थान तथा सम्मेलन आदि की खोज रिपोर्टो से इस बात की भली-भाँति पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति मे, जिन लोगो की संस्कृत मे गति नही थी वे भी अनुवादो द्वारा सस्कृत साहित्य के सम्पर्क मे आते थे। अतएव प्रत्यक्ष स्रोत से हिन्दी नीति साहित्य पर सबसे अधिक सस्कृत साहित्य के प्रभाव की सम्भावना है।

सस्कृत की पाठशालाओ मे विद्यार्थियो को, विशेपत उच्च कक्षा के विद्यार्थियो को सस्कृत के अतिरिक्त कुछ प्राकृत भी पढनी पडती थी, क्योकि नाटको मे स्त्री तथा सेवक आदि के कथोपकथन प्राकृत मे ही हैं। रीतिकाल के बिहारी सतसई आदि शृङ्गारिक ग्रन्थो पर प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गाहा सतसई' का भाव और शैली दोनो दृष्टियो से अधिक प्रभाव भी इस बात की पुष्टि करता है, कि उस समय कुछ-कुछ

प्राकृत ग्रन्थो का भी अध्ययन प्रचलित था। अतएव प्रत्यक्ष स्रोत से प्राकृत के भी हिन्दी नीति साहित्य पर कुछ प्रभाव की सम्भावना है।

हिन्दी के प्रचलन के साथ बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव समाज से समाप्त हो चुका था तथा पालि के अध्ययन के लिए बाध्य करने वाला कोई अन्य आकर्षण भी नही था, अत हिन्दी जनता या कवियो मे उसका कभी प्रचार न हो सका। ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष स्रोत से पालि के प्रभाव की सम्भावना बिल्कुल ही नही है।

अपभ्र श के बाद ही हिन्दी का काल आता है और यदि भाषा के रूप को एव आधुनिक साहित्य को छोड दें तो परम्परा की दृष्टि से आदि, भक्ति तथा रीति कालीन, हिन्दी साहित्य अपभ्रश से बहुत भिन्न नही है। वीर, सन्त, कृष्ण, राम, सूफियो की प्रेमपरक कहानियो तथा शृङ्गार और नीति विषयक रीतिकालीन मुक्तक साहित्य आदि सभी के मूल स्रोत अपभ्र श मे ही फूट चुके थे। उसी को हिन्दी के कवियों ने अपनी साधना से सींचकर विकसित किया। अत अपभ्रश साहित्य से हिन्दी के प्राचीन कवियो के परिचित एव प्रभावित होने की कुछ सम्भावना अवश्य है। हिन्दी के रामचरितमानस, पद्मावत, मृगावती, आदि ग्रन्थो पर अपभ्रश के पउमचरिउ, भविष्यतकहा तथा जसहरचरिउ के स्पष्ट प्रभाव से भी इस बात की पुष्टि होती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष स्रोत से हिन्दी नीति साहित्य पर सस्कृत के प्रभाव की सम्भावना सबसे अधिक, प्राकृत तथा अपभ्र श की कुछ कम और पालि की बिल्कुल नही है।

प्रत्यक्ष स्रोत से भाव और शैली दोनो ही प्रभावित हो सकते हैं।

परोक्ष स्रोत—परोक्ष स्रोत दो प्रकार के सम्भव है—

(१) साहित्यिक परम्परा का

(२) सास्कृतिक

साहित्यिक परम्परा का स्रोत—सस्कृत के आदिकालीन साहित्य की कुछ परम्पराएँ थी। उनका विकास हुआ और इसी बीच पालि साहित्य का उदय हुआ। पालि की अपनी परम्पराएँ बनी और फिर बाद के सस्कृत साहित्य की परम्पराएं पीछे की दोनो परम्पराओ को आत्मसात करके विकसित हुई। इन्ही परम्पराओं की नींव पर जीवन की नवीन आवश्यकताओ के अनुरूप प्राकृत साहित्य की परम्पराओ का विकास हुआ और इसी प्रकार आगे चलकर ये परम्पराएँ अपभ्रश की परम्पराओ मे परिणत हुई। समय पर हिन्दी की अपनी परम्पराएँ उद्‌भूत हुई जिनकी पृष्ठभूमि मे अपभ्र श की परम्पराएँ थीं। इस प्रकार साहित्यिक परम्पराओ के स्रोत से शैली, छन्द, अलकार एव भाव आदि सभी क्षेत्रो मे हिन्दी के जीवन रस पर सस्कृत, पालि,

प्राकृत तथा अपभ्रंश का परोक्ष प्रभाव ही नही है, अपितु हिन्दी साहित्य का जीवन-रस परोक्ष रूप से बहुत अशो मे इन्ही सब की देन है।

सास्कृतिक स्रोत—सास्कृतिक स्रोत से आने वाला परोक्ष प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नही है। यथार्थत, पिछले सभी स्रोतो से आने वाले प्रभावो की अपेक्षा यह अधिक महत्व रखता है।

सस्कृत साहित्य भारत का प्राचीनतम साहित्य है। वह एक ओर तत्कालीन जीवन की अनुभूतियो एव आवश्यकताओ से उद्भूत है तो दूसरी ओर परवर्ती सामाजिक जीवन का उसने निर्माण भी किया है। आज युगो वाद भी यदि भारतीय जीवन की नैतिक धार्मिक, आचारिक तथा व्यावहारिक मान्यताओ का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो उसका एक महत्वपूर्ण अश ऐसा मिलेगा जिसके निर्माण मे सस्कृत साहित्य का बहुत बडा हाथ रहा है। पर सस्कृत साहित्य द्वारा प्रतिष्ठित इन मान्यताओ मे से सभी अपने मूल रूप मे हिन्दी काल तक नही पहुँची है। अपने-अपने समय पर पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश साहित्य के प्रभाव ने उनमे युगानुकूल परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया है और इन साहित्यो के आधार पर निर्मित युग-शासित विश्वासो ने उन्हे सँवारा तथा संजोया है। इस प्रकार जिस सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर हिन्दी साहित्य का एव उसके रचयिताओ के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, वह विभिन्न अनुपातो मे सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा ही विनिर्मित है। ऐसी दशा मे सास्कृतिक स्रोत से इन विभिन्न भाषाओ के साहित्यो का हिन्दी नीति साहित्य पर प्रभाव सर्वथा स्वाभाविक है।

सास्कृतिक स्रोत से आने वाला यह प्रभाव केवल भाव या विचार के क्षेत्र मे ही सम्भव है।

अन्त मे प्रभाव की दृष्टि से हिन्दी नीति साहित्य के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि पालि साहित्य द्वारा उसके केवल परोक्ष स्रोत से प्रभावित होने की सम्भावना है, पर सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनो ही स्रोतो से उसे प्रभावित किया है। इनमे सबसे अधिक प्रभाव सस्कृत का सम्भव है क्योकि इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही प्रभाव-स्रोत अन्यो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हैं।

प्रभाव—हिन्दी नीति साहित्य पर पूर्ववर्ती साहित्यो के प्रभाव के उचित मूल्याकन के लिए पाँच शीर्षक लिए जा सकते हैं —

(क) परम्परा
(ख) शैली
(ग) छन्द
(घ) अलकार
(ङ) भाव

(क) परम्परा—

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो मे नीति की बातें निम्न छ परम्पराओ मे प्रमुख रूप से मिलती हैं।

(१) **मुक्तक परम्परा**—संस्कृत साहित्य मे नीति कथन की यह प्रमुख परम्परा है। इसके बीज महाभारत के कुछ अशो मे मिलते हैं, पर इसका पूर्ण विकास चाणक्य आदि मे हुआ है। इस परम्परा के प्रधान सस्कृत ग्रन्थो की सूची पीछे सस्कृत मे नीति साहित्य पर विचार करते समय दी जा चुकी है जिनमे अधिक प्रसिद्ध चाणक्य नीति, भर्तृहरि का नीतिशतक तथा कामदक नीति आदि हैं। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश मे यह परम्परा नही मिलती। इन भाषाओ के साहित्यो मे एक भी ऐसा मुक्तक आज तक नही मिला है, जिसमे केवल नीति की सूक्तियाँ हो। पर, हिन्दी मे यह परम्परा मिलती है। रहीम तथा वृन्द आदि के नीति ग्रन्थ इसी परम्परा मे आते हैं। हिन्दी मे यह परम्परा सीधे सस्कृत से आई है। पीछे प्रत्यक्ष स्रोत पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि मध्य युग में सस्कृत से हमारा सम्बन्ध था। उस समय चाणक्य भर्तृहरि, विदुर तथा कामदक आदि के नीति ग्रन्थो का जनता मे पर्याप्त प्रचलन था। खोज रिपोर्टों से पता चलता है कि लोगों ने इन ग्रन्थो के हिन्दी मे अनुवाद भी किए।[1] इस प्रकार हिन्दी वालो ने सीधे सस्कृत से इस परम्परा को ग्रहण किया।

(२) **अन्योक्ति परम्परा**—अन्योक्ति का आरम्भ वैदिक साहित्य मे ही हो गया था। वृहदारण्यक उपनिषद का 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' वाला प्रसिद्ध छन्द अन्योक्ति ही है, पर, इसका पूर्ण विकास उन मुक्तक ग्रन्थो में हुआ, जिनमे केवल अन्योक्तियाँ ही सगृहीत हैं। इस परम्परा के सस्कृत ग्रन्थो की एक सूची पीछे सस्कृत साहित्य पर विचार करते समय दी गई है, जिसके अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ नीलकण्ठ, लक्ष्मी नरसिंह तथा चन्द्रचूड के अन्योक्ति शतक, अन्योक्ति माला, एव अन्योक्ति कण्ठाभरण आदि हैं। पालि साहित्य मे अन्योक्तियाँ प्राय नही मिलती पर प्राकृत तथा अपभ्रश मे इस परम्परा की क्षीण धारा अवश्य दृष्टिगत होती है। पर, सस्कृत की भाँति इनमे अन्योक्ति के स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलते। हिन्दी मे दीनदयाल गिरि का अन्योक्ति-कल्पद्रुम इस परम्परा का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होने इस तरह का एक दूसरा ग्रन्थ अन्योक्ति-माला भी लिखा है। फुटकर रूप से इस परम्परा मे रहीम, तुलसी, बिहारी तथा वृन्द आदि प्राचीन, एवं राय देवी प्रसाद पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त तथा

---

१ उदाहरणार्थ कृष्ण द्वारा अनूदित विदुर नीति, गदाधर द्वारा कामदक नीति, अर्जुन तथा प्रतापसिंह द्वारा भर्तृहरि नीति शतक तथा देवमणि एव अरुण मणि द्वारा चाणक्य नीति आदि।

शंकर आदि नवीन कवियो ने कुछ सस्कृत की अन्योक्तियो के आधार पर तथा कुछ स्वतन्त्र रूप से भी अन्योक्तियाँ लिखी हैं। हिन्दी मे इस परम्परा का प्रवेश दो स्रोतो से है। एक तो सस्कृत के प्रत्यक्ष सम्पर्क से और दूसरे सस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्यो मे आती हुई अन्योक्ति लेखन की परम्परा से।

(३) **सुभाषित[1] परम्परा**—अन्य परम्पराओ की भाँति इस परम्परा का सम्बन्ध लेखन या रचना से न होकर चयन, सकलन तथा वर्गीकरण से है। भारतीय साहित्य मे सुभाषित परम्परा का प्रथम ग्रन्थ पालि का धम्मपद है। इसमे विभिन्न विषयो पर लिखित सूक्तियो या सुभाषितो का सग्रह है। प्राकृत की 'गाहा सतसई' भी इसी परम्परा की एक कडी है। जैसा कि इसके सग्रहकर्ता हाल ने स्वय कहा है, उस समय की अनेक गाथाओ मे से चुन कर इसमे विभिन्न विषयो की गाथाएँ सगृहीत की गई हैं। इसके बाद यह परम्परा सस्कृत मे आई है। सस्कृत का प्रथम सुभाषित ग्रन्थ 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' है, जिसका समय १००० ई० के आस-पास है। जयवल्लभ द्वारा संगृहीत प्राकृत सग्रह "वज्जालग्ग" भी इसी परम्परा मे है, जिसमे धम्मपद तथा सस्कृत के सुभाषितो की भाँति गाथाएँ विभिन्न विषयक वज्जाओ या वर्गो मे विभाजित है। अपभ्रश मे इस परम्परा का कोई ग्रन्थ नही मिलता। यो हेमचन्द्र के व्याकरण मे इस प्रकार के विभिन्न विषयो के (जिसमे शृङ्गार, वीर तथा नीति विषय प्रधान हैं) अपभ्रश के छन्द हैं, पर यथार्थत सुभाषित रूप मे उनका सग्रह नही है। वे व्याकरण के उदाहरण मात्र है।

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो की इस सुभाषित परम्परा को तीन उप-परम्पराओ मे बाँटा जा सकता है। प्रमुख उप-परम्परा तो ऐसे ग्रन्थो की है, जिनमे विभिन्न कवियो के विभिन्न विषयक छन्दो को विषयानुसार वर्गो मे रखा गया है। प्राकृत का वज्जालग्ग तथा सस्कृत के बहुत से सुभाषित ग्रन्थ इसी उप-परम्परा के है। हिन्दी मे भी यह परम्परा मिलती है। रज्जब जी की "सर्वगी" मे साठ से कुछ अधिक कवियो के छन्द गुरु, सुमति, कुमति, दया, निर्वैरता, निन्दा, सन्तोष, सत्य, क्रोध, करनी तथा स्वार्थ आदि १४२ अङ्गो मे विषयानुसार विभाजित करके रक्खे गये हैं। जगन्नाथदास दादूपंथी के "गुण गजनामा" मे भी लगभग ६० कवियो के छन्द १७९ अङ्गो या वर्गो मे रक्खे गये हैं। निरंजनी तथा दादूपंथी मठो मे मिलने वाले कुछ

---

१ सुभाषित का शाब्दिक अर्थ तो है सूक्ति या अच्छी तरह कहा हुआ, पर इसका प्रयोग सुभाषित या सूक्ति के सग्रहों या सग्रह ग्रन्थो के लिये भी होता है। यहाँ इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त किया गया है।

पंचबानी ग्रन्थ,[1] नकछेदी तिवारी का "भडौग्रा सग्रह"[2] (अश रूप मे) भूरसिंह शेखाव का "विविध सग्रह" एव राम कवि का "हिन्दी सुभापित" ग्रादि ग्रन्थ इसी उप-परम के हैं। इस उप-परम्परा के हिन्दी तथा उसकी पूर्ववर्ती भाषाग्रो के सग्रहो मे भी ग्र बहुत से विषयो के छन्दो के साथ नीति के भी छन्द हैं।

सुभाषितो की दूसरी उप-परम्परा में वे ग्रन्थ ग्राते हैं, जिनमे विभिन्न कि के सुन्दर छन्द तो सकलित रहते है पर विषयानुसार उनका विभाजन नही रहत प्राकृत की "गाहा सत्तसई" ऐसा ही सग्रह है। हिन्दी मे इस उप-परम्परा मे सिक्खो ५वें गुरू ग्रर्जुनदेव द्वारा सकलित "गुरु ग्रन्थ साहव" एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जि सिक्खो के गुरुग्रो के ग्रतिरिक्त कबीर, रैदास, बैनी, नामदेव तथा फरीद ग्रादि ब से कवियो के छन्द सगृहीत हैं।[3] इसमे गाहा सत्तसई की भाँति ही कुछ नीति भी हैं। इस प्रकार के बहुत से सग्रह ग्रन्थ मध्ययुग मे बने जो पुस्तकालयो में सुर हैं।[4] ग्राधुनिक युग मे भी हिन्दी मे इस प्रकार के सग्रह हुए हैं, जिनमे नवलकि प्रेस लखनऊ तथा भारत जीवन प्रेस काशी के "सभा विलास" हिन्दी भवन ला की "सूक्ति सुधा" किशोरीलाल गुप्त की "काव्य वाटिका" तथा पाटन के ". सरोवर" ग्रादि के नाम लिए जा सकते हैं।

सुभापितो की तीसरी उप-परम्परा मे वे ग्रन्थ हैं, जिनमे एक ही रचयिता रचनाएं विषयानुसार वर्गो मे सजाई रहती हैं। धम्मपद इस परम्परा का प्राचीन ग्रन्थ है। भर्तृहरि ने ग्रपने श्लोको को नीति, श्रृङ्गार तथा वैराग्य तीन शीर्षको मोटे रूप से रखकर जो तीन शतक बनाये हैं वे भी तीनो मिलाने पर कुछ परम्परा मे हैं। हिन्दी मे भी यह परम्परा मिलती है। कबीर ग्रौर सन्त कवियो साखियो का ग्रङ्गो मे विभाजन इसी दिशा मे है। भर्तृहरि के ग्रनुकरण पर रामच उपाध्याय ने ग्रपनी व्रज सतसई के दोहो को भी श्रृङ्गार, नीति ग्रौर वैराग्य नाम तीन वर्गो मे रक्खा है। हरिग्रौध की "दिव्य दोहावली" तथा महेशचन्द्र की "स्व

---

१ नवलगढ में प्राप्त पचबानी मे कविताएं ६४ भागों में विभाजित हैं।

२ इसके कुछ ही ग्रश इस परम्परा में ग्राते हैं। बीच में कहीं-कहीं छन्दों के ग्रा पर भी विभाजन हैं।

३ यह सग्रह ग्रन्थ विषयानुसार विभाजित न होने से इस परम्परा में ग्राता त पर इसकी एक विशेषता यह है कि इसमे रागों के ग्रनुसार विभाजन कृष्णानन्द का राग कल्पद्रुम तथा कुचायन में प्राप्त पचबानी भी इसी प्र के सग्रह हैं।

४ कुछ पचबानियां भी इस प्रकार की हैं।

सतसई' मे भी यह प्रयास है। हिन्दी मे इस उप-परम्परा मे कुछ लोगो ने तो अपनी कविताओ को स्वय इस रूप मे रखा है, पर कुछ की कविताओ से सूक्तियो को छाँट कर दूसरो ने भी उन्हे विपयानुसार संकलित किया है। "तुलसी-सूक्ति-सुधा" नाम के संग्रह मे वियोगी हरि ने तुलसी की सूक्तियो को विपयानुसार विभाजित करके रखा है।

(४) **विविध विषयक मुक्तक काव्य में नीति परम्परा**—विविध विपयक मुक्तक काव्यो मे भी नीति के छन्द रखने की परम्परा रही है। संस्कृत मे भामिनि विलास तथा आर्या सप्तशती ऐसे ही मुक्तक ग्रन्थ है, जिनमे शृङ्गार की प्रधानता होते हुए भी नीति के कुछ छन्द हैं। पालि मे इस परम्परा के चिन्ह नही मिलते। प्राकृत मे भी शुद्ध रूप से इस परम्परा का कोई ग्रन्थ नही है, यद्यपि "गाहा सत्तसई" को लोग इसी प्रकार का ग्रन्थ मानते रहे हैं तथा हिन्दी मे इस परम्परा को लाने का श्रेय "आर्या सप्तशती" से अधिक "गाहा सत्तसई" को ही है। अपभ्रंश मे भी शुद्ध रूप से इस प्रकार की किसी रचना का अभाव है। यो जिस प्रकार इन ग्रन्थो मे शृङ्गार का प्राधान्य है और साथ मे नीति भी है, कुछ उसी प्रकार पाहुड दोहा तथा सावयधम्म दोहा मे धार्मिक आचार का प्राधान्य है और साथ मे कुछ नीति भी है। सिद्धो के छन्दो मे भी यही परम्परा है।

इस प्रकार हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो मे धर्म के साथ नीति और शृङ्गार के साथ नीति रूप मे इस परम्परा मे दो उप-परम्पराएँ हैं। हिन्दी मे भी ये दोनो उप-परम्पराएँ सुरक्षित हैं। धर्म के साथ नीति के उदाहरण के लिये नाथो के छन्द, सन्त साहित्य की साखियाँ एव तुलसी दोहावली आदि हैं तथा शृङ्गार के साथ नीति के लिये विहारी, मतिराम एव भूपति आदि की शृङ्गार सतसइयाँ है।

(५) **प्रवन्ध ग्रन्थो में नीति की परम्परा**—हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो के प्रवन्ध काव्यो मे यत्र-तत्र नीति कहने की परम्परा रही है। सस्कृत के रामायण, महाभारत, बुद्ध चरित, सौन्दरानन्द, रघुवश, किरातार्जुनीय तथा भट्टिकाव्य आदि, प्राकृत के पउमचरिय तथा सुरसुन्दरी चरिय आदि एव अपभ्रंश के पउमचरिउ तथा जसहरचरिउ आदि मे यह परम्परा मिलती है। पालि मे इसका अभाव है।

हिन्दी के पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस तथा रामचन्द्रिका आदि के नीति अंश इसी परम्परा मे हैं।

(६) **औपदेशिक कथाओं की परम्परा**—भारतीय साहित्य मे यह परम्परा वडी प्राचीन है। सवसे पुरानी औपदेशिक कथाएँ जातको मे हैं। जातको की इन कथाओ की पृष्ठभूमि मे वैदिक साहित्य की आख्यायिकाओं एव लोक साहित्य की कथाओ की परम्परा रही है। संस्कृत मे इसी परम्परा मे महाभारत की औपदेशिक कथाएँ,

पचतत्र की कहानियाँ तथा हेमचन्द्र जैन जातक (परिशिष्ट पर्वन) आदि आते हैं। इनमे जैन जातक का सम्बन्ध विशेषत जैनो की धर्म नीति से है। प्राकृत की उपदेश-माला, ज्ञानपञ्चमी कथा तथा कथा कोष प्रकरण आदि की कथाएँ भी इसी परम्परा की कडी हैं, यद्यपि उनमे लोक और व्यवहार नीति की बातें प्राय नही के बराबर हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि अन्य सभी परम्पराएँ तो हिन्दी में मध्ययुग तक मिल जाती हैं[1], पर केवल यही परम्परा नही मिलती, यद्यपि इस युग मे पचतत्र तथा हितोपदेश आदि का हिन्दी जनता मे पर्याप्त प्रचार था और इन दोनों के दर्जनो अनुवाद भी हिन्दी मे हुए जैसा कि सभा की खोज रिपोर्टों से पता चलता है।[2] इस परम्परा के न होने का एकमात्र कारण सम्भवत यह है कि मध्य युग तक गद्य का प्रचार हिन्दी मे नही था जबकि इस परम्परा मे गद्य का होना आवश्यक है। आगे चलकर जब गद्य का प्रचार हुआ तो यह परम्परा भी हिन्दी मे आ गई। भारतेन्दु-कालीन उपन्यासो मे इस परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। उस काल के उपन्यासों मे श्रीनिवास के 'परीक्षा गुरु' उपन्यास का अपना विशिष्ट स्थान है। इसकी शैली, इसका कथानक तथा उद्देश्य सभी औपदेशिक हैं। अध्यायो के आरम्भ मे या बीच-बीच मे जातक कथाओ या पचतत्र आदि की भाँति नीति पूर्ण छन्द भी रखे गए हैं। इन छन्दो मे कुछ तो हिन्दी के नीति के कवियो—कबीर, तुलसी, गग, वृन्द और गिरिधर आदि के हैं और कुछ पचतत्र, हितोपदेश, बायरन, पोप, लार्ड चैस्टरफील्ड, शेक्सपीयर, विलियम कूपर, शेखसादी, हरिवश, मनुस्मृति, बाल्मीकि रामायण, महाभारत, चाणक्य नीति, विदुर नीति, सुभाषित रत्नाकर तथा विष्णु पुराण आदि से अनुवादित हैं। भारतेन्दु लिखित पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा तथा बालकृष्ण भट्ट के "नूतन ब्रह्मचारी" एव "सौ अजान और एक सुजान" आदि उपन्यास भी उपदेशात्मक ही हैं। आर्यसमाज तथा राष्ट्रीय आन्दोलनो के कारण वह युग ही सुधारों का था, साथ ही लोगो का ध्यान भी अँग्रेजी, बगाली आदि के साथ सस्कृत के कथा-साहित्य की ओर भी गया था, अत बहुत से शिक्षाप्रद उपन्यास इस समय मे लिखे गए।

---

१ ईश्वरदास कृत 'सत्यवती की कथा' (र० का० १५०१ ई०), कुशललाभ कृत 'माधवानल' कामकन्दला चौपई (र० का० १५५६ ई०) तथा चतुर्भुजदास कायस्थ कृत मधुमालती (र० का० १७८० ई०) में नीति की कथाएँ भी हैं पर इन ग्रन्थों का प्रधान स्वर नीति या उपदेश न होकर प्रेमाख्यानक काव्य का है। (डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव . भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, बनारस, १९५५, पृ० ४३५–५५)

२ चन्द्र, कोविद, बशीधर देवीचन्द्र तथा नारायण आदि के अनुवाद।

हिन्दी कहानियो का आरम्भ सन् १६०० से हुआ। उपन्यासो की भाँति ही कहानियो के क्षेत्र मे भी प्रारम्भिक युग मे उपदेशात्मक कहानियो की ओर ही लोगो का झुकाव अधिक था। विद्यानाथ शर्मा की "विद्यावहार" तथा मैथिलीशरण गुप्त की "निन्यानवे का फेर" इसी प्रकार की कहानियाँ है। बाद मे जब उपदेशात्मक कथाएं कला की दृष्टि से हेय समझी जाने लगी तो इनका प्रचलन कम हो गया।

लडको के लिए लिखी गई कहानियो मे तो सैकडो उपदेशात्मक हैं और अब भी इस प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रही हैं। जिस प्रकार पंचतत्र का मुख्य ध्येय राजा के लडको को नीति की शिक्षा देना था, उसी प्रकार इन कहानियो का भी ध्येय लडको को उपदेश देना होता है। प्रस्तुत अध्ययन काव्य तक ही सीमित है, अत हिन्दी के इन नीति पूर्ण उपन्यासो तथा कहानियो पर यहाँ विचार न किया जा सकेगा।

कविता के माध्यम से कहानियो द्वारा नीति कथन के कुछ उदाहरण आधुनिक काल में अवश्य मिलते हैं। इस दृष्टि से प० रामनरेश त्रिपाठी का नाम विशेष उल्लेख्य है। आपने इस प्रकार की लगभग दस पद्यबद्ध कहानियाँ लिखी थी। काव्य वाटिका मे 'क्षमा का अद्भुत परिणाम' तथा 'निर्बलो को न्यायालय मे भी जगह नही' शीर्षक इस प्रकार की आपकी दो रचनाएँ सगृहीत हैं।[१] बाल और किशोर साहित्य के रूप मे भी इस प्रकार की कुछ रचनाएं हिन्दी मे हुई है।

इस प्रकार औपदेशिक कथाओ की परम्परा भी हिन्दी साहित्य मे बिल्कुल अपरिचित नही कही जा सकती।

(ख) शैली—

हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो मे नीति-कथन की निम्न छ शैलियाँ प्रचलित थी। यहाँ शैलियो का सक्षिप्त परिचय हिन्दी मे उनकी परम्परा के साथ दिया जा रहा है।

१ उपदेशात्मक शैली—नीति कथन की यह सबसे सीधी और स्पष्ट शैली है। इसमे उपदेश को सीधे बिना किसी वक्रता, आकर्षण या साहित्यिकता का पुट दिए पद्यबद्ध कर दिया जाता है। इस शैली मे शुष्कता रहती है। इसी कारण अन्य शैलियो की अपेक्षा इसका प्रभाव बहुत कम पडता है। स्मृतियो, पुराणो, कुछ नीति गन्थो (भर्तृहरि तथा चाणक्य आदि में), धम्मपद, प्राकृत के प्रबन्ध-काव्यो एवम् पाहुड तथा सावयधम्म दोहा आदि मे प्रायः इस शैली का प्रयोग हुआ है। हिन्दी मे भी यह शैली बहुत प्रचलित रही है। गोरख, कबीर, तुलसी तथा गिरिधर आदि मे इस शैली का प्राय प्रयोग हुआ है।

---

१ काव्य-वाटिका, पृ० २०३, २१०।

२. **सूत्रात्मक शैली**—सूत्रात्मक शैली का सबसे बड़ा गुण है सक्षिप्त होना। इसमे कम से कम शब्दो मे भाव रखे जाते हैं। सस्कृत के सूत्र ग्रन्थो मे इस शैली का प्रयोग हुआ है। इस शैली में लिखे गये नीति के स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे सस्कृत मे चाणक्य का केवल चाणक्य सूत्र नामक ग्रन्थ प्राप्त है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श में यह शैली नीति के लिये नही मिलती। हिन्दी में भी इस शैली का प्रयोग नही हुआ है। यो लोकोक्तियो की शैली सूत्र शैली से मिलती-जुलती है। पर, यथार्थत सूत्र शैली का इन पर प्रभाव नही माना जा सकता। सस्कृत मे बहुत सी नीति श्लोको के अश सस्कृत काल में ही लोकोक्ति रूप में प्रयुक्त होने लगे थे। उन्ही की परम्परा में हिन्दी की लोकोक्तियाँ आती हैं। इस परम्परा में ही होने के कारण हिन्दी की बहुत सी लोकोक्तियाँ हिन्दी नीति कवियो के छन्द या छन्दाश है। ऐसी स्थिति मे इस शैली का हिन्दी नीति साहित्य मे अभाव ही मानना उचित होगा।

३. **सूक्त्यात्मक शैली**—इसमे नीति की बातें सूक्ति के रूप मे रहती हैं। उनमे कथन-शैली मे वक्रता, चमत्कार, अलकरण-विधान या अन्य साहित्यिक उपकरणो के प्रयोग के कारण चुस्ती और आकर्षण रहता है। उपदेशात्मक शैली की भाँति यह शुष्क नही लगती। इसमें प्रभविष्णुता बहुत रहती है। नीति साहित्य के लिए इसे सर्वश्रेष्ठ शैली कहे तो अत्युक्ति न होगी। श्रेष्ठ नीतिकारो ने इस शैली का प्राय प्रयोग किया है। सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश—सभी मे इस शैली का प्रयोग मिलता है। हिन्दी मे भी यह शैली बहु प्रचलित है। इसके सब से सुन्दर प्रयोग रहीम तथा वृन्द ने किये हैं। यो इस शैली के छन्द, कबीर, तुलसी, जान, बिहारी तथा रामचरित उपाध्याय आदि में भी मिल जाते हैं।

अन्योक्त्यात्मक शैली—नीति कहने का सबसे शिष्ट और सूक्ष्म ढङ्ग अन्योक्तियो का है। इसमे बात प्रस्तुत को सम्बोधित न करके उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुत के प्रति कही जाती है और अप्रस्तुत पर घटित होने तथा उसे शिक्षा देने के साथ-साथ प्रस्तुत पर भी घटित होती तथा उसे शिक्षा देती है। यह शैली पालि में तो प्राय नहीं है पर सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श में मिलती है। वही से यह हिन्दी मे आई है। हिन्दी मे अन्योक्तियो के लिए दीनदयाल गिरि का नाम अधिक प्रसिद्ध है, यद्यपि तुलसी, रहीम, वृन्द, विहारी, पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा सैयद अमीर अली मीर आदि ने भी इन शैली के सुन्दर प्रयोग किए हैं।

५ **प्रकृति-चित्रण के साथ**—प्रकृति चित्रण के साथ नीति की बातें कहने की शैली भी बड़ी मार्मिक है। इस शैली में प्रकृति की क्रियाओ का वर्णन रहता है और उसकी तुलना के लिए नीति के वचन रहते हैं। इस शैली का हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो मे केवल सस्कृत मे प्रयोग हुआ है। भागवत के १०वें स्कध मे वर्षा तथा

शरद वर्णन मे यह शैली मिलती है। उसी के प्रभाव स्वरूप हिन्दी मे तुलसी के मानस मे भी वर्षा तथा शरद वर्णन मे इस शैली का प्रयोग हुआ है।

६ कथात्मक शैली—नीति-कथन की कथात्मक शैली सबसे अधिक प्रभावशालिनी पर साथ ही विस्तार की है। इसमे कोई कथा कही जाती है, जिसका निष्कर्ष नीतिपरक होता है। कभी-कभी उस निष्कर्ष को अन्त या बीच या कथा के आरम्भ मे ही छन्दबद्ध कर देते है। जातक, पंचतंत्र एव प्राकृत अपभ्रंश की जैन कथाएँ इसी शैली मे है। हिन्दी मे १९वी सदी के अन्तिम चरण के कुछ उपन्यास, बीसवी सदी के प्रथम दो दर्शको की कुछ कहानियो तथा बाल-कथाओ एवम् रामनरेश त्रिपाठी की नीतिपरक पद्यबद्ध कविताओ[1] के रूप मे यह शैली मिलती है।

इस प्रकार शैली के क्षेत्र मे सूत्र शैली को छोडकर पूर्ववर्ती साहित्यो की अन्य सभी शैलियो को न्यूनाधिक रूप मे हिन्दी ने ग्रहण किया है।

(ग) छन्द—

छन्द के क्षेत्र मे भी हिन्दी नीति काव्य पूर्ववर्ती साहित्यो का विशेष ऋणी है। इसका प्रमुख छन्द दोहा है। कबीर, तुलसी, रहीम, तथा वृन्द आदि प्रसिद्ध नीति कवियो ने प्रमुखत दोहे का ही प्रयोग किया है। यह छन्द मूलत अपभ्रंग का है। विशेषतः अपभ्रंश का नीति साहित्य तो प्रायः पूरा का पूरा दोहा छन्द मे ही है। सावयधम्म दोहा, पाहुड दोहा, तथा हेमचन्द्र मे उद्धृत दोहे उदाहरणार्थ लिए जा सकते हैं। इस प्रकार अपभ्रंश मे इस छन्द का पर्याप्त प्रचार था और वही से यह हिन्दी मे आया। यो दोहे की परम्परा और पीछे तक जाती है। यथार्थतः 'दोहा' अपभ्रंश के कवियो की अपनी मौलिक चीज न होकर प्राकृत तथा पालि छन्द गाथा या गाहा का एक विकसित रूप मात्र है।

हिन्दी नीति काव्य का दूसरा प्रधान छन्द कुण्डलिया है। गिरिधर तथा दीनदयाल गिरि की कुण्डलियाँ हिन्दी नीति साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। कुण्डलिया भी अपभ्रंश का ही छन्द है। प्राचीन अपभ्रंश साहित्य मे यद्यपि कुण्डलियाँ नही मिलती पर बाद के 'छन्द कोष' आदि ग्रन्थो मे यह हैं। प्राकृत पैंगलम् से भी इसके अपभ्रंश प्रचलित छन्द होने की पुष्टि होती है।

छप्पय भी हिन्दी नीति काव्य का प्रचलित छन्द है। नरहरि तथा बैताल आदि ने नीति के लिए इसका प्रयोग किया है। छप्पय यथार्थत एक छन्द न होकर

---

१ किशोर और बाल साहित्य के रूप में भी झूठ, दया, क्रोध तथा, क्षमा आदि पर आधुनिक युग में बहुत सी पद्यबद्ध कथाएँ लिखी गई हैं, जो इसी शैली के अन्तर्गत आती हैं।

रोला और उल्लाला का जोड़ा हुआ रूप है। रोला का अपभ्रंश साहित्य मे जिसे 'कव्व' (वृत्तकाव्य) कहते थे, पर्याप्त प्रचार था। इसी प्रकार उल्लाला भी अपभ्रंश का प्रचलित छन्द था। भविसयत्त कहा आदि में इन दोनो छन्दो के प्रयोग मिलते हैं। कुछ लोगो का कहना है कि अपभ्रंश मे ये दोनो छन्द अलग-अलग तो प्रचलित थे पर दोनो को मिलाकर छप्पय रूप मे प्रयोग नही था।[1] पर यथार्थतः यह बात नही है। कुमारपाल प्रतिबोध के अपभ्रंश अंश तथा पुरातन प्रबन्ध संग्रह मे छप्पय का प्रयोग हुआ है।[2] अतः छप्पय भी अपभ्रंश का छन्द है,[3] और हिन्दी नीति काव्य मे वह वही से लिया गया है।

हिन्दी नीति काव्य का चौथा छन्द सोरठा है। तुलसी तथा रहीम ने नीति सम्बन्धी सोरठे लिखे हैं। यह अपभ्रंश का बहुत प्रचलित छन्द तो नही है, पर परमात्म प्रकाश आदि कुछ ग्रन्थो मे इसका भी प्रयोग हुआ है।

नीति काव्य का पाँचवाँ छन्द चौपाई है। तुलसी ने बहुत सी नीति की चौपाइयाँ लिखी हैं। चौपाई भी अपभ्रंश का ही छन्द है। बौद्ध सिद्ध सरहपा ने मानस की भाँति दोहे और चौपाइयों का साथ-साथ प्रयोग किया है। चौपाई का पूर्व रूप अपभ्रंश का ही 'अडिल्ल' छन्द है जो 'भविसयत्त कहा' आदि पुस्तको में मिलता है। चौपाई और अडिल्ल दोनो मे ही १६ मात्राएँ होती हैं, पर चौपाइयो में जहाँ अन्त मे दो गुरु रहते हैं अडिल्ल में दो लघु होते हैं। यद्यपि अडिल्ल की भाँति दो लघु वाली चौपाइयाँ भी तुलसी ने लिखी हैं, जिन्हे चौपाई न कहकर 'अडिल्ल' कहना अधिक समीचीन होगा।

इस प्रकार हिन्दी नीति साहित्य के दोहा, चौपाई, कुण्डलियाँ, छप्पय तथा सोरठा—ये पाँचो प्रधान छन्द पूर्ववर्ती साहित्यो से ही आए हैं। इनमे दोहा की परम्परा तो अपभ्रंश के पूर्व तक चली जाती है पर शेष अपभ्रंश के हैं, यद्यपि इनमे भी कुछ के बीज प्राकृत तक गए हैं।

(छ) अलंकार—

हिन्दी के अपने अलंकारो का अभी तक अध्ययन नही हुआ है, अतः यह कहना

---

१ नामवरसिंह हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृ० २०२।

२ डा० रामसिंह तोमर प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (आलोचना ८), पृ० ६५।

३ 'प्रकृति पैंगलम् से पता चलता है कि अपभ्रंश में और प्रकार के छन्द प्रचलित थे। छप्पय, कुण्डलिया, रोला, उल्लाला आदि छन्द उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे।'
(डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी . हिन्दी साहित्य, पृ० १५)

कठिन है कि हिन्दी के अपने अलकार कौन हैं या हिन्दी के अपने अलकार है भी या नही। अब तक हिन्दी के रीति ग्रन्थो मे जिन अलंकारो का विवेचन प्राय. मिलता है या सामान्यत· हिन्दी कविता मे (आधुनिक काव्य को छोडकर जिसमे अँग्रेजी अलकारो का भी प्रयोग हुआ है), जिन अलकारो के प्रयोग हुए हैं और जिनका आलोच्य ग्रन्थो मे परम्परागत रूप से उल्लेख होता आया है, प्राय सभी सस्कृत के है और वे प्रत्यक्ष स्रोत से तथा प्राकृत एव अपभ्र श मे होते परम्परा रूप मे हिन्दी मे आए हैं। हिन्दी नीति काव्य के अलंकारो के विषय मे भी यही बात है। उसमे प्रयुक्त अन्योक्ति, उदाहरण, प्रमाण, अर्थान्तिरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा निदर्शना आदि सभी अलकार हिन्दी के अपने न होकर सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श आदि पूर्ववर्ती साहित्यो के है और प्राय सभी का मूल संस्कृत साहित्य है।

(ड) भाव—

भाव या विचार के क्षेत्र मे भी हिन्दी का नीति काव्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यो से प्रचुर मात्रा मे प्रभावित है। पीछे सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श के नीति साहित्य पर विचार करते समय उनके द्वारा स्पर्शित नीति-विपयो की सूची स्थान-स्थान पर दी जा चुकी है। उन सबके आधार पर समवेत रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी पूर्ववर्ता साहित्यो—संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्र श—के नीति अश मे प्रधान विपय धर्म, ईश्वर आचार, शील, उद्यम, भाग्य, सूम, धन, नारी, सज्जन, दुर्जन. पुत्र, विद्या, प्रेम, नम्रता, मन्तोष, सवल, निर्बल, सेवक, बचन, दया, धैर्य, सुख, दुख, यौवन, व्यवहार, प्रजा, राजा, मन्त्री, कर, मित्र, शत्रु, मन, अहिंसा, आशा, तृष्णा, विनय, गर्व, क्षमा, ससार, सग, मूर्ख, सयम, अति, चचलता, समय, कृतज्ञता, कृतघ्नता, गुण तथा दान आदि है। हिन्दी मे अभी सामान्यत नीति के मुख्य विपय ये ही हैं और इनके प्रसग मे व्यक्त किये गये विचार भी पूर्ववर्ती साहित्यो से प्राय भिन्न नही हैं। यथार्थत भारतीय समाज की इन विपयो के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित धारणाएँ रही हैं, जो परम्परागत रूप से बहुत पहले से चली आ रही है और वे क्या सस्कृत, पालि, प्राकृत एव अपभ्र श और क्या हिन्दी सभी मे प्रतिफलित हुई है। आज के बहुत परिवर्तित युग मे भी दो चार शिक्षित लोगो को छोडकर क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित सभी इन विषयो के सम्बन्ध मे भारत के परम्पगरात दृष्टिकोण से ही सहमत है। उनके संस्कार मे ही यह परम्परा है, अत यह अस्वाभाविक भी नही है। यही कारण है कि हिन्दी नीति काव्य अपने प्रधान विषयो तथा उनके प्रति अपने दृष्टिकोण मे पूर्ववर्ती साहित्य का परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनो ही स्रोतो से बहुत ऋणी है।

इस ऋण या प्रभाव को वर्गानुसार भी देखा जा सकता है। हिन्दी नीति काव्य के विषयो के मुख्य पांच वर्ग हैं—

(क) धर्म और आचार
(ख) समाज और व्यवहार
(ग) राजनीति
(घ) सामान्य ज्ञान
(ङ) विश्वास

धर्म और आचार—धर्म और आचार सम्बन्धी नीति की परम्परा वेदो तक जाती है। वैदिक साहित्य विशेषत उपनिषदो एव कल्पसूत्रो मे इस विषय के निर्देश तथा उपदेश यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं। आगे चल कर बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के कारण इस क्षेत्र मे और भी विकास हुआ। ये दोनो धर्म पूर्णत आचारपरक हैं। इन धर्मों के व्यावहारिक सिद्धान्त शील और आचार के अतिरिक्त प्राय और कुछ हैं ही नही। इस प्रकार पालि साहित्य से होती हुई यह धारा आगे के सस्कृत साहित्य विशेषत स्मृतियो तथा पुराण, प्राकृत और अपभ्र श के जैन साहित्य और सिद्ध साहित्य मे होती हुई हिन्दी साहित्य के नाथ एव सन्त धारा मे आई और फिर नीति-धारा मे समाविष्ट हो गई।

समाज और व्यवहार—सामाजिक और व्यावहारिक नीति की परम्परा जातक की गाथाओं और कथाओ से आरम्भ होती है और रामायण, महाभारत, अश्वघोष, कालिदास तथा भारवि आदि के प्रबन्ध काव्यों, सूक्ति तथा अन्योक्ति के मुक्तको, पच-तत्र आदि की कथाओ, प्राकृत तथा अपभ्र श के प्रबन्धो तथा मुक्तको मे होती रहीम तथा वृन्द आदि तक चली आई है।

राजनीति—राजनीति सम्बन्धी बातें जातक कथाओ, महाभारत, पुराणो, स्मृतियो, राजनीति शास्त्र सम्बन्धी अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामदक नीति आदि ग्रन्थो तथा पचतत्र से होती प्रत्यक्ष स्रोत से हिन्दी के मुक्तको तथा प्रबन्धों में आई है। प्राकृत तथा अपभ्र श साहित्य मे राजनीति सम्बन्धी नीति अश प्राय नही के बराबर है।

सामान्य ज्ञान—हिन्दी नीति काव्य में स्वास्थ्य, कृषि तथा ऋण सम्बन्धी सामान्य ज्ञान की बातें भी हैं। इनमें स्वास्थ्य सम्बन्धी बातें तो घाघ तथा जान में विशेष हैं और कृषि एवं ऋतु सम्बन्धी बातें घाघ तथा भड्डरी मे हैं। हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो—सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश—के नीति अश मे इस प्रकार के सामान्य ज्ञान विषयक बातें प्राय नही हैं, पर नीति से इतर पुस्तको मे अवश्य इनका उल्लेख है और उनमे ही हिन्दी की ये बातें बहुत अशो में प्रभावित हैं। यह प्रभाव प्रधानत सस्कृत का ही सम्भव है। सस्कृत मे स्वास्थ्य सम्बन्धी बातो के लिए चरक तथा

सुश्रुत आदि, वर्षा आदि ऋतु के सम्बन्ध मे वाराह मिहिर[१] की वृहत्सहिता तथा मेघ माला[२] आदि तथा खेती के सम्बन्ध मे पराशर[३] उल्लेख्य हैं।

विश्वास—हिन्दी नीति काव्य मे विश्वास की श्रेणी मे आने वाली बातें केवल फलित ज्योतिष के शकुन सम्बन्धी है, जिन्हे तुलसी, जायसी तथा भड्डरी आदि ने लिखा है। इस प्रकार की बातें हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो के नीति-अश मे तो प्राय नही मिलती, पर सस्कृत के फलित ज्योतिष विषयक पाराशर आदि ग्रन्थो मे अवश्य हैं। साथ ही ये लोक प्रचलित भी है। इस प्रकार इस क्षेत्र मे हिन्दी नीति काव्य सस्कृत के ज्योतिष ग्रन्थ एव लोक परम्परा दोनो ही का ऋणी है।

नीति के विषयो एवं उनके वर्गीकृत रूपों पर पूर्ववर्ती साहित्यो के परम्परागत प्रभाव को देखने के अतिरिक्त भाव के क्षेत्र मे प्रभाव के उचित मूल्याकन के लिए इन साहित्यो से कुछ ऐसे छन्द भी देखे जा सकते हैं, जिनसे हिन्दी के नीति छन्दो का भाव-साम्य है। इस प्रकार के भाव साम्य के उदाहरण यदि एकत्र किए जाँय तो कई सहस्र हो सकते हैं। यहाँ कुछ थोडे से ही दिए जा रहे हैं।

सस्कृत और हिन्दी—

(१)

आपत्काले तु सप्राप्ते यन्मित्र मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद् भवेत्।[४]

(विपत्ति मे जो मित्र है वही मित्र है। सम्पत्ति के समय तो शत्रु भी मित्र हो जाता है।)

कहि रहीम सम्पति सगे बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे तेई साचे मीत॥[५]

---

१ वृहत्सहिता से पता चलता है कि वाराह मिहिर के पूर्व सस्कृत में गर्ग, पराशर, काश्यप और वात्स्य आदि ने भी इस विषय मे ग्रन्थ लिखे। ये ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं हैं।

२ मेघमाला नामक सस्कृत ग्रन्थ के वर्षा विषयक बहुत से श्लोक ऐसे हैं जिनके अनुवाद मात्र ही भड्डरी के बहुत से इस विषय के छन्द लगते हैं।

३ पराशर की इस विषय की कोई पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है, पर वाचस्पति कोष मे तथा यों भी फुटकर रूप से उनके इस विषय के बहुत से श्लोक मिलते हैं, जिनमे बड़ी बहुमूल्य बातें हैं।

४ पचतत्र, २. ११८।

५ रहीम, दो० ३२।

(२)

न दुर्जनैस्सह ससर्ग कर्तव्य ।
शौण्डहस्तगत पयोप्यवमन्येत ।।[1]

(दुर्जनो का साथ नही करना चाहिए । कलवार के हाथ मे गया हुआ दूध भी बुरा समझा जाता है ।)

रहिमन नीचन सग बसि लगत कलक न काहि ।
दूध कलारी कर गहे मद समुझै सब ताहि ।।[2]

(३)

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृश ।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ।।[3]

(जैसी होनी होती है वैसी बुद्धि हो जाती है, वैसा ही उपाय होता है और वैसे ही सहायक मिल जाते हैं ।)

तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलै सहाय ।
आपु न आवे ताहि पै ताहि तहाँ ले जाय ।।[4]

(४)

काता कटाक्ष विशिखा न दहति यस्य
चित्त

. ..

लोक त्रय जयति कृत्स्नमिद सधीर ।[5]

(जिसके चित्त को स्त्रियो के कटाक्षरूपी बाण नही जलाते वही धीर पुरुष तीनो लोको को जीतता है ।)

छिद्यो न तरुनि कटाच्छ सर करेउ न कठिन सनेहु ।
तुलसी तिनकी देह को जगत कवच करि लेहु ।।[6]

(५)

बाल्ये पितुवशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणा भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ।।[7]

---

१ चाणक्य सूत्र, २१५, २१६ ।
२ रहीम, दो० २०६ ।
३ चाणक्य नीति, ६ ६ ।
४ तुलसी, दो० ४५० ।
५ भर्तृहरि नीति, १०६ ।
६ तुलसी, दो० २०६ ।
७ मनु० ५ १४८ ।

(लडकपन मे स्त्री पिता के अधीन, यौवनावस्था मे पति के अधीन तथा विधवा होने पर पुत्रो के अधीन रहे। स्त्री कभी भी स्वतन्त्र होकर नही रह सकती।)

वारी पितु आधीन रहि, जौवन पति आधीन।
बिनु पति सुत आधीन रहि पतित होइ स्वाधीन ॥[1]

(६)

वातोल्लसित कल्लोल धिक ते सागर गर्जितम्।
यस्य तीरे तृषाक्रात पान्थ पृच्छति वापिकाम् ॥[2]

(रे सागर, हवा के थपेडे से उठी हुई लहरो द्वारा गर्जना करने वाले तुम्हे धिक्कार है, क्योकि, तुम्हारे तट पर आकर बटोही को पानी के लिए बावली की खोज करनी पडती है।)

गरजै वातन तै कहा धिक नीरधि गम्भीर।
विकल विलोकै कूप पथ तृषावन्त तो तीर।
तृषावन्त तो तीर फिरै तुहि लाज न आवै।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज विभौ दिखावै।
बरने दीनदयाल सिंधु तोको को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात वृथा वातन तै गरजै।[3]

(७)

न वेत्ति यो यस्य गुण प्रकर्ष स तस्य निन्दा सतत करोति।
यथा किराती करि कुम्भ जातामुक्ता परित्यज्य विभर्ति गु जाम्।[4]

(जो जिसका गुण नही जानता वह उसकी निन्दा सदा करता है। जैसे भीलनी गजमुक्ता छोड कर गुजा पहनती है।)

नहि जानत गुन जासु कौ जो तिहि निंदत जाइ।
गजमुक्ता तजि कै अधम गु जा लेत उठाइ ॥[5]

पालि और हिन्दी—

(१)

नारी के स्वभाव एव मन को प्राय. लोगो ने अगम्य और अबोधगम्य आदि कहा है। तुलसी ने मानस मे लिखा है—

---

१ रत्न०, ३७।
२ सु० रत्न० भां०।
३ दीनदयाल गिरि।
४ स्फुट।
५ विक्रम सत०, ३३३।

सत्य कहहिं कवि नारि स्वभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ।

रामचरित उपाध्याय ने ब्रज सतसई में कहा है—

विधि गति तियमति सूम वित नृप अरु कुजन विचार।
जो जन जानै ताहि की महिमा गही अपार।

'दुराजान जातक' में भी एक गाथा में स्त्री के विषय में यही भाव व्यक्त किया गया है—

मा सु नन्दि इच्छति म मा सु सोचि न इच्छति।
थीन भावो दुराजानो मच्छस्सेवोदके गत ॥[1]

(मुझे चाहती है, सोच कर प्रसन्न न हो और मुझे नहीं चाहती है सोच कर शोक न करो। पानी में मछलियों की चाल की भाँति स्त्रियों के मन की बात जाननी दुष्कर है।)

(२)

स्त्री के लिए उसका पति ही सर्वस्व है। उसके विना न तो उसकी 'पति' रहती है और न उसकी गति होती है। हिन्दी कहावत भी है—

पति बिनु पति नाहिं। पति बिनु गति नाहिं॥

रत्नावली ने भी कहा है—

पति गति, पति वित, मित पति, पति सुर गुर भरतार।
रतनावलि सरवस पतिहि बन्धु बन्धु जग सार॥[2]

'उच्छग जातक' में भी यही स्वर है—

नग्गा नदी अनोदिका नग्ग रट्ठ अराजिक।
इत्थीपि नग्गा यस्सापि दस भातरो॥[3]

(विना पानी के नदी नग्न होती है, बिना राजा के राज्य नग्न होता है। विधवा स्त्री नग्न होती है चाहे उसके दस भाई क्यों न हो?)

राजा के विषय में तुलसी ने कहा है कि यदि उसमें एक अवगुण होता है, तो प्रजा में तीन हो जाते हैं, किन्तु यदि राजा गुणी होता है तो प्रजा भी गुणी हो जाती है।[4] राजोवाद जातक में भी यही बात कही गई है। वहाँ चार गाथाओं[5] का

---

१ जातक १, पृ० ३८९।
२ रत्नावली, दो० ३०।
३ जातक १, पृ० ३९८।
४ तुलसी सत०, पृ० २४६।
५ जातक ३, पृ० २७६-२७७।

भाव यह है कि जिस प्रकार नदी मे तैरने वाली गौवों का नेता यदि टेढा जाता है तो उसके पीछे सभी गायें भी टेढी चली जाती हैं। इसी प्रकार राजा राज्य का नेता है। वह जैसा करता है प्रजा भी वैसा ही करने लगती है।

(४)

ब्रह्मदत्त जातक मे कहा गया है कि दान मांगना रुदन है और किसी के मांगने पर न देना प्रतिरुदन है—

याचन रोदन आहु पञ्चालान रथे सभ।
यो याचन पच्चक्खाति तमाहु पटिरोदन ॥[1]

रहीम ने भी इसी भाव को अपने ढङ्ग से व्यक्त किया है।

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ मांगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ॥[2]

(५)

तुलसी का प्रसिद्ध दोहार्य है—

हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस विधि हाथ।

आशय है कि जब वह अपने हाथ मे नही है तो इसकी क्या चिन्ता है? यही भाव 'कालबाहु जातक' की एक गाथा मे है। गाथा है—

लाभो अलाभो अयसो यसोच।
निन्दा पससा च सुखञ्च दुक्खं।
एते अनिच्चा मनुजेसु धम्म।
मा सोची किं सोचसि पोट्ठपाद ॥[3]

(अर्थात् हे पोट्ठपाद! लाभ-हानि, यश-अपयश, निन्दा-प्रशसा तथा सुख-दुख ये मनुष्य के अनित्य धर्म है। क्यो चिन्ता करता है? चिन्ता मत कर।)

(६)

धम्मपद के 'पण्डित वग्गो' की पहिली गाथाश का भाव यह है कि जो आदमी अपना दोष दिखाने वाले को भूमि मे छिपे धन दिखाने वाले की तरह समझे…… उसका कल्याण ही होता है, अकल्याण नहीं है 'निन्दक' भी दोष दिखाने वाला है जिसको कबीर आगन मे रखने की सलाह देते हैं—

---

१ जातक ३, पृ० २४८।
२ रहीम, दो० २४०।
३ जातक ३।

निन्दक नेणा राखिए आँगणि कुटी बँधाइ।
बिन सावण पाणी बिना निरमल करै सुभाइ ॥[1]

(७)

एकता की शक्ति का लोहा सभी ने माना है। प्राय सभी नीतिकारो ने दो-चार छन्द इस विषय मे लिखे हैं। वृन्द[2] कहते हैं कि कमजोर भी एक होकर शक्ति लगावें तो जो कुछ चाहे कर सकते है। तिनको की बनी रस्सी से हाथी बाँधा जाता है। 'रुक्खधम्म जातक'[3] मे भी एकता की एक महत्ता गाई गई है। वृन्द ने तो कमजोरो को लिया है, पर, उक्त जातक मे बलवानो के लिए भी एकता आवश्यक कही गई है। कहा गया है कि महा वृक्ष तक को अकेले खडे होने पर हवा उखाड देती है। अत. एकता से रहना सभी के लिए श्रेयकर है।

(८)

सन्तोष को सभी ने बहुत बडा धन कहा है। 'धम्मपद' मे एक गाथा है—

आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठी परम धन।
विस्सास परमा ञाती निर्वाण परम सुख ॥[4]

तुलसी का प्रसिद्ध दोहा है—

गोधन गजधन वाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ॥[5]

इसमे भी सन्तोष को परम धन कहा गया है।

प्राकृत और हिन्दी—

(१)

चावो सहाव सरल विञ्छिवइ सर गुणम्मि वि पडतम्।
वकस्स उज्जुअस्स असम्बन्धो किं चिर होइ ॥[6]

(टेढ़े और सीधे का सम्बन्ध सम्भव नही। धनुष टेढा है, अत. तीर उसके गुण पर आता है (अर्थात् आकर्षित होता है) फिर भी फेंक दिया जाता है।)

वृन्द ने भी बिल्कुल इसी बात को दुहराया है—

---

१ कबीर ग्रन्थ०, ८२।
२ वृन्द सत०, १५६।
३ जातक १, पृ० ४२७।
४ धम्मपद, २०४।
५ तुलसी सत०, पृ० १२६।
६ गाथा, ५ २४।

वाँके सीधे को मिलन निवहै नाहिं निदान ।
गुन ग्राही तौऊ तजत जैसे वान कमान ।।[१]

(२)

वडो या सज्जनो के विपय मे एक प्राकृत गाथा है—

उदयम्मि वि अत्थमणे वि धरइ रत्तत्तणं दिवस नाहो ।
रिद्धीसु आवईसु अ तूल्लच्चिय णूण सप्पुरिसा ।।[२]

(सूर्य डूबते समय और उगते समय अर्थात् सुख-दुख दोनो मे अपनी ललाई रखता है अर्थात एक रस रहता है । वडे भी दुख-सुख मे एक रस रहते हैं ।)

इसी भाव को रहीम ने भी अपने दो दोहे मे व्यक्त किया है—

ऊगत जाही किरन सो अथवत ताही कांति ।
त्यो रहीम सुख-दुख सवै वढत एक ही भाँति ।।[३]

तथा

यो रहीम सुख-दुख सहत वडे लोग सहँ सांति ।
उवत चन्द जेहि कान्ति सो अथवन ताही भाँति ।[४]

(३)

दान माँगने वाला वुरा है और मांगने पर देने वाला उससे भी वुरा है । इसी भाव को प्राकृत की गाथा तथा रहीम के एक दोहे मे प्रकट किया गया है ।

परपत्थणापवन्न या जणणि जणेसु एरिस पुत्त ।
मा उयरे वि वरिज्जसु पत्थणभंगो कओ जेण ।[५]

(ऐ माँ ऐसे लडके को जन्म न दो जो माँगने मे तेज हो और ऐसे को तो अपने गर्भ मे स्थान ही मत दो जो माँगने पर ना कर दे ।)

रहीम कहते हैं—

रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जाहिं ।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ।।[६]

---

१ वृ द सत०, २५० ।
२ प्राकृत, सुभाषित ३ ।
३ रहीम, दो० १६ ।
४ रहीम, दो० १६५ ।
५ प्राकृत सुभाषित, ४७१ ।
६ रहीम, दो० २४० ।

(४)

सग का प्रभाव अवश्यमेव पडता है। इसको हिन्दी और प्राकृत दोनो ही के कवियो ने कहा है। इसके लिए दोनो भाषाओ मे सामान्य उदाहरण स्वाती के जल का स्थान-प्रभाव से जहर या मोती होने का है। यहाँ प्राकृत तथा हिन्दी के समान उदाहरण लिए जा रहे हैं।

सा जाई त च जल पत्तविसेसरण अन्तर गरुअ।
अहि मुह पडिअ गरलं सिप्पिउहे मुत्तिय होइ।[१]

(एक ही स्वाती-जल स्थान के सग से विभिन्न प्रकार का हो जाता है, साप के मुंह मे जहर और सीपी मे मोती।)

सूर कहते है—

सीप गयो मुक्ता भयो, कदली भयो कपूर।
अहिफन भयो तो विष भयो सगति को फल सूर।[२]

तथा

मुक्ता कर करपूर कर चातक जीवन जोय।
एतो बडो रहीम जल, ब्याल बदन विष होय।।[३]

(५)

घेप्पइ मच्छाण पए आयासे पक्खिणो य मय मग्गो।
एक्क नवरि न घेप्पइ दुल्लक्ख कामिणी हियय।।[४]

(अर्थात् पानी मे मछली के और आकाश में पक्षी के पदचिन्ह का पता चल सकता है पर स्त्री के हृदय का नही।)

तुलसी कहते हैं—

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिब मुकुर गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई।[५]

अपभ्र श और हिन्दी—

धन की महत्ता का सभी भाषाओ के नीतिकारो ने वर्णन किया है। अपभ्रश का एक दोहा है—

---

१ प्राकृत सुभाषित, ४६२।
२ रहिमन वि०, पृ० १६।
३ रहीम, दो० १५४।
४ प्राकृत सुभाषित, ७६।
५ तुलसी हितोपदेश, पृ० १००।

(१)

रिद्धि विहुणइ माणुसह न कुणइ कुवि समाणु ।
सउणिहि मुच्चउ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ।[1]

(निर्धन का कोई भी सम्मान नही करता । फल रहित पेड को पक्षी छोड देते है, यह प्रमाण है ।)

बैताल ने लिखा है—

गुरु विनु मिले न ज्ञान, द्रव्य विनु मिले न आदर ।
विना पुरुप सिंगार, मेघ विनु कैसे दादुर ।।[2]

(२)

स्त्रियाँ अव्यवस्थित चित्त की और ढुलमुलयकीन होती है । उनका विश्वास नही करना चाहिए । अपभ्र श का एक दोहा है—

सउ चित्तह सट्ठी मणह वतीसडा हियाह ।
अम्मी ते नर ढड्ढसी जे वीससइं तियाह ।।[3]

(सौ चित्त, साठ मन और वत्तीस हृदयो वाली स्त्रियो पर जो विश्वास करते हैं, वे हानि उठाते है ।)

हिन्दी के कई कवियो ने अपने ढग से इसे कहा है । वृन्द कहते हैं—

काहू कियो न कीजिए, तिय जिय को विश्वास ।
गौरि धरी अर्द्ध ग हर, हरि घर-घर मे वास ।[4]

रहीम कहते हैं—

उरग तुरग नारी नृपति नीच जाति हथियार ।
रहिमन इन्हे सँभारिए पलटत लगे न वार ।।[5]

(३)

सज्जन वडाई या धन पाकर अकडते नही वल्कि नम्रता से झुक जाते हैं । किसी हिन्दी कवि का एक सोरठा है—

सज्जन जन झुकि जाँय, पाइ वडाई जगत मे ।
ज्यो द्रुम विटप कराहिं, फल वा फूल ते लदरिकै ।[6]

---

१ हिन्दी के विकास में अपभ्र श का योग, पृ० २७० ।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०१ ।
३ हिन्दी के विकास मे अपभ्र श का योग, पृ० २७३ ।
४ वृन्द सत०, १६६ ।
५ रहीम, दो० ५१ ।
६ नीति छन्द० ।

अपभ्रंश का भी एक दोहा इसी भाव का है—

सुपुरिस कगुहे अगु हरहिं भण कज्जे कवरोग।
जिवँ जिवँ बड्डत्तगु लहहि तिवँ तिवँ नवहि सिरेग।[१]

(कहो किस प्रयोजन से सुपुरुष कगु (एक धान) का अनुसरण करते हैं। ज्यो-ज्यो वे धन पाते हैं सिर झुकाते हैं।) तुलसी ने विद्या के सम्बन्ध मे यही बात कही है—

बर्षहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।[२]

(४)

सन्तो ने मूँड मुडाना तथा पूजा या तीर्थ आदि आडम्बरो का विरोध किया है, जो धर्म नीति के अन्तर्गत है। कबीर लिखते हैं—

तीरथ करि करि जग मुवा, डूंघे पाँणी न्हाइ।
रामहि राम जपतडां काल घसीट्यां जाइ।[३]
पाहन कूं का पूजिए जे जनम म देई जाव।
आंधा नर आसामुषी यौंही खोवै आव।[४]
केसौं कहा बिगाडिया जे मूंडे सौ बार।
मन कौ काहे न मूंडिए जामे विषै विकार।[५]

रामसिंह ने अपने पाहुड दोहे मे भी यही बातें कही हैं—

तित्थइँ तित्थ भमन्त यह कि ण्णेहा फल हूव।
वाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव।[६]

(एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ का भ्रमण करने वालो को कुछ फल न हुआ। बाहर तो पानी से शुद्ध हो गया पर अभ्यन्तर का क्या हुआ ?)

देवलि पाहगु तित्थि जलु पुत्थइ सव्वइ कव्वु।
वत्थु जु दीसइ कु सुमियउ इधणु होसइ सव्वु।[७]

---

१ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २८२।
२ मानस ४ १४ २ (गीता प्रेस)।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३७।
४ वही, पृ० ४४।
५ वही, पृ० ४६।
६ पाहुड, पृ० १६२।
७ वही, पृ० १६१।

(देवालय मे पाषाण है, तीर्थ मे जल है और सब पोथियो मे काव्य है । जो वस्तु फूली-फली दीखती है वह सब ईधन हो जायगी ।)

मुडिय-मुडिय मुंडिया । सिरु मु डिय चित्तु ण मु डिया ।
चित्तहं मु डणु जि कियउ । ससारह खडणु तिं कियउ ।[1]

(हे मूंड मु डाने वालो मे श्रेष्ठ मु डी ! तूने सिर तो मुंडाया है पर चित्त को न मूडा । जिसने चित्त का मुण्डन कर डाला उसने संसार का खण्डन कर डाला ।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो और उनके नीति-अशो ने हिन्दी नीति-काव्य को नीति कहने की परम्पराओ, शैलियो, छन्द, अलकार तथा भाव आदि सभी क्षेत्रो मे पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है ।

---

१ पाहुड़०, पृ० १३५ ।

: ४ :

हिन्दी नीति काव्य पर युग-प्रभाव

संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश से रिक्थ रूप में मिली यह नीति परम्परा हिन्दी मे, जैसा कि स्वभाविक है, युग से प्रभावित होती रही है। पीछे नीति के वर्गीकरण मे इस बात का सकेत किया जा चुका है कि नीति की कुछ बातें शाश्वत महत्त्व की होती हैं और कुछ सामयिक या तात्कालिक। सामयिक या तात्कालिक महत्व की नीति अस्थायी होती है और युग की परिस्थिति के अनुकूल इसका विकास, ह्रास या इसमें परिवर्तन आदि प्राय· होता है। स्थायी या शाश्वत नीति में इस प्रकार के परिवर्तन प्राय नही होते, हाँ युग विशेष मे उनके महत्व में कमी-वेशी अवश्य सम्भव होती है।

हिन्दी नीति काव्य पर कुछ विस्तार से युग-प्रभाव देखने के पूर्व यहाँ उस पर ऐतिहासिक दृष्टि डाली जा सकती है। राजनीति और सामाजिक इतिहास के विद्यार्थी से यह बात छिपी नही है कि हिन्दी के आदि काल में उत्तर भारत में युद्ध और धर्म के स्वर प्रमुख थे। सामूहिक या राष्ट्रीय वीरता का तो अभाव था पर वैयक्तिक वीरता अपनी चरम सीमा पर थी। इस क्षेत्र के लोग जीवन की चरम सार्थकता युद्ध मे लडते-लडते मर जाने में मानते थे। आल्हखण्ड का रुपना बारी अपने द्वारा किए गए कार्यो के पुरस्कार स्वरूप कोई वस्तु या धन आदि न माँगकर थोडी देर तक लडाई करने का नेग माँगता है। आलहखण्ड की प्रसिद्ध पक्ति में उस युग की यह भावना जैसे साकार हो उठी है—

बरिस अठारह छत्री जीवे, आगे जीवन को धिक्कार।

दूसरी ओर सिद्धो, नाथों और जैनो के सम्पर्क मे रहने वाले लोग धर्म के विविध रूपो की साधना मे जीवन की सार्थकता मानते थे। आल्हखण्ड की एक दूसरी पक्ति ने उस युग की इन दोनो ही विशेषताओ को बडे सुन्दर ढग से व्यक्त किया है—

जननी ऐसा बेटा जनिये, कै सूरा कै भक्त कहाय।

ऐसी स्थिति मे यह सर्वथा स्वाभाविक है कि तात्कालीन साहित्य के नीति अश मे इन दोनो की प्रधानता हो। पृथ्वीराज रासो तथा आल्हखण्ड के नीति छन्द तत्कालीन राजनीति तथा युद्ध विषयक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं तो गोरखनाथ के भक्ति विषयक भावना का। रासो का एक छन्द है—

सोइ ज मूर मा ध्रम्म, जुग्ग सा ध्रम्म न पुज्जै ।
दया दान दम तित्थ, सबै सा ध्रम मनि रुज्भै ।
सामि ध्रम्म बर मुगति, नरक बर तित्थ निवासौ ।
मुनि हमीर सा ध्रम्म, करै सुरपुर नर वासौ ।
मा ध्रम्म मुगति वधै रवन, सामि ध्रम्म जस मुगति वर ।
अवकित्त कित्त करतार कर, नरक चूक भुभ्भौति नर ।[1]

छन्द से स्पष्ट है कि युद्ध और राजनीति के सम्पर्क मे रहने वाले लोगो के लिए दया, दान, तीर्थ. धर्म आदि से वढ कर स्वामिधर्म या स्वामी के लिए युद्ध मे मर मिटना था। अन्तिम पक्ति मे कवि स्पष्टत कहता है कि 'अपकीर्ति और कीर्ति, यो तो विधाता के हाथ मे है पर नरक से वचने का उपाय युद्ध मे लड मरना है।' इस प्रकार की नीति के अन्य भी वहुत मे छन्द रासो मे हैं। आल्हखण्ड मे उस समय की युद्ध नीति के सम्वन्ध मे एक स्थान पर कहा गया है—

भजै सिपाही कौ ना मारै ना औरत पर डारै हाथ ।

तत्कालीन साधु-सन्तो एवं धार्मिक व्यक्तियो मे आचार-विषयक भ्रष्टताएं वहुत अधिक प्रचलित थी। इसी कारण गोरखनाथ मे जो धर्म और आचार नीति है, उसमे इन भ्रष्टताओ के विरोध की ही प्रधानता है।

भक्तिकाल आते-आते देश मे भक्ति के वातावरण का प्राधान्य हो गया, पर उसके आदर्श रूप और धार्मिक व्यक्तियो की यथार्थ स्थिति मे वहुत अन्तर था। इसी कारण कवीर आदि सन्तो के नीति अश मे व्यर्थ के धार्मिक आडम्वरो के प्रति विद्रोही स्वर का प्राधान्य है। तुलसी का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। उन्हे भारतीय संस्कृति के अनुकूल हिन्दू समाज नही दिखाई पडा अत उस दृष्टि से उन्होने उसकी आलोचना करते हुए, उसे उचित पथ पर लाने के लिए, अपने नीति और उपदेश के छन्दो की विविध सन्दर्भो मे रचना की। तत्कालीन नीतिकारो का तीसरा वर्ग रहीम, देवीदास, नरहरि, टोडरमल, वीरवल तथा गग आदि का है। इन सभी का सम्वन्ध उच्च शिष्ट-समाज तथा राज्य-दरवारो से था अत इनके नीति काव्य मे तत्कालीन व्यवहार-नीति, समाज-नीति तथा राजनीति के सामान्य सिद्धान्त मुखरित हुए हैं। इस काल मे राजनीति और युद्ध का आदिकालीन वातावरण नही था, अत उस प्रकार की नीति का दर्शन प्राय. नही होता।

रीतिकाल तक आते-आते भक्तिकालीन भक्ति का यथार्थ रूप लगभग तिरोहित हो चुका था, यदि कही कुछ अवशेप था तो वह यथार्थ न होकर प्राय छाया मात्र

---

१ पृथ्वीराज रासो, छं० ६९३, स० ६६ ।

रसनिधि ने भी लिखा है—

हिन्दू में क्या और है, मुसलमान में और।
साहिब सबका एक है, व्याप रहा सब ठौर ॥[१]

हिन्दू और मुसलमान दोनो ही में अपने धर्म को दूसरे से बडा समझने की भावना थी। सूफी कवि दीन दरवेश ने इसकी ओर लक्ष्य करके कहा है—

हिन्दू कहैं सों हम बडे, मुसलमान कहैं हम्म।
एक मूंग दो फाड है, कुण जादा कुण कम्म ॥
कुण जादा कुण कम्म कभी करना नही कजिया।
एक भगत हो राम दुजा रहिमान सो रजिया।
कहै दीन दरवेश दोय सरिता मिल सिन्धू।
सबका साहब एक एक मुसलिम एक हिन्दू ॥[२]

हिन्दू और मुसलमानो के धर्माडम्बर—

इस युग मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही अपने धर्मों की मूल भावना भूल चुके थे और बाह्याडम्बरों को ही धर्म की आत्मा मान बैठे थे। हिन्दी के तत्कालीन नीतिकारो ने विशेषत सन्तो ने इसका घोर विरोध किया है।

हिन्दू के बाह्याडम्बरो मे माला फेरना, तीर्थ, व्रत, केश बढाना, बाल मुडाना, रगे कपडे पहनना, मूर्ति पूजना तथा हवन आदि करना प्रधान हैं। इनके तत्व को समझकर इनके आधार पर आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है, पर उस युग के हिन्दू तथा साधु आदि इनको ही सब कुछ मान बैठे थे और इस प्रकार साधन को साध्य मानने की पथभ्रष्टता मे सभी तिरोहित हो रहे थे। हिन्दी नीति काव्य से इसके विरोध सम्बन्धी कुछ छन्द यहाँ उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं।

माला—

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर।
करका मन का छाडि दे मन का मन का फेर।[3]

मूर्ति-पूजा—

किरतिम देव न पूजिए, ठेस लगे फुटि जाय।
कहे मलूक सुभ आतमा चारो जुग ठहराय।[४]

---

१ सतसई सप्तक, पृ० १७८।
२ सूफी काव्य सग्रह, पृ० २२०-१।
३ कबीर ग्रन्थ, पृ० ४५।
४ मलूक बा०, पृ० ३६।

जेती देपौं आतमा तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव है नही पाथर सूँ काम ॥[१]

तीर्थ—

कोई दौडे द्वारिका कोई कासी जाहि।
कोई मथुरा को चले साहिव घट ही माहि ॥[२]

व्रत तथा कर्मकाड—

तीर्थ व्रत तप करहि बहु विधि होम जग जप दान।
याहि माँ पचि रहत निसि दिन धरचो नाही ध्यान ॥[3]

कथादि सुनना—

कैसेहु मुक्ति न होयगी कोटिक सुनो पुरान।[४]

इस प्रकार के सभी आडम्बर रीतिकालीन युग मे भी थे। बिहारी ने इन पर व्यङ्ग किया है।[५] इस प्रकार की कुछ बाते अपभ्रंश काल मे भी थी, इसी कारण वहाँ भी इसके कुछ चित्र मिलते हैं। पर मध्य युग मे ये पराकाष्ठा पर पहुँच गई और वही दशा प्राय अब तक है। मुसलमानो मे भी कुरवानी चढाना, नमाज पढना तथा मक्का-मदीना की तीर्थ यात्रा करना आदि आडम्बर थे। इसका भी हिन्दुओ के आडम्बरो के साथ ही तत्कालीन नीति काव्य मे विरोध हुआ।

तीर्थ—

मक्का मदिना द्वारिका, बद्री और केदार।
बिना दया सब झूठ है कहैं मलूक विचार ॥[६]

गाय की कुरवानी—

हज कावैं ह्वौ जायगा आगे मिल्या खुदाइ।
साईं मुझस्यो लर पर्‌या तुझै किन फुरमाई गाइ ॥[७]

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४४।
२ दादू बा०, पृ० १४८।
३ जगजीवन शब्द, पृ० १४।
४ मलूक बा०, पृ० ३६।
५ जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन कांचै नाचै वृथा सांचै रांचै राम ॥ —बिहारी सत०, ६८०।
६ मलूक बा०, पृ० ३७।
७ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २६२।

मुल्ला की बाँग—

मुल्ला मुनारे क्या चढहिं, साँई न बहरा होइ।
जा कारन तूं बाँग देहि दिल ही भीतरि होइ॥[१]

शैव और वैष्णव—

हिन्दुओ मे उस समय वैष्णव, शैव और शाक्त ये तीन सम्प्रदाय थे। शैवो और वैष्णवो मे भी हिन्दू और मुसलमानो की ही भाँति बहुत विरोध था। इस विरोध को दूर करने के लिए ही मानस मे तुलसी ने राम के हाथ से शिवलिंग की स्थापना कराई है तथा राम के मुख से धर्मनीति के सम्बन्ध मे कहलाया है—

सिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा॥
सकर विमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥[२]

शाक्त—

शाक्त लोग उस युग मे बहुत घृणित हो गए थे। मद्य, मास आदि को उनकी उपासना मे स्थान मिल चुका था। इसीलिये सन्तो ने अपनी साखियो मे न केवल मद्य मांस का विरोध किया अपितु शाक्तो को भी फटकारा। कबीर कहते हैं—

चन्दन की कुटकी भली ना बबूर की अवराउँ।
बेस्नों की छपरी भली ना साषत का बड गाँउ॥[३]
साषत से सूकर भला सूचा राखे गाँव॥[४]
मारी मरौं कुसग की केले निकटि जु बेरि।
उह झूलै उह चीरियै साकत सगु न हेरि॥[५]

हिन्दू धर्म सम्बन्धी सामान्य स्थिति—

तुलसी ने मानस तथा दोहावली मे कलियुगी धर्म की रूपरेखा प्रस्तुत करने के बहाने भी लोगो को यथार्थ धर्म का उपदेश दिया है तथा तत्कालीन धार्मिक विशृंखलता पर व्यग्य किया है। कहना न होगा कि इसी प्रकार के सभी वर्णन तत्कालीन युग से न केवल प्रभावित हैं, अपितु पूर्णरूपेण उस पर ही आधारित हैं। तुलसी के कुछ इस प्रकार के छन्द यहाँ उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं—

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २५८।
२ मानस, ६ २ ४।
३ कबीर ग्र०, पृ० ५२।
४ वही, पृ० ३६।
५ वही, पृ० २५७।

नारि मुई गृह सपति नासी ।
मूड मुडाय होहि सन्यासी ॥[1]
..

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि वेद पुरान ।[2]
... .

निराचार जे श्रुतिपथ त्यागी । कलियुग सोइ ग्यानी सो विरागी ॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥
असुभ वेष भूषन धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं ।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माहिं ॥[3]
ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसर बात ।
कौडी लागि लोभ वस करहिं बिप्र गुर घात ॥
वादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो विप्र वर आँखि देखावहिं डाटि ॥[4]
....

स्रुति समत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति विवेक ।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पथ अनेक ॥[5]
... ...

सकल धरम बिपरीत कलि कल्पित क्रोटि कुपथ ।
पुन्य पराय पहार बन दुरें पुरान सुग्रथ ॥[6]
. ..

सुर सदननि तीरथ पुरिन निपट कुचालि कुसाज ।
मनहुँ मवासे मारि कलि राजत सहित समाज ॥[7]
....

वरन धर्म नहिं आश्रम चारी । श्रुति विरोध रत सब नर नारी ।[8]

---

१ मानस, ७. १०० ३ ।
२ तुलसी, दो० ५५४ ।
३ मानस ७ ९८ ।
४ मानस ७ ९९ ।
५ तुलसी दो०, ५५५ ।
६ वही, ५५६ ।
७ वही, ५५८ ।
८ मानस ७ ९८ १ ।

धर्म की इस अवनति का कारण था लोगो मे अविद्या का प्रचार। जब ब्राह्मण ही निरक्षर थे, तो और लोगो के सम्बन्ध मे कहना ही क्या ?

विप्र निरक्षर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।[१]

इसीलिए कबीर ने इस युग के ब्राह्मणो पर बहुत व्यग्य किये हैं—

ब्राह्मण गुरू जगत का साधू का गुरु नाहि।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या चारिउँ वेदाँ माँहि।।

तथा

कलि का ब्राह्मण मसकरा ताहि न दीजै दान।
स्यौ कूटउ नरकहि चलै साथ चल्या जजमान।।[२]

समाज—धर्म की भाँति ही तत्कालीन समाज भी बडा विश्रृङ्खल हो गया था। तुलसी ने मानस के उत्तरकाड[३], दोहावली[४] तथा सतसई के सप्तम सर्ग[५] मे कलियुगी समाज के चित्र द्वारा सामान्य लोग, सधवा, विधवा, गुरु, शिष्य, पुत्र, धनी, गुणी, पडित, माता-पिता, असत्यभाषी तथा दोष-दर्शक आदि के सम्बन्ध मे जो नीति की बातें व्यग्य रूप से कही हैं पूर्णत तत्कालीन समाज से ही उद्भूत है। इस प्रकार के कुछ छन्द यहाँ देखे जा सकते हैं।

प्रीति लगाई सकल विधि बनिज उपाय अनेक।
कल बल छल कलिमल मलिन डहकत एकहि एक।।[६]

...

दभ सहित कलि धरम सब छल समेत व्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार।।[७]
चोर चतुर, बटमार, नट, प्रभुप्रिय भँडुवा भड।
सब भक्षक परमारथी, कलि सुपथ पाषड।।[८]

...

१ मानस, ७ १०० ४।
२ कबीर ग्रन्थ, पृ० ३६।
३ मानस, ७. ६८ १०२।
४ तुलसी दो०, ५३७–७३।
५ तुलसी सत०, ७ ६१–६४, १२०—३।
६ तुलसी दोहा०, ५४७।
७ वही, ५४८।
८ तुलसी दोहा०, ५४६।

जे अपकारी चार, तिनकर गौरव मान्य तेइ।
मन वच करम लबार, ते बकता कलिकाल महँ।[1]

... ...

सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड आचारी।
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना।[2]

... ...

गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी।
सौभागिनी बिभूषन हीना। विधवन्ह के सिंगार नवीना।
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई।[3]

... .

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।[4]
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।

.. ..

सुत मानहिं मातु पिता तबलौं। अबलानन दीख नही जब लौ।[5]

... ...

कलि काल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कौ अनुजा तनुजा।
नहिं तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भए मगता।।[6]

समाज की यही दशा रीतिकाल मे भी थी, यद्यपि उस युग मे लिखित बहुत कम नीति के छन्दो मे इसके प्रतिबिम्ब हैं। दो उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं। ऊपर तुलसी की 'सुत मानहिं.........' अर्द्धाली उद्धृत है।

गिरिधर ने भी प्राय यही बात कही है—

बेटा बिगरो बाप सो करि तिरियन को नेहु।
लटा पटी होने लगी मोहिं जुदा करि देहु।
मोहिं जुदा करि देहु घरी मे माया मेरी।
लेहौं घर अरु द्वार करौं मैं फजिहत तेरी।

---

१ तुलसी दोहा०, ५५१।
२ मानस, ७. ९८. ३।
३ वही, ७ ९९. २–४।
४ वही, ७. १०१ १।
५ वही, ७ १०१ २.।
६ मानस, ७. १०२. ३।

एव उसकी पृष्ठभूमि से बहुत से अशो मे भिन्न है। सन् १९३० के पूर्व पूरा आधुनिक युग धार्मिक, सास्कृतिक और राजनीतिक आन्दोलनो का था। काग्रेस, आर्यसमाज एवम् पश्चिम के प्रभाव तथा अन्य छोटी-मोटी बहुत सी सस्थाओ और सुधारवादी आन्दोलनो के कारण इस युग मे जीवन के हर क्षेत्र मे सुधारो के स्वर तीव्र थे, जिसके फलस्वरूप इस युग का साहित्य भी इन्ही भावनाओ से ओत-प्रोत था और प्राय साहित्यकार

केवल मनोरजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमे उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ॥[1]

के मानने वाले थे। बीसवी सदी के प्रारम्भिक दो-तीन दशको की बहुत सी कविता पुस्तकें तथा सरस्वती, मर्यादा, विद्यार्थी, प्रभा, लक्ष्मी, इन्दु, मनोरजन एव प्रताप आदि की बहुत सी कविताएँ उपदेशात्मक तथा नीतिपरक हैं। ये युग की सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं, अत युग से पूर्णतया सम्बद्ध हैं। इनमे युग की पुकार है। युग ने इनको प्रभावित किया है और बाद का युग इनसे प्रभावित हुआ है।

आधुनिक नीति साहित्य पर युग के प्रभाव को देखने के लिए

(अ) धर्म
(आ) राजा तथा कर्मचारी
(इ) राष्ट्रीयता
(ई) समाज
(उ) व्यवसाय
(ऊ) शेष

ये छ शीर्षक लिए जा सकते हैं। यहाँ इन पर निम्नाकित उपशीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जा रहा है।

(अ) धर्म—

विश्व की सच्चाई—हिन्दू धर्म ग्रन्थो मे विश्व को विवर्त और भ्रम कहा गया है। इसी के फलस्वरूप मध्ययुग मे 'धुवाँ के से धौरहर' कह कर इसे अस्तित्वहीन और माया-जाल आदि कहा गया। भक्ति और रीतिकाल मे इस भाव के सहस्रों छन्द मिल सकते है, पर आधुनिक युग मे यह भाव बदल गया और विश्व को जजाल मात्र कह कर उमसे दूर भागना पलायनवाद कहा गया। जिस विश्व मे रह कर हम कर्म करते

---

१ मैथिलीशरण गुप्त, इन्दु, कला ५, किरण १, पृ० ९५।

हैं, उसे अपने जीवन काल मे सत्य मानना ही होगा। श्रीधर पाठक ने अपनी "जगत सचाई सार" कविता मे इसी भाव को व्यक्त किया है—

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा झूठा है यह सब ससार।
थोथा झगडा जी का रगडा केवल दुख का हेतु अपार॥

.. ....

जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद।
पीओ, खाओ, सब सुख पाओ, कभी न लाओ मन मे खेद॥[1]

वियोगी हरि ने भी अपनी "वीर सतसई" मे विश्व को झूठा मानने का विरोध किया है और जगत को मिथ्या कहने वालो को फटकारा है—

परग्वतु जीवन जोहरी प्रान रत्न जहँ गूढ।
ता साचे ससार को कहत असाँचो मूढ॥

.. .

जा जग की रोटीन तें सूझतु अलख अनत।
मिथ्या ताको कहत ए निलज निठल्ले सत॥[2]

साधु—एक समय था जब साधु साधना मे लीन और ससार से विरक्त रहते थे, पर आज उनकी दशा बिल्कुल ही उलटी है। यही कारण है कि आज का प्राय पूरा शिक्षित समाज उनका विरोधी है। कई आधुनिक नीतिकारो ने भी साधुओ पर व्यग्य किये हैं। आज के बहुत से साधु रँगा वस्त्र पहनते हैं तथा शरीर पर राख मलते हैं। हरिऔध ने लिखा है—

रँगा जो रग मे उसके बना जो धूल पावो की।
रँगेगा वह वसन क्यो राख तन पर वह मलेगा क्या ?[3]

ये साधु बात तो वेदान्त की करते हैं पर इनका कर्म अत्यन्त निंद्य है। वियोगी हरि कहते हैं—

कथत मथत वेदात पै रचत मद छर-छन्द।
बहु किमि कामानन्द ए ह्वैहै रामानन्द॥[4]

---

१ जगत सचाई सार, पृ० १।
२ वीर सतसई, पृ० ९३।
३ काव्य वाटिका, पृ० २२३।
४ वीर सत०, पृ० ९३।

एक अन्य कवि ने भी कहा है—

जाति-पाँति सब व्यर्थ है, एक पिता भगवान।
सब उसके ही पुत्र है, सब हैं एक समान।।[१]

जाति का विरोध मध्य युग मे भी सतो ने किया था। प्रसिद्ध है—

जाति पाँति पूछै ना कोय।
हरि को भजे सो हरि का होय।।

सर्व धर्म-समभाव—सर्व धर्म समभाव आधुनिक युग की चीज है। ब्रह्म समाज, थियासाफिकल सोसाइटी तथा गाधी जी के कारण इसका भारत मे प्रचार हुआ है। गाधी जी इसके दर्शन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य हैं। उसे भाषा मे मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जब तक वह दृष्टि बनी है, तब तक सच्चे हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नही है। इसीलिए हमें सब धर्मो के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नही आती बल्कि स्वधर्म विषयक प्रेम अन्धा न रह कर ज्ञानमय हो जाता है। सब धर्मो के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते है। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म ज्ञान होने पर अन्तराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहिचान सकते हैं।"[२] आधुनिक नीति काव्य में भी सर्व धर्म समभाव की भावना को अभिव्यक्ति मिली है

ईसाई हिन्दू जवन ईसा राम रहीम।
बैबिल वेद कुरान मे जगमग एक असीम।।[3]

तथा

एक पिता के पुत्र सब सभी धर्म सम जान।
यदि यथार्थ रति धर्म मे और सत्य-पहचान।।[४]

अहिंसा—अहिंसा को प्राचीन साहित्य में भी स्थान मिला है, पर गाधी जी की अहिंसा उससे भी आगे है। पहले हिंसा का अर्थ किसी का जीव-हनन लिया जाता

---

१ नीति छन्द०।

२ धर्मनीति, पृ० १५९।

३ दुलारे दो०, ११३।

४ नीति छन्द०।

रहा है, पर गाधी जी ने इसकी बडी व्यापक व्याख्या की है। वे अहिंसा के बारे मे लिखते हैं—

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नही है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।"[1]

आधुनिक नीति काव्य मे गाधीजी की इस नवीन हिंसा को ही अपनाने का उपदेश दिया गया है। महेशचन्द्र प्रसाद अपनी "स्वदेश सतसई" मे लिखते है—

टारहु हिंसा हिय सो गाधी टेर।
आदि अन्त यह उनके मृदु-मत केर।
मानव नियम अहिंसा धर्म निधान।
हिंसा नियम पशुन को पाप प्रधान।[2]

अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। गांधीवाद मे सत्य तथा अहिंसा आदि की भाँति ही इस शब्द का भी व्यापक अर्थ है। गाधी जी ने अपने "मगल प्रभात" मे इसकी विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी की कोई चीज चोरी से ले लेना मात्र ही चोरी नही है, अपितु अपनी आवश्यकता से अधिक किसी भी चीज का प्रयोग या उसे अपने पास रखना भी चोरी है। गाधी जी ने लिखा है—

"वस्तुत अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नही है और प्राय हम सब अपनी जरूरतो को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने ही चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतो को घटा सकते हैं। अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकता कम करता जायगा।"[3]

गाधी जी ने इस प्रसग मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि इस संसार मे अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भग से पैदा हुई है।[4]

इसका आशय यह है कि आज के बहुत से लोग और प्रधानत सभी धनिक चोर हैं।

अस्वाद के लिए उद्धृत किए गए छन्द मे अस्तेय के सम्बन्ध मे भी उल्लेख

---

१ धर्मनीति, पृ० १२२।
२ स्वदेश सत०, पृ० २५, २६।
३ धर्मनीति, पृ० १३९।
४ वही, पृ० १३९।

एक अन्य कवि ने भी कहा है—

जाति-पाँति सब व्यर्थ है, एक पिता भगवान।
सब उसके ही पुत्र है, सब है एक समान ॥[1]

जाति का विरोध मध्य युग मे भी सतो ने किया था। प्रसिद्ध है—

जाति पाँति पूछै ना कोय।
हरि को भजे सो हरि का होय॥

सर्व धर्म-समभाव—सर्व धर्म समभाव आधुनिक युग की चीज है। ब्रह्म समाज, थियासाफिकल सोसाइटी तथा गाधी जी के कारण इसका भारत मे प्रचार हुआ है। गाधी जी इसके दर्शन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

"सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य हैं। उसे भाषा मे मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जब तक वह दृष्टि बनी है, तब तक सच्चे हैं। पर सबका झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमे सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती बल्कि स्वधर्म विषयक प्रेम अन्धा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म ज्ञान होने पर अन्तराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहिचान सकते हैं।"[2] आधुनिक नीति काव्य मे भी सर्व धर्म समभाव की भावना को अभिव्यक्ति मिली है

ईसाई हिन्दू जवन ईसा राम रहीम।
बैबिल वेद कुरान मे जगमग एक असीम ॥[3]

तथा

एक पिता के पुत्र सब सभी धर्म सम जान।
यदि यथार्थ रति धर्म में और सत्य-पहचान ॥[4]

अहिंसा—अहिंसा को प्राचीन साहित्य मे भी स्थान मिला है, पर गाधी जी की अहिंसा उससे भी आगे है। पहले हिंसा का अर्थ किसी का जीव-हनन लिया जाता

---

१ नीति छन्द०।
२ धर्मनीति, पृ० १५६।
३ दुलारे दो०, ११३।
४ नीति छन्द०।

रहा है, पर गाधी जी ने इसकी वडी व्यापक व्याख्या की है। वे अहिंसा के वारे मे लिखते हैं—

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नही है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।"[१]

आधुनिक नीति काव्य मे गाधीजी की इस नवीन हिंसा को ही अपनाने का उपदेश दिया गया है। महेशचन्द्र प्रसाद अपनी "स्वदेश सतसई" मे लिखते है—

टारहु हिंसा हिय सो गाधी टेर।
आदि अन्त यह उनके मृदु-मत केर।
मानव नियम अहिंसा धर्म निधान।
हिंसा नियम पशुन को पाप प्रधान।[२]

अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। गाधीवाद मे सत्य तथा अहिंसा आदि की भाँति ही इस शब्द का भी व्यापक अर्थ है। गाधी जी ने अपने "मगल प्रभात" मे इसकी विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार किसी की कोई चीज चोरी से ले लेना मात्र ही चोरी नही है, अपितु अपनी आवश्यकता से अधिक किसी भी चीज का प्रयोग या उसे अपने पास रखना भी चोरी है। गाधी जी ने लिखा है—

"वस्तुत अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नही है और प्राय हम सब अपनी जरूरतो को आवश्यकता से अधिक वताते और इससे अनजाने ही चोर बन जाते है। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतो को घटा सकते हैं। अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकता कम करता जायगा।"[३]

गांधी जी ने इस प्रसग मे सबसे महत्त्वपूर्ण वात यह कही है कि इस ससार मे अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भग से पैदा हुई है।[४]

इसका आशय यह है कि आज के बहुत से लोग और प्रधानत सभी धनिक चोर हैं।

अस्वाद के लिए उद्धृत किए गए छन्द मे अस्तेय के सम्बन्ध मे भी उल्लेख

---

१ धर्मनीति, पृ० १२२।
२ स्वदेश सत०, पृ० २५, २६।
३ धर्मनीति, पृ० १३९।
४ वही, पृ० १३९।

महेशचन्द्र प्रसाद ने भी अपनी स्वदेश सतसई मे इसी ओर लक्ष्य करके शासन से कहा है—

विष विटपौ काटत अति उपजत मोह ।
प्रजा पुज पाटत महि तनिक न छोह ।।[1]

सरकारी कर्मचारी—सरकारी कर्मचारी गण अब तो कुछ सुधर गए है, नही तो भारत की स्वतन्त्रता के पूर्व तक उनकी मनोदशा बडी विचित्र थी । स्वार्थ, अह, राष्ट्र-द्रोह तथा अन्याय की वे साक्षात प्रतिमूर्ति थे और घूस तथा वेगार आदि लेना उनकी शोभा थी । आधुनिक नीति काव्य मे इस विषय की ओर सकेत किया गया है । भारतेन्दु की एक मुकरी है—

मतलब की ही बोलै बात ।
राखें सदा काम की घात ।
डोलैं पहिने सुन्दर समला ।
क्यो सखि साजन नहिं सखि अमला ।।[2]

महेशचन्द्र प्रसाद ने अपनी स्वदेश सतसई मे लिखा है—

राजा इक वर चाहत चर चर चार ।
निसि अँधियार वढावत निसिचर कार ।
सरकारी सेवक औ स्नेह स्वदेश ।
कप्फन ढक्यो मृतक जनु लख नभ-भेस ।
धिक चाकरि जहँ जननी चरचा पाप ।
देस दास दुर वादक जहँ नित जाप ।[3]

एक कुण्डलिया मे सरकारी नौकरो का बडा सुन्दर चित्र है—

सरकारी नौकर हुए जैसे हैं सर्वेश ।
अपनी मनमानी करें भोगें नित नव ऐश ।
भोगें नित नव ऐश अह मे रहते साने ।
नियम दया अरु सत्य न्याय का नाम न जानै ।
खाना जानै घूस और लेना वेगारी ।
धन्य अमा को राज्य धन्य कौसिक सरकारी।[4]

---

१ स्वदेश सत०, ४०८ ।

२ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८११ ।

३ स्वदेश सत०, ६३४-३६ ।

४ नीति छन्द० ।

यथार्थत सरकारी कर्मचारी को इन अवगुणो से रहित होना चाहिए ।

पुलिस—ऊपर 'सरकारी कर्मचारी' पर लिखा जा चुका है । पुलिसो के सम्बन्ध मे नीति काव्य मे अलग भी कहा गया है ।[1] आज की पुलिस अपनी असत्य-वादिता तथा धूर्तता आदि के लिए प्रसिद्ध है । प्रजा का भक्षरण करती है । भारतेन्दु की एक मुकरी है—

रूप दिखावत सरवस लूटै । फन्दे मे जो पडे न छूटे ।
कपट कटारी हिय मे हुलिस । क्यो सखि साजन नहिं सखि पुलिस ।[2]

पाटन ने अपने ज्ञान सरोवर मे पुलिस से सर्वदा सतर्क रहने को कहा है—

सूम, सोनार, पुलिस को चाकर पातक विप्र लबार जुआरी ।
पाटन भूलि करो न प्रतीति रखो इन बीसहुँ ते हुसियारी ।[3]

एक अन्य कवि ने पुलिस के सारे गुणो को एक ही दोहे मे दिखला दिया है—

घूस, धूर्तता भूठ अरु राक्षसीय व्यवहार ।
सबने मिल कर लिया है पुलिस रूप अवतार ।[4]

अँग्रेजी शासन पुलिस के ही बल पर था और पुलिस के व्यक्ति प्राय भारतीय ही थे, अत, उनका राष्ट्रविरोधी व्यवहार देशद्रोह था । एक नीति के कवि ने इस पर बडा सुन्दर व्यग्य किया है ।

पुलिस पाद पै ही इक ठहरो राज । पुलिस-आड पर ही अवलम्बित साज ।
चुटकी भर सेन्दुर को नारि निवाहु । भर माथा को तुम्हरो करहु न काहु ।

अर्थात् नारी तो अपने स्वामी के चुटकी भर सिन्दूर को इतना निभाती है तो पुलिस के सिर पर तो स्वामी द्वारा दी गई पूरे माथे की लाल पगडी है फिर भला वे क्यो न निभावे ?[5]

(इ) राष्ट्रीयता—

देश-प्रेम और उसके उद्धार की भावना—'जननी जन्म भूमिश्चस्वर्गादपि

---

१ सुधा, जनवरी १९३० में शिवमङ्गल पाण्डेय लिखित 'एक अज्ञात कवि' शीर्षक लेख ।

२ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८११ ।

३ ज्ञान सरोवर ।

४ नीति छन्द० ।

५ स्वदेश सतसई, ६५७-५८ ।

गरीयसी' रूप मे मातृभूमि या स्वदेश के प्रति विशेष स्नेह पहले भी प्रकट किया जा चुका है, पर आधुनिक युग में जब से हमे अपनी परतन्त्रता तथा देश की हीन दशा का ज्ञान हुआ, पूरे देश मे देश-प्रेम की एक अप्रतिम लहर दौड गई। आधुनिक नीति काव्य भी इस लहर से अछूता नही रहा है। गुप्त जी लिखते हैं—

ऐसा करो जिसमें तुम्हारे देश का उद्धार हो।
जर्जर तुम्हारी जाति का वेडा विपद से पार हो।[1]

सनेही जी कहते हैं कि, जिसने देश से प्रेम करके मातृभूमि का ऋण नही चुकाया, उसने कुछ भी नही किया—

करके देश-प्रेम मातृ भू ऋण न पटाया।
बन कर जीवन समर सूर निज सर न कटाया॥
उस कुल कपूत से क्या हुआ कुचल काल बल ने दिया।
इस कर्म भूमि मे आपही कहिए उसने क्या किया ?[2]

वियोगी हरि देश-विमुख के सग से नरक का वास अच्छा मानते हैं—

भूलेहुँ कबहुँ न जाइए देश-विमुख जन पास।
देश विरोधी सग तैं भलो नरक कौ वास॥[3]

स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता—'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' कह कर तुलसी ने सदियो पूर्व स्वतन्त्रता के महत्व का ज्ञापन किया था, तथा परतन्त्रता की निन्दा की थी, पर आधुनिक युग मे काग्रेस के कारण इन दोनो के भेद का भारत के कण-कण ने बडी गहराई से अनुभव किया। इस युग की भारत की यह सम्भवत सबसे बडी तथा महत्वपूर्ण अनुभूति है। नीति काव्य मे भी इस युगानुभूति का प्रतिफलन हुआ है। वियोगी हरि अपनी वीर सतसई मे कहते हैं—

जो अधीन तौ छाडियै स्वर्गहु विभव विलास।
जो पै हम स्वाधीन तौ भलो नरक कौ वास॥[4]

गाधी जी के अनुसार बहुत से देश-भक्त धीरे-धीरे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पक्ष मे थे, और इसी प्रकार स्वतन्त्रता मिली भी, पर कुछ लोग इस विचार के भी थे कि थोडी-थोडी भीख की तरह माँगने से स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। गरमदल वालो का यही मत था। नीति का एक दोहा है—

---

१ भारत भारती, पृ० १६४।
२ काव्य वाटिका, पृ० २१८-१६।
३ वीर सत०, पृ० ६१।
४ वही, पृ० ४८।

भीख सरिस स्वाधीनता कन कन जाचत सोधि ।
अरे मसक की पाखुरिन पाट्यो कौन पयोधि ॥[1]

श्रीधर पाठक ने भी स्वतन्त्र लोगो को वन्दनीय और परतन्त्र को निन्दनीय कहा है—

वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अधिमानी हो ।
बाधवता मे बंधे परस्पर परता के अज्ञानी हो ।
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हो ।
सब प्रकार परतन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हो ॥[2]

एकता—एकता की शक्ति का उल्लेख तो प्राचीन नीति के कवि भी कर चुके है, पर, आधुनिक युग मे स्वतन्त्रता प्राप्ति की दृष्टि से विभिन्न धर्मावलम्बियों, जातियो तथा वर्गो की एकता को बहुत महत्त्व दिया गया । आधुनिक नीतिकारो मे प्रायः सभी ने इस दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है । रूपनारायण पाण्डेय लिखते हैं—

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई ।
कोटि कण्ठ मिल कर कह दो हम सब है भाई-भाई ॥[3]

स्वतन्त्रता के पूर्व और कुछ अशो मे बाद मे भी हिन्दू और मुसलमानो मे एकता का अभाव रहा है । इस साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण ही हमारी स्वतन्त्रता बहुत दिनो तक खटाई मे पडी रही । श्री मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं—

आओ मिलें सब देश बाधव हार बन कर देश के ।
साधक बनें सब प्रेम से सुख शान्तिमय उद्देश के ।
क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो ।
बनती नही क्या एक माला विविध सुमनो की कहो ?[4]

पूर्ण जी ने भी कहा है—

बन्दे हो सब एक के नही बहस दरकार ।
है सब कौमो का वही खालिक औ करतार ।
खालिक औ करतार वही मालिक परमेश्वर ।
है जबान का भेद नही मानी मे अन्तर ।

---

१ वीर सतसई, पृ० ४८ ।
२ पद्य संग्रह, पृ० १६५ ।
३ सरस्वती, भाग १४ संख्या ६ ।
४ भारत भारती, पृ० १५७ ।

हो उसके बरअक्स करो मत चर्चे गन्दे।
कह कर राम रहीम मेल रक्खो मब वन्दे।[१]

देश की उन्नति के लिए न केवल धार्मिक अपितु सभी प्रकार क
आवश्यक है। पूर्ण जी ने इसे बडे सुन्दर रूप मे व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

पुर्जे किसी मशीन के हो कहने को साठ।
बिगडे उनमे एक तो हो सब बारह बाट।
हो सब बारह बाट बन्द हो चलना कल का।
छोटा हो या वडा किसी को कहो न हलका।
है यह देश मशीन लोग सब दर्जे-दर्जे।
चलें मेल के साथ उहें क्यो पुर्जे-पुर्जे॥[२]

स्वाभिमान—स्वाभिमान मनुष्य का एक बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है। प
की वेडी मे बहुत दिन तक जकडे रहने के कारण भारत मे स्वाभिमान का
हो गया था। यही कारण था कि हर बात मे हम पश्चिम का विना किसी स
अनुकरण करने लगे थे। स्वदेशी तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन ने हममे स्वाभि
भी लहर दौडा दी। इस आधुनिक हिन्दी नीति काव्य का इस विपय का सबसे
छन्द आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखित है, जिसे कानपुर से प्रकाशित होने
प्रताप ने अपने सिद्धान्त-वाक्य के रूप मे अपना लिया था।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नही नर पशु निरा है और मृतक समान है।

श्रीधर पाठक ने भी स्वाभिमानी व्यक्तियो के देश को वन्दनीय कहा है

वदनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।[3]

स्वाभिमान के अन्तर्गत अपनी सभी चीजो का अभिमान आता है।
मानी व्यक्ति ही यथार्थत स्वतन्त्र है। इसीलिए स्वाधीनता पर लिखते हुए
हरि ने लिखा है—

निज भाषा निज भाव निज असन वसन निज चाल।
तजि परता निजता गहूं यह लिखियौ विधि भाल॥[४]

---

१ पूर्ण सग्रह, पृ० २१२।
२ वही, पृ० २११।
३ पद्य सग्रह, पृ० १६५।

और स्वाभिमानहीन व्यक्ति को परतन्त्र कहा है—

पर भाषा पर भाव पर भूषन पर परिधान।
पराधीन जन की अहै यह पूरी पहिचान ॥[१]

स्वदेशी व्रत—गाधी जी द्वारा चलाए गए स्वदेशी व्रत ने हमारे देश की उन्नति मे बडी सहायता की है। इसे गाधी जी ने "मगल प्रभात" मे इस युग का महाव्रत कहा है। आधुनिक नीति काव्य मे भी स्वदेशी वस्तुओ के प्रयोग पर वल दिया गया है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। लक्ष्मीधर वाजपेयी कहते है—

दशा देश की देखो मित्र। क्या से क्या है हुई विचित्र।
उसका भी कर खूब विचार। भारत का तुम करो विचार।
देशी चीजो का अनुराग। वस्तु विदेशी का कर त्याग ॥[२]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है—

स्वदेशी वस्त्र को स्वीकार कीजै। विनय इतनी हमारी मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो। न जाओ पास उससे दूर भागो ॥[३]

इसके अतिरिक्त वालमुकुन्द गुप्त तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि और भी कई लोगो ने इस विषय पर लिखा है। पर, सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति राय देवी प्रसाद "पूर्ण" की है। उन्होने इस विषय पर वहुत लिखा है। उदाहरण के लिए एक छन्द लिया जा सकता है—

खारा अपना जल पियो मधुर पराया त्याग।
सीठे को मीठा करैं 'पूर्ण' देश अनुराग ॥
पूर्ण देश अनुराग सकल सज्जनो निवाहो।
है जो ह्याँ पर प्राप्त अधिक उससे मत चाहो।
विना विदेशी वस्त्र नही क्या गुजर तुम्हारा।
काफी है जो मिलै होय गाढा या खारा ॥[४]

नेता—यो तो प्राचीन नीति साहित्य मे भी "मुखिया" आदि के रूप मे नेता के सम्वन्ध मे वहुत कुछ कहा गया है और वुद्ध, कवीर, नानक तथा शिवाजी आदि भी अपने युग के नेता ही थे पर आधुनिक युग मे नेता शब्द एक विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और हो रहा है। इन नवीन नेताओ को देखकर आधुनिक नीति मे बहुत सी बातें कही गई हैं।

---

१ वीर सतसई, पृ० ४६।
२ सरस्वती, भाग ८, सख्या ११।
३ सरस्वती, जुलाई १६०३।
४ पूर्ण सग्रह, पृ० २१५।

हमारे देश की सारी राजनीतिक और सास्कृतिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय इन विभिन्न क्षेत्र के नेताओ को ही है। इसका अनुभव श्री मैथिलीशरण गुप्त ने आज से कई दशक पूर्व किया था। उन्होने भारत भारती मे लिखा है—

हे देश नेताओ तुम्ही पर सब हमारा भार है।
जीते तुम्हारे जीत है हारे तुम्हारे हार है ॥[१]

हमारे कुछ नेताओ को छोड कर शेप में प्रधान रूप से चार अवगुण देखे जाते हैं। नीति काव्य मे चारो के विपय मे चेतावनी दी गई है—

पहली बात तो यह है कि बहुत से नेता भाषण मात्र से सम्बन्ध रखते हैं। वे केवल भाषण तथा नारो से ही देश की दशा सुधारना चाहते हैं। रामचरित उपाध्याय ऐसो के लिए कहते हैं—

गला फाडने से न कभी भारत सुधरेगा।
मोदक मोदक रटो कभी क्या पेट भरेगा ॥[२]

दूसरे, बहुत से नेता, नेता बनकर अहं मे डूब जाते हैं और अपने को शासक सा समझने लगते हैं। भगवानदीन कहते हैं कि यथार्थ नेता वही है जो अपने को हारा हुआ समझे अर्थात् अह से शून्य और विनीत हो।

औरो का मन जीतकर हारा समझे आप।
वह नेता नेता नही सत्य प्रजा का बाप ॥[3]

कुछ नेता स्वार्थ मे इतने डूबे रहते हैं कि उनके सारे कार्य अन्ततोगत्वा देश के लिए या जनता के लिए न होकर अपने आप के लिए ही होते हैं। नीति का एक छन्द है—

स्वार्थ न जिसके कोष में वह नेता है साँच।[४]

ऐसे भी नेता कम नही होते जो सत्य बोलने, सादगी से रहने, देशी वस्तुओ का प्रयोग करने तथा सबको अपना भाई समझने आदि का उपदेश तो देते हैं पर स्वय ऐसा नही करते। ये नेता दीपक की भाँति हैं जो अपने नीचे का अँधेरा दूर नही कर पाता पर औरों को प्रकाश देता है।

जिस दीपक ने तम न हटाया निज पैरो का।
उसने क्या उपकार किया धिक् धिक् गैरो का।[५]

---

१ भारत भारती पृ० १७०।
२ सरस्वती, भाग १७, संख्या ६।
३ नीति के दोहे।
४ नीति छन्द०।
५ सरस्वती, भाग १७, सख्या ५।

(ई) समाज—

ब्राह्मण—'अग्रजन्मा' ब्राह्मण आज अत्यन्त पतित हो गए हैं। दामोदर सहाय सिह कहते है—

कलि कौतुक द्विज कुल कुपूत की सुनौ कहानी।
अब केवल उपवीत आइके रही निसानी।
गयी सुद्ध व्यवहार रह्यो पाखण्ड विडवन।
सध्या वन्दन गयो रह्यो इक खण्डन मण्डन।[1]

मैथिलीशरण गुप्त ने भी इनकी अवनतावस्था का चित्र खीचते हुए कहा है—

कुछ शीघ्र बोध रटा कि फिर वे गणक-पुगव बन गए।
पचाग पकडा और बस सर्वज्ञता मे सन गए।
सकल्प तक भी शुद्ध वे साद्य त कह सकते नही।
विन पखरवाए पाद पकज किन्तु रह सकते नही।
जिन ब्राह्मणो ने लोक को सतत तिरस्कृत था किया।
देखो उन्ही के वशजो को आज उसने ग्रस लिया॥
अब आप उनकी दक्षिणा पहले नियत कर लीजिए।
फिर निंद्य मे भी निंद्य उनसे काम करवा लीजिए॥[2]

....

हे ब्राह्मणो फिर पूर्वजो के तुल्य तुम ज्ञानी बनो।
भूलो न अनुपम आत्म गौरव धर्म के ध्यानी बनो॥[3]

यो ब्राह्मणो की मध्ययुग मे भी प्राय यही दशा थी। इसी कारण तुलसी आदि मध्ययुगीन कवियो मे भी इनके ये चित्र कही-कही मिल जाते हैं।

क्षत्रिय—ब्राह्मणो की भाँति ही क्षत्रियो की दशा भी विगड गई है। वियोगी हरि लिखते हैं—

जोरि नाम सग सिंह पदु कियो सिंह बदनाम।
ह्वै है क्योकरि सिंह यो करि शृगाल के काम॥[4]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ५७।
२ भारत भारती, पृ० १३०।
३ वही, पृ० १६७।
४ वीर सत०, पृ० १२।

गुप्त जी कहते हैं—

जो देश के प्रहरी रहे घर फूंकने वाले बने।
जो वीर वर विख्यात थे वे स्त्रैणता मे हैं सने ॥
सुरकार्य साधक जो रहे अब दुर्व्यसन मे लीन हैं।
जो थे सहज स्वाधीन वे ही आज विषयाधीन हैं ॥[1]

...

वीरो उठो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो ॥[2]

वैश्य—आज के वैश्य 'बनिए' कहे जाते हैं और कम तोलना, धोखा देना तथा धन के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहना ही उनका प्रमुख कार्य रह गया है। गुप्त जी कहते हैं—

वे वैश्य भी अब पतित होकर नीच पद पाने लगे।
बनिए कहा कर वैश्य से बक्काल कहलाने लगे ॥

... ...

कौशल्य उनका अब यहाँ बस तोलने मे रह गया।
उद्यम तथा साहस दिवाला खोलने मे रह गया ॥
बस हाय पैसा! हाय पैसा! कर रहें हैं वे सभी।
पर गुण बिना पैसा भला क्या प्राप्त होता है कभी ॥[3]

नारी—आधुनिक युग के पूर्व के नीति काव्य मे नारी की बडी भर्त्सना की गई है, पर आधुनिक नीति साहित्य की दशा इसमे विभिन्न है। सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण इधर युग ने इस बात का अनुभव किया कि नारी स्वभावत बुरी नही हैं, अपितु समाज ने उसे अशिक्षित रखकर बहुत अशो मे बुरा बनने को बाध्य किया है। नीति साहित्य मे भी यह भावना व्यक्त की गई है।

क्या दोष उनका किन्तु जो उनमे गुणो की है कमी।
हा क्या करें वे जब कि उनको मूर्ख रखते है हमी ॥[4]

ऐसी उपेक्षा नारियो की जब स्वय हम कर रहे।
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे।

---

१ भारत भारती, पृ० १३२।
२ वही, पृ० १६८।
३ वही, पृ० १३२-३३।
४ वही, पृ० १३५।

भागे न क्यो हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ।
पाती स्त्रियाँ आदर जहाँ रहती वही सब ऋद्धियाँ ॥[1]

और साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि स्त्रियाँ शिक्षित बनाई जायँ तो सभी गुणो से सम्पन्न हो सकती हैं—

क्या कर नही सकती भला यदि शिक्षिता हो नारियाँ।
रण रग राज्य सुधर्म रक्षा कर चुकी सुकुमारियाँ।
लक्ष्मी, अहल्या, बायजाबाई, भवानी, पद्मिनी।
ऐसी अनेको देवियाँ हैं आज जा सकती गिनी।[2]

इसके साथ ही इस बात का भी अनुभव लोगो ने किया कि नारियो की अवनति का कारण अशिक्षा के अतिरिक्त पुरुषो के अवगुण भी है। पुरुषो के ससर्ग से ही प्राय स्त्रियाँ भली या बुरी बनती है। प्राचीन युग में इस बात का अनुभव केवल रत्नावली ने किया है। उसने कहा है—

सस्त्र, सास्त्र, बीना, तुरग, बचन लुगाई लोग।
पुरुष विशेषहिं पाइ के बनत सुजोग अजोग ॥[3]

आधुनिक युग मे गुप्त जी ने भी इसे स्वीकार किया है—

हम डूबते हैं आप तो अघ के अँधेरे कूप मे।
हैं किन्तु रखना चाहते उनको सती के रूप मे।
निज दक्षिणाग पुरीष से रखते सदा हम लिप्त हैं।
वामाग मे चन्दन चढाना चाहते विक्षिप्त हैं।[4]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

नारी पवन है शुद्ध जैसा पुरुष मिलता है यदा।
वैसी 'सु' 'दुर' से युक्त गन्ध प्रदान करती है सदा ॥[5]

नारी के सम्बन्ध मे दो अन्य नवीन बातें भी आधुनिक नीति काव्य मे मिलती हैं। एक तो है दहेज सम्बन्धी और दूसरी विधवा सम्बन्धी। कहना न होगा कि आज भी हमारे समाज के लिए ये दोनो ही बातें कलक स्वरूप है। ये दोनो समस्याएँ हैं तो पुरानी पर कभी भी नीति के कवियो ने इधर ध्यान नही दिया। यदि कुछ ने

---

१ भारत भारती, पृ० १३६।
२ वही, पृ० १३७।
३ रत्नावली दो०, ६२।
४ भारत भारती, पृ० १३६।
५ नीति छन्द०।

विधवा की ओर ध्यान भी दिया तो उसे विरक्त आदि रहने का आदेश मात्र दिया। हमारी नई मनीषा ने विधवा-विवाह का समर्थन किया तथा दहेज का विरोध किया। आधुनिक नीति काव्य मे भी ये दोनो विचार व्यक्त किए गए हैं। एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगे—

दहेज—

शिक्षित भी बन गए सभ्य भी हैं कहलाते।
बना सुधारक कभी सभापति भी बन जाते।
करते हुए कुकृत्य नहीं जी में शरमाते।
हो जो पुत्र विवाह हजारो ही ठहराते।
मिले मुनासिब मोल तभी होते हैं राजी।
तुर्की कोई पुत्र बना कोई है ताजी।[1]

विधवा-विवाह—

पुरुष व्याह अगणित करें नारी करे तो एक।
शास्त्रो की या न्याय की धिक! यह कैसी टेक॥[2]

धनिक—आधुनिक युग के धनिको की दशा बडी विचित्र रही है और बहुत अशो मे तो आज भी वैसी ही है। मानवता तो जैसे उनमे नाम मात्र को भी नही है। उनके बगल में कोई दीन भूख से तडप कर मर जाय पर वे एक कौडी नहीं दे सकते। यो ऐश, आराम तथा इस प्रकार के अन्य व्यर्थ के कामो मे वे रुपए को पानी की तरह बहाने मे नही हिचकते। बालमुकुन्द गुप्त लिखते है—

हे धनिको क्या दीन जनो की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पडोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार॥[3]

मैथिलीशरण जी भी कहते हैं—

दुर्विध प्रजा का द्रव्य हर कर फूँकते हैं व्यर्थ वे।
सत्कार्य करने के लिए हैं सर्वथा असमर्थ वे॥
चाहे अपव्यय मे उडे लाखो करोडों भी अभी।
पर देश हित में वे न देंगे एक कौडी भी कभी॥[4]

---

१ सनेही. काव्य वाटिका, पृ० २१६।

२ नीति छन्द०।

३ आधुनिक काव्यधारा, पृ० ५४।

४ भारत भारती, पृ० ११२।

इतने पर भी लोग इन्हे 'गरीब-परवर' कहते हैं। वियोगी हरि ने अच्छा व्यग्य किया है—

चूसि गरीबनु को रकतु करत इन्द्र सम भोग।
तउ 'गरीब परवर' उन्हे कहत कहो ए लोग ॥[1]

बहुत से धनिक भक्त भी बनते है और पूजा आदि करते हैं। ऐसे लोगो की भक्ति व्यर्थ है—

दीनन देखि घिनात जे नहिं दीननु सो काम।
कहा जानि ते लेत हैं दीनबन्धु को नाम ॥[2]

साक्षी—आजकल के साक्षी प्रायः झूठे होते हैं और वकील की राय तथा अपने पक्ष के अनुसार तरह-तरह के झूठ बोलते हैं। आधुनिक नीति काव्य ने भी इसका विरोध किया है—

साखी ऐसो चाहिए न्यायाधिप के पास।
सत्य सत्य वर्णन करे त्यागि आस अरु त्रास ॥
त्यागि आस अरु त्रास प्रश्न को उत्तर देवै।
सुयश लहै जगबीच धर्म की नौका खेवै ॥
दीन कहै हो साखि कपट जो उर मे राखी।
अयश लहै जग बीज नीच सो झूठा साखी ॥[3]

पड़ोसी का ध्यान—नागरिक शास्त्र का यह प्रथम सिद्धान्त है कि पडोसी की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हुए अपने पैर फैलाना चाहिए। विना इसके समाज उचित ढङ्ग से नही चल सकता। आधुनिक नीति काव्य मे कहा गया है—

जो पडोस मे के ही सुख को मना नही पावेगा।
सोचो उसका दुख मनाने कौन कहाँ आवेगा ॥
औरो को भी वह सुविधा दो जो औरो से चाहो।
यही नागरिकता गृहस्थता सबसे निभो निबाहो ॥[4]

सहनशीलता—सहनशीलता का महत्व यो तो भारतीय सस्कृति मे बहुत पहले से गाया गया है पर आधुनिक युग मे गाधी जी के 'सत्याग्रह' के कारण इसका

---

१ वीर सत०, पृ० १०२।
२ वही, पृ० ६६।
३ सामान्य-नीति काव्य, पृ० ६२।
४ गृहस्थ गीता, पृ० ६३।

महत्व बहुत बढ गया और इसी कारण आधुनिक नीति काव्य मे इसको बडी प्रतिष्ठा दी गई। कुछ छन्द देखे जा सकते हैं—

बूता भरि जूता महि छमहु सुसील।
कृष्णहिं भृगु लातहुँ लहि का भा ढील ॥
पानी आग बुझावत जान जहान।
अस विचारि सीतल रहु नित मतिमान ॥[1]

सहनशीलता के लिए क्रोध का न आना आवश्यक है। गाधी जी का कहना था कि पुलिस या शासन के लाठी-डण्डे खाकर भी सत्याग्रही को क्रोध न कर उसे चुपचाप सहना चाहिए। नीति मे भी कहा गया है—

उत्पीडन अन्याय कही हो,
दृढता सहित विरोध करो।
किन्तु विरोधी पर भी अपने,
करुणा करो न क्रोध करो ॥[2]

गाधी जी के साथ ही आधुनिक नीतिकारो का भी विश्वास है कि ऐसा करने पर विरोधी अपने आप झुकेगा—

बाधक स्वय बनेंगे साधक,
यदि तुम हो दृढव्रत धारी।
सहनशीलता वह है जिससे,
छके आप अत्याचारी ॥[3]

(उ) व्यवसाय—

कोई जीविका खोटी नहीं—आधुनिक युग के पूर्व तक अपनी जीविका के लिए छोटे काम करना बुरा समझा जाता था तथा छोटे काम करने वाले अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे, पर आधुनिक युग मे पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव तथा अन्य कारणो से यह भावना बदल गई और लोगो ने इस बात का अनुभव किया कि सच्चाई और ईमानदारी के साथ किया जाने वाला कोई भी काम छोटा नही है। आधुनिक नीति काव्य मे भी यह भावना व्यक्त की गई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

खोटी नही जीविका कोई खरे रहे यदि गेही।
छोटे काम जिन्हें कहते हो बडे वस्तुत वे ही।

---

१ स्वदेश सत०, २२-३।
२ अनघ, पृ० ५९-६०।
३ वही, पृ० ६०।

कोरी या चमार या धोबी कौन नही निज अंगी ।
महतो मे बढकर मेहतर है जन समाज के सगी ॥[१]

साहित्य-सृजन—आधुनिक युग के पूर्व रीतिकाल मे शृङ्गार-रस-प्रधान साहित्य की रचना हुई थी, अत उसकी प्रतिक्रिया हुई और आधुनिक युग मे उसका विरोध होने लगा। इसके अतिरिक्त हमने अपनी पराधीनता का भी अनुभव किया अतः उसके लिए वीर रस की आवश्यकता प्रतीत हुई जो हमारे स्वतन्त्रता-सग्राम मे सहायक हो। साथ ही विभिन्न क्षेत्रो के सास्कृतिक और सामाजिक आन्दोलनो ने हमारी भावना को सुधारवादी बना दिया। इन तीनो कारणो से साहित्य के विषय मे हमारे दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ और शृङ्गार-विहीन, श्लील, वीर रस प्रधान, स्वतन्त्रता-सग्राम मे सहायक तथा समाज का सुधार कर उसे ऊपर उठाने वाले साहित्य की हमे आवश्यकता प्रतीत हुई। आधुनिक नीति-उपदेशपरक काव्य मे इसके स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। गुप्त जी लिखते हैं—

श्रुति, शास्त्र, सूत्र, पुराण, रामायण, महाभारत हटे।
ये नायिका भेदादि उनके स्थान मे हैं आ डटे।
.. ..

हा उच्च भावो को वही क्रम आज भी है खो रहा।
अश्लील ग्रन्थो से हमारा शील चौपट हो रहा।
....

उद्देश्य कविता का प्रमुख शृङ्गार रस ही हो गया।
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी मे खो गया।
... .

वे रुचि विघातक ग्रन्थ ज्यो ही सैर करने को छुए।
स्वीया हुई कुलटा बहुत अनुकूल बहुवा शठ हुए।
... ..

लिक्खाड ऐसे ही यहाँ साहित्य रत्न कहा रहे।
वे वीर वैतरणी नदी का हैं प्रवाह बहा रहे।
वे हैं नरक के दूत किंवा सूत है कलिराज के।
वे मित्र रूपी शत्रु ही हैं देश और समाज के।[२]

---

१ गृहस्थ गीता, पृ० ७८।
२ भारत भारती, पृ० १२०-२।

तत्कालीन दशा को इस रूप मे चित्रित करने के वाद वे कहते हैं —

केवल मनोरजन न कवि का कर्म होना चाहिए ।
उसमे उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए ।
क्यो आज रामचरित्रमानस सब कही सम्मान्य है ।
सत्काव्ययुत उसमे परम आदर्श का प्राधान्य है ।।[१]

वियोगी हरि ने भी देश की दशा देखते हुए कवियो पर व्यग्य किया है—

बरषत विषम अगार चहुँ भयौ छार वर वाग ।
कवि कोकिल कुहकत तऊ नव दम्पति रति राग ।।[२]

और उन्हें क्रान्तिकारी कविता करने के लिए कहा है—

ले वल विक्रम बीन कवि किन छेडत वह तान ।
उठै डोलि जेहि सुनत ही धरा मेरु ससि भान ।।[३]

इस प्रकार के आह्वान के बहुत से छन्द आधुनिक कविता मे मिलते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनावो जिससे उथल-पुथल मच जावे ।[४]

तथा

कवि रे गा दे वह अनल गान ।
यह धरा आज थरथरा उठे ।
फट उठे आज यह आसमान ।[५]

वियोगी हरि ने कवियो के अतिरिक्त उन श्रोताओ पर भी व्यग्य किया है जो शृङ्गार रस की कविता सुनना ही पसन्द करते हैं—

काहि सुनावतु वीर रसु वृथा करन चित खेद ।
हैं ए रसिक सिंगार के सुनत नायिका भेद ।।[६]

वकालत—वकालत आधुनिक युग की चीज है। वकीलो के विषय मे दो वातें प्रधान रूप से कही जा सकती हैं। एक तो यह कि गवाहो से ये लोग मुकद्दमे मे अपनी विजय के लिए झूठ वोलवाते हैं और दूसरे यह कि आजकल वकीलो की सख्या वढ गई है इस कारण सवको पर्याप्त मुकद्दमे नही मिल पाते, जिसके फलस्वरूप वहुत से वकील अपनी जीविका भी ठीक से नही चला पाते। नीति-काव्य मे इन

---

१ भारत भारती, पृ० १७१ ।
२ वीर सत०, पृ० ७६ ।
३ वही, पृ० १८ ।
४ वालकृष्ण शर्मा नवीन ।
५ धधकती-ज्वाला, पृ० २ ।
६ वीर सत०, पृ० ८१ ।

दोनो ही बातो पर व्यग्य है। दामोदर सहाय सिंह अपनी पुस्तक 'सुधा-सरोवर' के 'नीति-निचय' भाग मे कहते है—

ये पद है अतिसय भरे अधिक-अधिक अधिकात।
याते याकी ओर ते बचियो युव जन तात।
पढन समय मासिक खरच सो नहि सकत कमाय।
हाथ लिए कागज खबर रह जाते मुँह बाय॥

तथा

इमि मोखतारी हूँ समुझि सोखतारी पाखण्ड।
सिखवत साखी झूठ ही डरत न नरक प्रचण्ड।
नर जाके उपदेस ते करे पुन्य वा पाप।
सो तेहि मे भागी अवसि निस्चित सास्त्र कलाप।[1]

कुछ वकील इजलास मे ठीक से बोल ही नही पाते। उनके सम्बन्ध मे भी नीति-काव्य मे कहा गया है—

एम० ए० बी० एल० हैं यद्यपि मुँह ते कढे न बोल।
अबा कबा समला दिए फिरते डामाडोल॥[2]

वकील सच का झूठ और झूठ का सच सिद्ध करा देते है, अत उनके कारण झगडे बढते हैं। गाधीजी इसी कारण वकालत पेशे के पक्ष मे नही थे। नीति का एक दोहा है—

झगरा बढवावत फिरैं मरैं अर्थ के अर्थ।
ये वकील स्वारथ सने इनकी विद्या व्यर्थ॥[3]

खेती—भारत कृषि-प्रधान देश रहा है और यो भी खेती हर दृष्टि से उत्तम है, यही कारण है कि हमारे यहाँ खेती को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निखिद चाकरी भीख निदान।

पर आधुनिक काल में प्राय लोग खेती को सबसे नीचा और नौकरी को सबसे ऊँचा समझते हैं। इस दशा पर आधुनिक नीति-काव्य मे व्यग्य है—

खेती निचन गँवार कर चतुर चाकरी लोग।
भारत के दुर्भाग्य वम अस सिद्धान्त प्रयोग।[4]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ३४-६।
२ वही।
३ नीति छन्द०।
४ सुधा सरोवर, पृ० ४०।

इस स्थिति को दूर करने के लिए नीतिकारो ने कृषि की ओर झुकने के लिए भी उपदेश दिए है—

खेती धन को मूल है खेती जीवन प्रान।
याते खेती कीजिए पढ़ि कै कृषि-विज्ञान।[१]

खेती की ओर से नवयुवको के विमुख होने का प्रधान कारण यह है कि खेती करने वाले आज सदियो से हर दृष्टि से बहुत कष्ट में हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने किसानो द्वारा ईश्वर को सम्बोधन करके ठीक ही कहलाया है—

बनता है दिन रात हमारा रुधिर पसीना।
जाता है सर्वस्व सूद मे फिर भी छीना।
हा-हा खाना और सर्वदा आँसू पीना।
नही चाहिए नाथ हमे अब ऐसा जीना॥[२]

व्यापार—प्राचीन काल मे भारत विश्व के सभी समुन्नत देशो से व्यापार करता था। गुप्त जी ने भारत-भारती के वर्तमान खण्ड मे हमारे प्राचीन व्यापारिक गौरव की संक्षिप्त पर अच्छी झलक दी है। आधुनिक युग मे भारतीय व्यापार नष्ट हो चुका है। पश्चिम के सम्पर्क मे आने पर भारत को पता चला कि यूरोप वालों के सुखी एव धन-धान्य से पूर्ण होने का प्रधान कारण है उनकी व्यावसायिक उन्नति, अत यहाँ भी लोग व्यापार को पिछले दो-तीन दशकों से महत्व देने लगे हैं। आधुनिक कविता भी इस भावना से अछूती नहीं है। गुप्त जी लिखते है—

वैश्यो सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं पार क्या है क्लेश का।

अब तो उठो हे बन्धुओ निज देश की जय बोल दो।
बनने लगें सब वस्तुएँ कल कारखाने खोल दो।
जावे यहाँ मे और कच्चा माल अब बाहर नही।
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इण्डिया' ही सब कही।[३]

दामोदर सहाय सिंह व्यापार का महत्व दिखलाते हैं—

यहि विधि या व्यापार में जिन-जिन दीन्हो चित्त।
तिन-तिन थोडहि काल में बहुत बटोरो वित्त।[४]

---

१ सुधा सरोवर, पृष्ठ ४०।
२ किसान।
३ भारत भारती, पृ० १६८।
४ सुधा सरोवर, पृ० ४७।

नौकरी—पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क मे आने के बाद से भारत में ऐसी हवा चली और बहुत अशो मे तो आज भी है कि पढे-लिखे लोग खेती आदि स्वतन्त्र काम करना न पसन्द करके नौकरी पसन्द करते हैं। आधुनिक नीति-काव्य मे इस मनोवृत्ति पर भी व्यंग्यात्मक वा उपदेशात्मक छन्द बहुत से हैं। दामोदर सहाय सिंह कहते हैं—

लिखि-पढि जो घर मे रहै करैं खेत-व्यापार।
हँसै लोग विन चाकरी ऐसे निपट गँवार।
याते बहुधा चाकरी सिच्छित करत पसन्द।
परबसता-बेडी बडी पडी हथकडी बन्द।
पर, परबस मे नौकरी जैसे छाँह खजूर।
करी खुसामद रात-दिन जी सरकार हजूर।[1]

रामचरित उपाध्याय 'नौकर' के लिए कहते हैं—

मान, लज्जा कोप ये रहते न उसके पास हैं।
है पड़े जिसके गले मे दासता के पाश हैं।
बस इसी से शव-बराबर भृत्य को कहते सभी।
भस्म मे क्या भस्मकारक शौर्य होता है कभी।[2]

हरदीन त्रिपाठी ने अपने एक छन्द मे इन्ही बातो के कारण नौकरी का विरोध किया है।[3]

बेकारी—'बेकारी' इस युग की सबसे बडी समस्या है। इस समस्या का आरम्भ भारतेन्दु के समय मे ही हो चुका था। उनकी एक मुकरी है—

तीन बुलावें तेरह आवें, निज-निज बिपदा रोइ सुनावें।
आँखौ फूटे भरा न पेट, क्यो सखि साजन नहि ग्रेजुएट।[4]

भगवानदीन जी बेकारी की निन्दा करते हुए लिखते हैं—

बेकारी सबसे बुरी निपट निराशा खान।
आशा बसती कर्म मे, कर्म करैं विद्वान।[5]

दुख है कि भारत मे यह अभिशाप बढता ही जा रहा है।

(ऊ) मिश्रित—

बुरा और बुराई—अब तक विश्व मे बुरे और बुराई दोनो से घृणा की जाती रही

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ३-३२, ३५।
२ काव्य वाटिका, पृ० २३४।
३ सामान्य नीति-काव्य, पृ० ३४।
४ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८१०।
५ नीति के दोहे।

और ठोस कार्य करने की ओर उसका ध्यान अपेक्षाकृत कम रहता है। इसीलिए प्राय लोग तरुणो को ख्याति से यथासाध्य दूर रहने का आदेश देते हैं। नीति-काव्य मे भी यह आधुनिक भावना प्रतिबिम्बित है। महात्मा भगवान दीन ने अपनी अप्रकाशित पुस्तक "नीति के दोहे" मे ख्याति या प्रसिद्धि के विरोध मे कई दोहे लिखे हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा--

मुख प्रसिद्धि का रोकते कर्मठ और सुजान।
नही नम्रता यह निरी किन्तु कर्म कल्यान।[1]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

ठोस कार्य की शक्ति, ख्याति घटा देती सदा।
हुई ख्याति मे भक्ति, समझो कर्मठता गई॥[2]

यथार्थत आज के युग मे ख्याति के प्रलोभन मे जाने कितने तरुणो ने अपने ठोस कार्य करने की क्षमता खो दी है। विशेषत साहित्य के क्षेत्र मे तो ख्याति के रोग ने हमारी बडी ही हानि की है। एक कवि ने उचित ही व्यग्य किया है—

हाथ मे लेखनी आई नहीं कि ख्याति की साध जगी मन में।
छप जाय सुपत्रन मे रचना बस दृष्टि है नाम-प्रकाशन मे।
रेडियो मे कुछ प्रोग्राम मिले वाह वाह हो कवि सम्मेलन मे।
बिना साधना तेल के दीप से ये बुझ जाते हैं नव कवि दो छन मे।[3]

ख्याति पाने के लिए आज के युग मे योग्यता या ठोस कार्य की आवश्यकता नही है। खूब बडबड करने से ही इसकी प्राप्ति हो जाती है। हास्य रस के कवि बेढब ने कहा है—

तुलसी बड-बड करत ही रोब जमत चहुँ ओर।
नाम करन कौं अस्त्र है खूब मचाओ शोर।[4]

अस्वाद—ससार मे मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो खाने के लिए जीते हैं और दूसरे जीने के लिए खाते है। कहना न होगा कि जीने के लिए ही खाने वाले यथार्थत मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं। ऐसे लोगो के लिए "अस्वाद" व्रत

---

१ नीति के दोहे। वियोगी हरि ने भी कहा है—
भीरु छिपावतु जीव ज्यो कृपनु छिपावतु दामु।
सूर छिपावतु शक्ति ज्यो चतुर छिपावतु नामु। वीर सत०, पृ० १००।

२ नीति छन्द०।

३ नीति छन्द०।

४ साप्ताहिक संसार, ३० नवम्बर १९४४।

का पालन आवश्यक है। अस्वाद का अर्थ है शरीर की आवश्यकतानुसार, स्वाद की ओर ध्यान दिए विना, भोजन करना। दूसरे शब्दो मे अस्वाद का व्रती मनुष्य दवा के रूप मे ही भोजन का सेवन करता है। गाधी जी लिखते है—

'अस्वाद का अर्थ है 'स्वाद न लेना'। स्वाद मानी रस। जैसे दवा के खाने मे इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीर को उसकी आवश्यकतानुसार समझकर उचित परिमाण मे ही सेवन करते है, वही वात अन्न के विषय मे समझनी चाहिये। अन्न से मतलव समस्त खाद्य पदार्थो से है[१]।

अस्वाद विपय के केवल एक छन्द आधुनिक नीति-काव्य मे मिल सका है।

मत खाने के लिए जियो तुम मत रसना के दास वनो।
खाओ जीवन के हित केवल यह है सच्ची सीख सुनो।
कण भी एक जगत का लेना आवश्यकता से ज्यादा।
चोरी है चोरी प्यारे मत इस पातक मे कभी सनो।[२]

श्रम—उद्योग के रूप मे श्रम करने की नीति प्राचीन साहित्य मे भी मिलती है पर कायिक श्रम रूप मे यह आधुनिक युग की चीज है। सन् १९३० मे गाधी जी ने कहा था[३] कि 'गीता के तीसरे अध्याय मे यज्ञ किए विना खाने वाला चोर कहा गया है। वहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम ही है।' कायिक श्रम का भाव गाधी जी ने टालस्टाय के एक निवन्ध एव रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' से ग्रहण किया था। उनके कहने के वाद अपने देश मे कायिक श्रम को विशेप महत्त्व दिया जाने लगा और अव तो श्रम-सप्ताह भी मनाए जाने लगे हैं।

आधुनिक नीतिकारो ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। लोचनप्रसाद पाडेय[४] ने मधुमक्खी के उदाहरण द्वारा इसे समझाया है।

इसी प्रकार पूर्णजी[५] ने चीटी का उदाहरण लिया है। भगवान दीन कहते हैं—

श्रम से वढ कर कर्म, कर्म और पावन नही।
यही धर्म का मर्म, पूजा गुरु श्रुत देव यह।[६]

---

१ धर्म नीति, पृ० १३१।
२ नीति छन्द०।
३ धर्म नीति, पृ० १५३।
४ काव्य वाटिका, पृ० ३०२-३।
५ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० २५५।
६ नीति के दोहे।

उन्होंने आगे भी कहा है—

लोहा चमके घिसे से लकडी रगडे आग[1]
सोना चमके ताप से श्रम से चमके भाग।

सचमुच परिश्रमी व्यक्ति बहुत उन्नति कर सकता है। दूसरी ओर उन्नति प्राप्त व्यक्ति भी आलसी होने पर अभागा बन सकता है। भगवान दीन श्रम को पापो का नाश करने वाला भी मानते हैं—

भजन कुल्हाडी मार मत, पाठ गठीले काठ।
श्रम अग्नी में झोक दे, यही सुगम नव पाठ।[1]

और वे बिना श्रम के प्राप्त ज्ञान को भी व्यर्थ मानते हैं—

श्रम से उपजा ज्ञान, उपादेय होता सदा।
ज्ञान नही अज्ञान, पडे पडे जो प्राप्त हो।[1]

कहना न होगा कि श्रम करना ही मानव जीवन की उपयोगिता है और इस कारण इसकी जितनी भी प्रशसा की जाय थोडी है। पर साथ ही श्रम उचित पथ पर होना चाहिये। उचित पथ का श्रम जितना उपादेय है, अनुचित पथ का श्रम उससे भी अधिक हानिकर है।

सम्पादक—द्विवेदी-युग के बहुत से सम्पादक 'सदसद्विवेकहीनता के कारण सुन्दर रचनाओ का बहिष्कार और असुन्दर का स्वागत' करते थे। तत्कालीन नीति-उपदेश काव्य मे इस पर भी व्यग्य है। महावीरप्रसाद द्विवेदी की एक 'गर्दभ' पर अन्योक्ति है, जिसमे ऐसे सम्पादको को ऐसा गर्दभ कहा गया है जिसे हरी घास (सरस रचनाएँ) और दाना (सारगर्भित लेख) तो नही रुचते और असार (नीरस रचनाएँ) तथा चीथडे (रद्दी लेख) मोहन भोग की भाँति अच्छे लगते है। उदाहरणार्थ वह अन्योक्ति यहाँ देखी जा सकती है—

हरी घास खुरखुरी लगै अति भूसा लगै करारा है।
दाना भूलि पेट यदि पहुँचै काटै अस जस आरा है।
लच्छेदार चीथडे कूडा जिन्है बुहारि निकारा है।
सोई सुनो सुजान शिरोमणि मोहन भोग हमारा है।[2]

आधुनिक नीति-काव्य पर युग-प्रभाव देखने के लिए यहाँ कुछ प्रतिनिधि विषय लिए गये है और उनसे सम्बन्धित कविताएँ उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार की और भी अनेकानेक विपयो पर लिखी गई आधुनिक नीति कविताएँ युग से प्रभावित मिलती हैं।

---

१ नीति के दोहे।
२ द्विवेदी काव्यमाला, पृ० २१६।

(ए) उदाहरणो पर युग प्रभाव—

यहाँ तक हिन्दी नीति-काव्य मे वर्णित विचारो पर युग प्रभाव की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई, पर विचारो के अतिरिक्त नीति-काव्य मे विपय की स्पष्टता के लिए लिए गए अप्रस्तुतो या उदाहरणो पर भी कुछ युग का प्रभाव पडा है। दूसरे शव्दो मे परम्परागत उदाहरणो के अतिरिक्त कुछ कवियो ने अपने युग से नए उदाहरण भी लिए हैं। इन नवीन युगानुकूल उदाहरणो की सख्या वहुत अधिक नही है। यहाँ कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं।

ससार मे भेडिया-धसान चलती है अर्थात एक को कुछ करते देख प्राय दूसरे भी भेड की भाँति विना सोचे-समझे वैसा ही करने लगते है। इस वात को तुलसीदास कहते हैं—

लही आँख कव आँधरे बाँझ पूत कव ल्याय।
कव कोढी काया लही जग वहराइच जाय।[1]

इसमे कवि ने 'वहराइच' का उदाहरण लिया है। वहराइच उत्तर प्रदेश का एक जिला है। महमूद गजनवी का भाजा सैयद सालारजग गाजी वनने के लिए अपनी सेना के साथ यहाँ वढ आया था और यही श्रावस्ती के जैन राजा सुहृददेव द्वारा मारा गया। उसका मृत्यु स्थल 'गाजी मियाँ की दरगाह' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ ज्येष्ठ के महीने मे वहुत वडा मेला लगता है और लोग अपना दुख दूर करने के लिए जाते हैं। लोगो का विश्वास है कि वहाँ दर्शन करने तथा पूजा (झंडी, निशान, रोट, चने की दाल, गुड) चढाने से अन्धे आँख पा जाते हैं, वध्या पुत्रवती हो जाती हैं तथा कोढी आदि अच्छे हो जाते हैं। 'वहराइच' की इस रूप मे प्रसिद्धि तुलसी के समय मे भी थी। वे उपर्युक्त दोहे मे उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जनता वडी विचित्र है, उसने यह सुन रखा है कि वहराइच मे जाने से ये दुख दूर हो जाते हैं अतः विना यह जानने का प्रयत्न किए हुए कि सचमुच वहाँ जाने से किसी का कुछ लाभ हुआ या नही, भेडो की भाँति एक दूसरे को देखकर जाती है।

तुलसी की स्त्री रत्नावली ने अपने वहुत से नीति के दोहो मे अपने जीवन को ही उदाहरणस्वरूप लिया है। उदाहरणार्थ एक स्थान पर वे कहती हैं कि अच्छी वात भी यदि प्रकरण-विरुद्ध कही जाय तो विप के समान हो जाती है जैसे मैंने ईश्वर प्रेम की ही वात कही जो किसी भी प्रकार वुरी नही थी पर अवसर या प्रकरण का ध्यान नही रखा और फल यह हुआ कि मेरे लिए वह विप वन गई। दोहा यो है—

---

१ तुलसी दोहा०, ४९६।

सुमहु वचन अप्रकृति गरल, रतन प्रकृत के साथ ।
जो मो कहँ पति प्रेम सँग ईस प्रेम की गाथ ।[1]

इसी प्रकार एक और भी दोहा है, जिसमे परिणाम विचार कर बात करने की नीति है—

कहि अनुसगी वचन हूँ परिनति हिये विचारि ।
जो न होइ पछिताउ उर रतनावलि अनुहारि ।[2]

अकबर के समय में राजा टोडरमल ने एक प्रथा चलाई थी, जिसके अनुसार घोडे को वेचते समय उसके शरीर पर विक्री की छाप लगाई जाती थी और वह छाप सवार को सही का काम देती थी अर्थात उस दाग का घोडा विक्री का समझा जाता था। रहीम ने यही उदाहरण लेते हुए कहा है—

यों रहीम गति बडन की ज्यो तुरग व्यवहार ।
दाग दिवावत आपु तनु, सही होत असवार ।[3]

अर्थात् जिस प्रकार घोडा स्वय कष्ट सहकर सवार का उपकार करता है उसी प्रकार बडे लोग भी करते हैं।

ये आधुनिक युग के पूर्व के कुछ उदाहरण हैं। आधुनिक युग मे भी कुछ नीतिकारो ने कुछ इस युग के उदाहरण लिए हैं। राजेश अपनी दोहावली मे गाली के विषय मे कहते हुए लिखते है कि गाली तो 'मनीआर्डर' के समान है। जिस प्रकार मनीआर्डर यदि स्वीकार न किया जाय तो भेजने वाले के पास लौट जाता है, ठीक उसी प्रकार गाली जिसे दी जाय यदि वह उस पर ध्यान न दे तो गाली देने वाले के पास स्वभावत· लौट जाती है—

आपु जु पै नहिं लीजिए गारी गारी खाय ।
लौटि दैनहारेइ ढिग बित आयसु (मनीआर्डर) लौं जाय ।[4]

दुलारेलाल भार्गव अपनी दोहावली मे बिजली घर (पावर हाउस) का उदाहरण लेते हुए कहते हैं—

एक ज्योति जग जगमगै जीव-जीव के जीय ।
बिजुरी बिजुरीघर निकसि ज्यो जारति पुर-दीय ।[5]

---

१ रत्नावली, ११२ ।

२ वही, ११३ ।

३ नव सतसई सार, पृ० ४६ ।

४ राजेश दोहा०, १५३ ।

५ दुलारे दोहा०, १२० ।

भार्गव जी एक अन्य दोहे मे हाकी खेल का उदाहरण लेते हुए लिखते हैं—

सत-इसटिक जग फील्ड ले जीवन-हॉकी खेलि ।
वा अनन्त के गोल मे आतम-बालहिं मेलि ।[१]

एक नीति-छन्द मे सुई (इनजेक्शन) का उदाहरण गुरुजनो की कटुवाणी के लिए दिया गया है—

गुरुजन के कटु वैन, सूई है ओषधि सुखद ।
छन भर को दुख-ऐन, और बाद मे स्वास्थ्यकर ।[२]

महेश चन्द्र प्रसाद ने 'भाग्य-फेर' के सम्बन्ध मे कहते हुए चरखा और तकली के उदाहरण लिए हैं—

एकहि वस्तु कहूँ पर हँस कहुँ रोय ।
भाग फेर ते सुख-दुख पावत मोय ।
कहूँ काठ औषधि बनि जीवन देत ।
कहूँ काल बनिकै सो जानहिं लेत ।
काठ एक चरखे मे चमकत भाय ।
काठ एक लाठी मे लानत लाय ।
काठ एक तकली मे कली खिलाय ।
काठ एक बन्दूकहिं मचवत लाय ।[३]

शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' ने अपनी 'नीति-सतसई' मे रेल, मोटर, वायुयान आदि बहुत सी आधुनिक वस्तुओ से नए उदाहरणो का प्रयोग किया है ।

इस प्रकार के उदाहरणो के अतिरिक्त कुछ आधुनिक कवियो ने नवीन वस्तुओ को लेकर अन्योक्तियाँ भी लिखी हैं । इस प्रसग में गोचरण गोस्वामी की 'रेल का 'सिग्नल'[४] तथा राय देवी प्रसाद पूर्ण की 'इंजन की शिकायत'[५] आदि अन्योक्तियाँ उल्लेख्य हैं । पूर्ण जी की 'इ जन की शिकायत' यहाँ देखी जा सकती है

बल ना करत काठ दल है कतार सारी,
गिनती गिनन ही को साथी ये घनेरे हैं ।
देखिकै चढाई आगे पीछे को करत खीच,
जानिकै उतार वृथा ठेलत करेरे हैं ।

---

१ दुलारे दोहा०, ५९ ।
२ नीति-छन्द० ।
३ स्वदेश सत०, पृ० ५० ।
४ सरस्वती, भाग १४, सख्या ५ ।
५ पूर्ण-सग्रह, पृ० २७२ ।

इ जन सबल वीर धूम सो कहत बात,
एक तो विघन मग माँहि बहुतेरे है।
तापे ये अलाल बिनु बूझ बिनु सूझवारे,
डब्बे मुरदार यार पीछे परे मेरे हैं।[१]

अन्त मे युग प्रभाव की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के पूर्व का नीति-काव्य अपने युग से अपेक्षाकृत कम प्रभावित है। उसमे सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्र श साहित्य मे परम्परागत रूप से कही गई बातो को ही विशेपत अभिव्यक्ति मिली है। पर, आधुनिक नीति-काव्य पर युग का पर्याप्त प्रभाव है। यह स्थिति विपय की दृष्टि से है। उदाहरणो के क्षेत्र मे प्राचीन और आधुनिक दोनो ही नीति-काव्य युग से कुछ ही प्रभावित हैं।



१ पूर्ण सग्रह०, पृ० २७२।

: ५ :

नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय

नीति-काव्य के प्रतिपाद्य विषय धर्म, समाज,[1] राजनीति, शकुन एवं व्यापार, स्वास्थ्य तथा खेती आदि विषयक सामान्य ज्ञान है। आगे इन सभी पर अलग-अलग शीर्षको के अन्तर्गत विचार किया गया है। स्त्री के विषय मे कही गई बातें यो तो समाज-नीति के अन्तर्गत ही आवेंगी पर नीति-काव्य मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण उन पर अलग प्रकाश डाला गया है।

(क) धर्म और आचार—

हिन्दी नीति-काव्य मे धर्म और आचार विषयक वे बाते दी गई हैं जिनसे व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति हो पर साथ ही जिनसे उसकी लौकिक उन्नति मे एव समाज या परिवार के विकास मे कोई व्यवधान न उपस्थित हो। भारतीय संस्कृति का आदर्श केवल अपने परिवार को ही नही अपितु पूरे विश्व को ही कुटुम्ब मानने का रहा है। यहाँ "वसुधैव कुटुम्वकम्" केवल आदर्शवाक्य ही नही रहा है, बल्कि हमारे बुद्ध तथा गाधी जैसे महापुरुषो ने इसे अपने जीवन मे उतारने का भी सफल प्रयास किया है। यहाँ के आर्ष ग्रन्थ, महापुरुषो द्वारा निर्दिष्ट पथ, एव वातावरण सभी मे यह भावना पूर्ण रूप से भरी है। ऐसी स्थिति मे इसके अनुकूल नीति का विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक है। यही कारण है कि हमारी धार्मिक और आचारिक नीति 'बहुजन सुखाय बहुजन हिताय' है। व्यष्टि और समष्टि दोनो ही की उन्नति के लिए उसमे प्रशस्त पथ है। इस परिधि मे आने वाली नीति की सभी बातें देहरी दीपक की तरह हैं, जिनसे व्यक्ति और विश्व दोनो को ही यथोचित प्रकाश का सम्बल मिलता है।

---

१ धार्मिक और सामाजिक नीतियो को पूर्णत. एक दूसरे से अलग करना सम्भव नहीं है। क्रोध तथा दया आदि ऐसी बहुत सी बातें हैं जो दोनों ही के अन्तर्गत आती हैं। आगे इस प्रकार के विषयों को किसी एक के अन्तर्गत स्थान दिया गया है पर इसका आशय यह नहीं है कि उनका दूसरे से सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध की प्रधानता के कारण ही ऐसे विषय किसी एक के अन्तर्गत रखे गए हैं।

धर्म और आचार विपयक नीति को मोटे रूप से दो वर्गों मे रखा जा सकता है। कुछ तो ऐसी है जिनका सम्बन्ध प्रमुखत केवल व्यक्ति से है। जैसे ईश्वर मे विश्वास, ससार एव शरीर को अस्थायी मान कर उनके प्रति अधिक आसक्ति न रखना एव मादक द्रव्यो का सेवन न करना आदि। इस प्रकार की नीति वैयक्तिक कही जा सकती है। दूसरे वर्ग की धार्मिक एव आचारिक नीतियाँ वे हैं जो व्यक्ति से सम्बद्ध या उस पर आश्रित होते हुए भी 'व्यक्ति से इतर पर' या 'समाज' पर अधिक आश्रित हैं। राग-द्वेष, ईर्ष्या, क्षमा, दया, सत्य तथा अक्रोध आदि इसी श्रेणी की है। इन्हें सामाजिक (या पराश्रित) धर्म एव आचार नीति कहा जा सकता है।

धर्म एव आचारनीति का यह वर्गीकरण वस्तुत तात्त्विक न होकर औपचारिक या व्यावहारिक मात्र है। वैयक्तिक नीतियाँ भी अपरोक्षत समाज से सम्बन्धित हैं। विश्व का कोई भी कार्य या सिद्धान्त पूर्णत वैयक्तिक नहीं हो सकता। व्यक्ति समाज का अग है, वह अपने आप मे सीमित होते हुए भी समाज की इकाई है, अतएव उसकी वैयक्तिक बातें भी धीरे-धीरे समाज से प्रभावित होती हैं तथा समाज को प्रभावित करती हैं। उदाहरणस्वरूप मादक द्रव्यो का सेवन वैयक्तिक नीति के अन्तर्गत है, पर, मादक-द्रव्य-सेवी के अनुकरण से अन्य लोग भी मादक द्रव्यो के सेवी हो सकते हैं, या वह स्वय सेवनोपरान्त उन्मत्त होकर समाज के नियमों की अवहेलना कर सकता है एव अन्य दृष्टियो से भी समाज के लिए कष्टकर सिद्ध हो सकता है। दूसरी ओर सामाजिक धर्म एव आचार नीतियाँ भी जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है व्यक्ति पर ही अवलम्बित है। उनके अनुकूल या प्रतिकूल आचरण व्यक्ति ही करता है। साथ ही इनसे व्यक्ति के व्यक्तित्व मे भी ह्रास या विकास होता है। दया तथा क्रोध का सम्बन्ध समाज से है पर दयालु या अक्रोधी व्यक्ति जिस मानसिक शान्ति एव सन्तुलन से लाभान्वित होता है, अदयालु तथा क्रोधी उसकी छाया का भी स्पर्श नही कर पाता। उलटे इनके आधिक्य से उसे अपने स्वास्थ्य की भी हानि उठानी पडती है। इस प्रकार दोनो ही वर्गो के विपय एक सीमा तक अपने से इतर वर्ग मे भी आ जाते हैं।

यहाँ हिन्दी नीति-काव्य के धर्म एव आचार अश पर एक विहगम दृष्टि डालने के लिए ईश्वर, धर्म, गुरु, साधु, माया, मन तथा दया आदि कुछ प्रमुख शीर्षको को अलग-अलग लेकर नीतिकार कवियो द्वारा निर्दिष्ट विधिनिषेधमय बातें सक्षेप मे दी जा रही हैं।

धर्म—किसी वस्तु या व्यक्ति की वह वृत्ति जो उसमे सदा रहे, उससे कभी अलग न हो 'धर्म' है। जैसे आँख का धर्म है देखना। यहाँ धर्म का अर्थ स्वभाव या नित्य नियम है। ऋग्वेद (१ २२ १८) मे धर्म शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग है। धर्म का यही प्राचीनतम अर्थ है। पर प्रस्तुत अध्याय मे धर्म का यह अर्थ हमे अभीष्ट

नही है। आचार्यों तथा आर्ष ग्रन्थो द्वारा निर्दिष्ट वे कर्म जिनका लक्ष्य पारलौकिक आनन्द या मुक्ति की प्राप्ति है 'धर्म' के अन्तर्गत आते हैं। पर यह एक सामान्य परिभाषा है। सभी आर्ष ग्रन्थ इस विषय मे पूर्णत एक मत नही है। मीमासा के अनुसार वेद विहित जो यज्ञादिकर्म है, उन्ही का विधि-पूर्वक अनुष्ठान 'धर्म' है। यहाँ 'धर्म' कर्मकाड के समीप है। स्मृतियो मे आचार को ही परम धर्म कहा गया है, और वर्ण तथा आश्रम के अनुसार उसकी व्यवस्था का निर्देश किया गया है। जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, दान लेना-देना तथा यज्ञ करना-कराना आदि, क्षत्रिय के लिए प्रजा की रक्षा करना तथा दान देना आदि, वैश्य के लिए व्यापार तथा शूद्र के लिए सेवा आदि, इसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए गुरुसेवा, स्वाध्याय तथा भिक्षा माँग कर भोजनादि, गृहस्थ के लिए पंचमहायज्ञ एवं अतिथि, भिक्षु तथा साधु आदि की सेवा, वानप्रस्थी के लिए गृहाग्नि लेकर वन मे वास, बाल तथा नख आदि रखना, भूमि पर सोना तथा बलिकर्म आदि करना एव सन्यासी के लिए सर्वस्व त्याग और केश तथा नख आदि कटा कर दड-कमडलु धारण करना आदि।

स्मृतियो मे इस वर्ण और आश्रम धर्म के अतिरिक्त सामान्य धर्म का भी वर्णन है, जिसका पालन ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सभी के लिए श्रेयस्कर है। इसमे ऐसी बातो का उल्लेख है, जिनसे व्यक्ति और समाज दोनो की मर्यादापूर्वक रक्षा हो। इस प्रसग मे मनु द्वारा बतलाए गए धर्म के दस लक्षणो का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होने कहा है—

धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ।[१]

अर्थात् धृति (धृति का अर्थ धैर्य है, पर, श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने अपने हिन्दी विश्वकोष[२] में इसका अर्थ सन्तोष दिया है। धर्म के लक्षण के प्रसग मे यह अर्थ अधिक समीचीन लगता है), क्षमा, दम अर्थात् बाह्य विषयो से मन को रोकना, अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, शौच अर्थात् बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धता, इन्द्रियो को रोकना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं।

पुराणो मे भी धर्म पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत का 'अहिंसा परमो-धर्म' प्रसिद्ध ही है। पद्मपुराण मे धर्म के दस अंग ब्रह्मचर्य, सत्य, तपस्या, दान, नियम, क्षमा, पवित्रता, अहिंसा, शान्ति तथा अस्तेय कहे गए हैं।[3] मत्स्य पुराण मे

---

१ मनुस्मृति, ६ ९२।
२ हिन्दी विश्वकोष, भाग ११, पृ० १०२।
३ वही, पृ० १०३।

अद्रोह, अलोभ, दम, जीवो के प्रति दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, अनुक्रोश, क्षमा और धृति सनातम धर्म के मूल कर्तव्य कहे गए हैं।[१] सामान्य धर्म के इस प्रकार के लक्षण या अग अन्य पुराणो मे भी पाए जाते है।

हिन्दी के एक नीतिकार कवि ने धर्म को परिभापा मे वाँधने का प्रयास करते हुए कहा है—

जाके अनुदिन अनुसरत जन मन विकसत जाय।
वर विचार उर विमलता विलसि बिलसि अधिकाय।
पावत जाते मनुज है पूत प्रेत को पन्थ।
कहत धर्म ताको विबुध निरखि सकल सद्ग्रन्थ।[२]

वैशेपिक मे भी धर्म को अभ्युदय और निश्रेयस् की प्राप्ति करने वाला कहा गया है।[3]

हिन्दी नीलि-काव्य मे वर्णित धर्म के अन्तर्गत ऊपर कही गई स्मृतियों एव पुराणो की वातो का ही एक मिश्रित रूप मिलता है जिनमे प्रधान ईश्वर (उसमे विश्वास तथा उससे भय आदि), नामस्मरण, माया (उससे बचना), मन (उसको वश में रखना), सत्य, अक्रोध, सन्तोष, दया, क्षमा तथा परोपकार आदि हैं। आगे के पृष्ठों में अलग-अलग शीर्षको मे इन पर विचार किया गया है।

हिन्दी के नीति-कवियो ने धर्म के पालन पर बडा वल दिया है। तुलसी कहते हैं—

सहि कुवोल साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिय, कहि, करि गये सुजान॥[४]

रत्नावली कहती हैं—

रतनावलि धरमहि रषत, ताहि रखावत धर्म।
धरमहि पातति सो पतति, जेहि धर्म को मर्म॥[५]

मनुष्य को धर्म-विमुख नही होना चाहिए। यदि कोई हो तो नीतिकारो ने

---

१ हिन्वी विश्वकोष, भाग ११, पृ० १०३।

२ सदाचार सोपान ११९-२०।

३ यतोऽभ्युदय निश्रेयस सिद्धि स धर्म।

४ तुलसी दो०, ४६६।

५ रत्नावली दो०, ८०। इसी भाव का एक सस्कृत श्लोक भी है—

'धर्म एव हतो हति, धर्मो रक्षति रक्षित.।'

उसे दण्ड देने का आदेश दिया है। रामचरित उपाध्याय ने तो यहाँ तक कहा है कि नारी, गुरु, पिता, माता, पुत्र, मन्त्री, राजा, मित्र, भाई और ब्राह्मण भी यदि धर्म-विमुख हो तो उन्हे दण्डित किए बिना नही रहना चाहिए—

नारी, गुरु, पितु, मातु, सुत, सचिव, महीपत, मीत।
बन्धु विप्रहूँ दण्डिये धर्म-विमुख यह नीत।[1]

आशय यह है कि धर्म से व्यष्टि और समष्टि की रक्षा होती है, अतएव उसका अनुसरण कष्ट सह कर भी करना चाहिए। इसके विपरीत आचरण समाज के लिए अश्रेयस्कर होता है, इसी कारण अपने से छोटे या बराबर को कौन कहे अपने से श्रेष्ठ भी यदि धर्म-विमुख आचरण करें तो नीतिकारो ने उन्हे दण्डित करने की आज्ञा दी है।

ईश्वर—'ईश्वर' का हिन्दी नीति काव्य मे तात्त्विक विवेचन आदि नही मिलता। यहाँ उसके गुण एव कार्य आदि के विषय मे केवल कुछ सामान्य बाते ही दी गई हैं। गिरिधर कविराय 'ईश्वर' या 'राम' की परिभाषा देते हैं—

माया मोह मद राग पुन ममता दमरु काम।
यह जामे नहि पाइये सो परमेश्वर राम।
सो परमेश्वर राम सर्व का जानन हारा।
.. .. आदि।[2]

यहाँ गिरिधर ने यह दिखाने का यत्न किया है कि हिन्दू धर्म की दृष्टि से ससार लिप्त व्यक्ति मे जो बुराइयाँ होती हैं, ईश्वर उनसे शून्य है और साथ ही वह सर्वज्ञ है।

ईश्वर के गुणो एव स्वरूप आदि को लेकर भी हिन्दी नीति काव्य मे बहुत सी बातें कही गई हैं। कबीर कही तो उसे 'भारी' और 'हलका' दोनो ही से परे कहते हैं—

भारी कहौ त बहु डरौ हलका कहूँ त झूठ।
मैं का जानौं राम कूं नैंनूं कबहुं न दीठ।[3]

और कही 'निरगुन सरगुन तें परे' एवं 'पुहुप बास थैं पातरा' आदि। आशय यह है कि उसके विषय मे निश्चय के साथ कुछ नही कहा जा सकता और वह अनिर्वचनीय है।

---

१ ब्रज सत०, पृ० ३६।
२ गिरिधर कुंड०, १९५।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० १७।

विश्व के सारे गुणो का आधार ईश्वर ही है, इसी के कारण उसके गुण अनन्त है—

सात समद की मसि करौ, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिखा न जाइ।[1]

उसने ही सारे ससार को बनाया है और जो कुछ, जितना, जैसा और जो भी बनाया है उससे न तो रत्ती घट सकता और न तिल बढ सकता है। कबीर कहते हैं—

जाको जेता निरमया ताकौं तेता होइ।
रती घटै न तिल बढै जौ सिर कूटै कोइ।[2]

ईश्वर की भक्ति एव उसके प्रति प्रेम पर सभी नीतिकारो ने बल दिया है। तुलसी उसके भजन बिना मुक्ति को सम्भव नही मानते—

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।[3]

कबीर उसकी भक्ति बिना जीवन को व्यर्थ बतलाते हैं—

कबीर हरि की भगति बिन ध्रिग जीमण ससार।
धूवाँ केरा धौलहर जात न लागै बार।[4]

ईश्वर की दयालुता आदि के विषय मे भी नीति-काव्य मे कहा गया है। बिहारी कहते हैं कि जिसका कोई भी ससार मे रक्षक नही है उसकी भगवान रक्षा करता है—

जाके एकौ एकहू जग व्यवसाय न कोय।
सो निदाघ फूलै-फलै आक डहडहो होय।[5]

मलूक का दोहा प्रसिद्ध ही है जिसमे उन्होंने ईश्वर को ही सब का ध्यान रखने वाला तथा दाता माना है—

अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम।
दास मलूका कह गए सबको दाता राम।

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६२।
२ वही, पृ० ५८।
३ तुलसी दोहा०, १२६।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २३।
५ बिहारी सत०, ६६६।

लोक साहित्य मे 'निर्धन के धन राम देवैया' तथा 'निर्वल के वल रामै गोसैया' आदि मे भी यही भावना व्यक्त की गई है।

अपने सारे काम को ईश्वर पर भरोसा रखकर करने का आदेश भी नीति काव्य में है—

आस भरोसा स्रद्धा औ' विश्वास।
रखहु राम पर जो सबकी है स्वास।
और करहु तव अपने नयमय काम।
सफल बनहु जीते जी मरने पर हरि-धाम।[1]

वृन्द ने ईश्वर के सम्बन्ध मे एक विचित्र बात कही है। वे कहते हैं कि ईश्वर उसी को कुछ देता है, जिससे कुछ पाता है—

देत न प्रभु कछु विन दिए, दिए देत यह बात।
लै तन्दुल धन दुर्जहि मुनि तृपत कियो भखि पात।[2]

वृन्द का यहाँ आशय सम्भवत श्रद्धा, भक्ति या प्रेम आदि देने का है। ठीक भी है। विना इसके कोई उससे कुछ पा भी नही सकता।

इसके अतिरिक्त हिन्दी नीति-काव्य मे ईश्वर को धर्म तथा धार्मिको का रक्षक, अधार्मिको को नष्ट करने वाला, दयालु, न्यायी, अनन्त एव अनादि, शरणागत तथा भक्तवत्सल आदि भी कहा गया है।

साधु—ससार से विरक्त होकर साधना और भजन करने वाले साधु कहलाते हैं—

साधु वही जो काया साधै।
सव कछु छाँडि ईस आराधै।[3]

साधु होना सरल नही है। उसे ससार के बीच पानी मे तैलविन्दु सा रहना पडता है। राग और द्वेष दोनो ही से वह दूर रहता है। साधु का लक्षण वतलाते हुए सुन्दरदास कहते हैं—

कोउक निन्दत कोउक वन्दत कोउक आइकै देत है भक्षन।
कोउक आइ लगावत चन्दन कोउक डारत धूरि ततक्षन।
कोउ कहै यह मूरप दीसत कोउ कहै यह आहि विचक्षन।
सुन्दर काहु सो राग न द्वेष सुभे सव जानहुँ साधु के लक्षन।

---

१ नीति छन्द०।

२ वृन्द सत०, ५७०।

३ नीति छन्द०।

४ सुन्दर : सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४९३।

धनादि के आकर्षण उसके लिए ऐसे ही हैं जैसे हाथी के लिए मच्छर की लात। अर्थात् ऐसी चीजो से वह तनिक भी प्रभावित नही होते। रामचरित उपाध्याय का एक दोहा है—

क्यौं हूँ साँचो साधु नही कचन लखि ललचात।
गिरि न मरत करिवर कि हूँ, लगे मसक को लात।[1]

'राजेश' साधु को पूर्णरूपेण पका हुआ फल कहते हैं जो सासारिकता रूपी पेड की डाल को स्वभावत छोडकर अलग हो जाता है—

जे जन साँचे सन्त भे तिन्हैं कहाँ ससार।
पाके फल राजेस जू रहैं न तरु की डार।[2]

सतो का सबसे बडा गुण यह है कि वे केवल अपना भला नही करते। उनके समीप जो भी जाता है उनसे लाभान्वित होता है। कबीर सच्चे सन्त को चन्दन का पेड कहते हैं[3] जो अपने समीप के ढाक जैसे सामान्य पेडो को भी अपनी गन्ध से सुगन्धित कर देता है। यही नही सन्त इतने उदार होते है कि उनकी बुराई करने के सकल्प से भी जो उनके पास जाता है उसका भी वे भला ही करते हैं, जिस प्रकार चन्दन अपने काटने वाली कुल्हाडी को भी सुगन्धित कर देता है। दुष्टो के कठोर वचन शान्तिपूर्वक सह लेना—

खूँदन कौ धरती सहै बाढ सहै बनराइ।
कुसबद तौ हरिजन सहै दूजै सहा न जाइ।[4]

केवल अपने पेट भर ही लेना,[5] किसी से घृणा न करना तथा क्षमा एव अहिंसा की मूर्ति होना आदि उनके अन्य गुण हैं। इन्ही गुणो के कारण साधुओ की सगति को पूरे नीति काव्य मे बडा महत्वपूर्ण कहा गया है। तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे।

मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगनाथ।
साधु सगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ।[6]

---

१ व्रज सतसई, पृ० ४३।
२ राजेश दोहा०, ३५।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५०।
४ वही, पृ० ६३।
५ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५८ १०।
६ वही, पृ० ४६।

सत समागम कीजिए तजिए और उपाइ ।
सुन्दर बहुते उद्धरे सत सगति मे आइ ।[1]

दारिद सुरतरु ताप ससि हरै सुरसरी पाप ।
साधु समागम तिहु हरे पाप दीनता ताप ।[2]

सन्तो के अन्य गुणो मे उनका मद, मत्सर, अहकार, क्रोध, काम, असत्य, निर्दयता, असन्तोष तथा कटुवचन[3] आदि से दूर रहना है। यही कारण है कि—

धोवत है ससार सव गगा माहे पाप ।
सुन्दर सन्तनि के चरण गगा वछे आप ।[4]

सन्तो मे इन गुणो के होने के साथ ही नीति के कवियो ने इस वात का भी अनुभव किया है कि इस प्रकार के यथार्थ साधु वहुत कम होते हैं। इस विषय के छन्द नीति-काव्य मे भरे पडे हैं। गरीवदास कहते हैं—

साधू ढूंढन नीकलूं वहु विध काछूं काछ ।[5]

दीनदयाल गिरि कहते हैं—

साधु रहैं नहि सकल थल कविजन कहैं वखानि ।
वन वन चन्दन होंहि नहि गिरि गिरि मानिक खानि ।[6]

इधर-उधर घूमने वाले साधु वस्त्र, जटा, टीका तथा इस प्रकार के अन्य वाह्याडम्वरो तक ही साधु होते हैं। यथार्थत उनमे साधुता नही होती। मध्ययुगीन सन्तो ने इस प्रकार के आडम्वरपूर्ण साधु-सन्तो को वहुत फटकारा है। कवीर कहते हैं—

कवीर भेप अतीत का, करतूति करै अपराधु ।
वाहरि दीसै साध गति माँहै महा असाधु ।[7]

आजकल के वहुत से महन्त नामधारी साधु सम्पत्तिवान वने वैठे हैं तथा

---

१ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ७४१।

२ दृष्टान्त तरगिणी, १६१।

३ वही, पृ० ७४४।

४ वही, पृ० ४७५।

५ गरीवदास की वानी, पृ० ८७।

६ दृष्टान्त तरगिणी, १४०।

७ कवीर ग्रन्थ०, पृ० ४६।

दासियाँ ग्रादि रखते है। नीति साहित्य मे इन दोनो बातो का घोर विरोध है। कामिनी ग्रौर कचन भक्ति के प्रबलतम शत्रु है। नरहरि कहते हैं—

कुलवन्त पुरुष कुल विधि तजै बधु न मानै वधु हित।
सन्यास धारि धन सग्रहै ये जग मे मूरख विदित।[1]

घाघ ने कहा है—

ग्रालस नीद किसानै नासै चोरै नासै खाँसी।
ग्रंखियाँ लीवर बेसवै नासै बावे नासै दासी।[2]

मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती मे ग्राजकल के महन्तो ग्रौर साधु-सन्तो पर बडे सटीक व्यग किये हैं।[3]

साधु के सम्बन्ध मे गिरिधर ने एक बहुत ही सुन्दर कु डलिया कही है—

बहता पानी निर्मला, पडा गध सो होय।
त्यो साधू रमता भला, दाग न लागे कोय॥
दाग न लागे कोय जगत मे रहै ग्रलैदा।
राग-द्वेष युग प्रेत न चित को करै बिछेदा॥
कह गिरिधर कविराय शीत उष्णादिक सहता।
होइ न कहुँ ग्रासक्त यथा गगाजल बहता॥[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नीति-काव्य मे साधु को, धार्मिक दृष्टि से एक पूर्ण मानव के रूप मे चित्रित किया गया है। इसके द्वारा नीति के कवियो ने सम्भवत ससारी व्यक्तियो के ग्रनुकरण के लिए एक ग्रादर्श प्रस्तुत किया है।

गुरु—धर्म ग्रौर शिक्षा दोनो ही क्षेत्रो मे गुरु का बहुत बडा महत्व है। हर क्षेत्र मे जीवन की सफलता-ग्रसफलता बहुत ग्रशो मे गुरु पर ही निर्भर है। तुलसी कहते है—

राम नाम कलि काम तरु राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु॥[5]

---

१ कविता कौमुदी भाग, १, पृ० २२७।

२ घाघ, ४१।

३ भारत भारती, पृ० १२८-६।

४ गिरिधर कु ड०, १२६।

५ तुलसी दो०, २७। सुन्दर ने भी कहा है—

गुरु बिनु ज्ञान नाहि, गुरु बिनु ध्यान नाहि,
गुरु बिनु ग्रात्मा विचार न लहतु है
भ्रम हू को नाश नाहि, सशय रहतु है।
—सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ३८८।

इसीलिए गुरु का आश्रय आवश्यक है पर गुरु यो ही नही कर लेना चाहिये। लोकोक्ति है—

गुरु कीजै जान कर।
पानी पीजै छान कर ॥

आशय यह है कि बहुत ही समझ बूझ कर गुरु करना चाहिए। गुरु का कर्तव्य इतना गुरु है कि सभी लोग उसे नही निभा सकते। आज तो कनफुँकुवा गुरु गली-गली घूमते है, पर ऐसे गुरुओ को गुरु की सज्ञा नही दी जा सकती। सुन्दरदास ने अपने बहुत से छन्दो मे गुरु के लक्षण कहे हैं। यहाँ उदाहरण के लिए एक छन्द देखा जा सकता है—

काहूँ सौं न रोष-तोप काहू सौ न राग दोष,
काहू सौ न वैर भाव काहू की न घात है।
काहू सौं न बकवाद काहू सौ नही विषाद,
काहू सौ न सङ्ग न तौ कोउ पक्षपात है।
काहू सौं न दुष्ट बैन काहू सौ न लैन-दैन,
ब्रह्म को विचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईशन को महाईश,
सोई गुरुदेव जाकै दूसरी न बात है।[1]

यहाँ प्रधान रूप से धर्म-गुरु के लक्षण दिए गए है।

बहुत से सन्त नीतिकारो ने सच्चे और योग्य गुरु को भगवान से भी बडा माना है। सहजोबाई कहती है—

राम तजूँ पर गुरु न बिसारूँ।
गुरु के साम हरि कूँ न निहारूँ ॥[2]

आगे फिर वे गुरु की महत्ता प्रतिपादित करती हुई कहती है—

हरि ने जन्म दियो जग माही।
गुरु ने आवागमन छुटाही।
हरि ने कर्म-भर्म भरमायो।
गुरु ने आतम रूप लखायो।

---

१ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ३८७।
२ सहजो बा०, पृ० ३।

हरि ने मोसू आप छिपायो ।
गुरु दीपक दै ताहि दिखायो ।[1]

उन्ही के शब्दो मे गुरु चार प्रकार के होते हैं । एक तो दीपक की भाँति होते हैं जो हमारे हृदय के अन्धकार को दूर करते या उचित पथ हमारे लिए प्रकाशित कर देते हैं । दूसरे मलयागिरि की भाँति होते हैं, अर्थात् बुरो (बुरे पेडो) को भी अच्छा (चदन) कर देते हैं । तीसरे पारस की भाँति अपने सम्पर्क में आने वाले शिष्यो को स्वर्ण मे परिवर्तित कर देते हैं और चौथे गुरु भृ ग की भाँति होते है जो शिष्यों (कीटो) को अपने सा कर लेते हैं । कहना न होगा कि अपने सा योग्य बना लेने वाले गुरु ही सर्वोत्तम हैं ।

गुरु को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए । आजकल के गुरु प्राय धन-लोलुप होते हैं । तुलसी के समय मे भी गुरुओ की दशा आज जैसी ही थी, इसीलिए उन्होंने इसका विरोध करते हुए लिखा है ।

हरइ सिष्यधन सोक न हरई ।
सो गुरु घोर नरक मह परई ।[2]

इस प्रकार के अयोग्य गुरुओ को स्वय गुरु न बनना चाहिए और साथ ही शिष्यो को चाहिए कि भली-भाँति समझ-बूझकर किसी का शिष्यत्व स्वीकार करें । अन्यथा करने पर गुरु-शिष्य दोनो ही अधोगति को प्राप्त होते हैं । कबीर कहते हैं—

जाका गुरु भी अधला चेला खरा निरध ।
अधै अधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडन्त ।।[3]

दादू आदि अन्य सन्त कवियो ने भी अनाडी और पाखण्डी गुरुओ का बडा विरोध किया है ।[4]

यदि सच्चा गुरु मिल जाय तो उसकी आज्ञाओ का पालन आँख मूंद कर करने का उपदेश नीति-काव्य मे दिया गया है । तुलसी कहते हैं—

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी ।
बिनहिं विचारि करिय सुभ जानी ।[5]

---

१ सहजो बा०, पृ० ३ ।
२ मानस सूक्तावली ७३८ ।
३ कबीर ग्र ०, पृ० २ ।
४ दादू बा०, पृ० १२ ।
५ मानस सूक्तावली, ५७५ ।

शिष्य का यह भी पुनीत कर्तव्य है कि वह अपनी कोई भी बात गुरु से न छिपाए। क्योंकि बिना शिष्य के व्यक्तित्व से पूर्णत परिचित हुए गुरु उसकी उन्नति मे पूर्णरूपेण सहायक नही हो सकता। सहजोबाई कहती है—

गुरु सूँ कछु न दुराइए गुरु सूँ झूँठ न बोल।
बुरी भली खोटी खरी गुरु आगे सब खोल।[1]

इस प्रकार नीति के कवियो ने योग्य गुरु को बहुत महत्व दिया है जो सर्वथा उचित है।

ससार—मध्ययुगीन तथा कुछ आधुनिक नीति-कवियो के अनुसार ससार और इसके सारे पदार्थ अनित्य तथा असार हैं। इनमे कोई भी सच्चाई नही है। कबीर के शब्दो मे—

जो ऊग्या सो आँथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियाँ सो ढहि पडै जो आया सो जाइ।[2]

तुलसी कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न मे भिखारी राजा हो जाता है और दीन स्वर्ग का स्वामी, पर जगने पर उसे कोई लाभ नही होता। इसी प्रकार यह ससार भी स्वप्नवत् अर्थात् निस्सार है—

सपने होइ भिखारि नृप रक नाकपति होय।
जागे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपच जिय जोय।[3]

कबीर कहते हैं—

कबीर यहु जग कुछ नही षिन पारा षिन मीठ।[4]

या

यहु ऐसा ससार है, जैसा सैंबल फूल। दिन दस के व्यवहार कौं झूठै रागि न भूल॥[5]

ससार की असारता के कारण ही इसकी ओर से विमुख रहने का उपदेश नीतिकारो ने दिया है। तुलसी कहते हैं—

जग ते रहु छत्तीस ह्वै रामचरण छ तीन।[6]

पर आधुनिक युग मे इस प्रकार की भावना प्रतिक्रियावादी कही गयी है।

---

१ सहजो बा०, पृ० ६।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७३।
३ तुलसी दो०, २४७।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७३।
५ वही, पृ० २१।
६ तुलसी सत०, पृ० ७७।

श्रीधर पाठक ने भारत की "ससार की असारता" विषयक इस प्राचीन काल से आती हुई विचारधारा का अपनी प्रसिद्ध कविता "जगत सचाई सार" मे विरोध किया है—

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा झूठा है यह सब ससार।
थोथा झगडा, जी का रगडा, केवल दुख का हेतु अपार।

जगत है सच्चा, तनक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद।
पीओ खाओ सब सुख पावो, कभी न लाओ मन मे खेद॥[1]

कहना न होगा कि आज के युग मे इसी विचारधारा का आधिक्य है।

ससार के सम्बन्ध मे व्यक्त की गई ये दो विरोधी भावनाएँ जीवन के प्रति दो दृष्टिकोणो के प्रतीक हैं। प्राचीन विचारधारा भारतीयता के निकट है तो आधुनिक यूरोपीय दृष्टिकोण से प्रभावित है। यो दोनो ही विचार भारत एव यूरोपीय दोनो ही देशो मे सभी कालो में खोजे जा सकते हैं पर भारत मे प्रथम विचार का प्राधान्य रहा है तो यूरोप मे दूसरे का। तथ्य यह है कि दोनों के समन्वय से ही इस दिशा मे स्वस्थ पथ मिल सकता है।

शरीर—ससार की भाँति ही शरीर भी नीति के कवियों द्वारा प्राय असार 'धुँआ का सा धौरहर' तथा अनित्य आदि कहा गया है। रहीम कहते हैं—

रहिमन ठठरी धूरि की रही पवन ते पूरि।
गाँठ युक्ति की खुलि गई अन्त धूरि की धूरि।[2]

सहजो इसके कारण उदास हैं—

यह तन झूठा देख कर सहजो भई उदास।[3]

गरीबदास तोते द्वारा सेमर के फूल को सेने की भाँति जीवधारियो द्वारा शरीर की सेवा को व्यर्थ कहते हैं—

सूआ सेमर सेइआ ऐसे नर या देह।
जम किंकर तुझ ले गया मुख मे देकर खेह।[4]

सुन्दरदास इसे बुरा कहते हैं—

सुन्दर देह मलीन अति, बुरी वस्तु को भौन।
हाड मास को कोथरा भली वस्तु कहि कौन।[5]

---

१ जगत सचाई सार, पृ० ३।
२ रहीम दो०, १६७।
३ सहजो बा०, पृ० १८।
४ गरीब बा०, पृ० ३।
५ सुन्दर ग्रन्थ० पृ० ७२०।

तथा इसकी अशुचिताओ की ओर संकेत करते हुए इस पर गर्व करने वाले को फटकारते है—

थूक रु लार भर्यो मुख दीसत आँखि मे गीज रु नाक मे सेढौ।
औरऊ द्वार मलीन रहै नित हाड के मास के भीतरि बैठौ।
ऐसे शरीर मे वास कियौ तब एक से दीसत वामन ढेढौ।
सुन्दर गर्व कहा इतने पर काहे कौ तू नर चालत टेढौ।[1]

शरीर के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विचार पुराने लोगो के हैं। आधुनिक युग शरीर को अनित्य आदि मानते हुए भी उसकी उचित सेवा एव उपयोग का उपदेश देता है। श्रीधर पाठक कहते हैं—

मिट्टी ही तन वदन हमारा सो सब ठीक कहानी है।
पर जो उलटा समझ के इसको बनै आप ही ज्ञानी है।
मिट्टी करता है जीवन को और बडा अज्ञानी है॥

..

आगे उन्होने ऐसा कहने वाले साधुओ पर व्यग्य किया है—

समझ के सारे जगत को मिट्टी मिट्टी जो कि रमाता है।

....

कभी नही मूरख ऐसा नर सार सृष्टि का पाता है।[2]

कहना न होगा कि संसार की भाँति शरीर के सम्बन्ध मे भी दोनो दृष्टिकोणो का समन्वय आवश्यक है।

मन—मन ही वह धुरी है जिसके सहारे जीवन की गाडी चलती है। हमारी सफलता एव असफलता का सारा उत्तरदायित्व मन पर ही है। कहा भी गया है—

मन के हारे हार है मन के जीते जीत—

धार्मिक साधना या व्यावहारिक जीवन दोनो ही दृष्टियो से नीतिकारो ने मन को अपनी मुट्ठी मे रखने पर बल दिया है, पर इसे मुट्ठी मे रखना सरल नहीं है। इसकी चचलता प्रसिद्ध है। तुलसी ने इसे पीपल का पत्ता[3] कहा है, जो कभी भी शान्त ही नही होता।

---

१ वही, पृ० ४३६।
२ जगत सचाई सार, पृ० १-२।
३ तुलसी सूक्त०, ४३५।

गिरिधर ने मन की चचलता की ओर लक्ष्य करके कहा है—

जानी रे मन चचला सब तेरी करतूत ।[1]

तथा

जैसा यह मन भूत है और न दुतिय वताल।
छिन मे चढै अकाश को, छिन मे धसै पताल ।।[2]

अपनी इस चचलता के कारण ही मन भयावह है। सारी इन्द्रियाँ उसके ही वश मे हैं। ऐसी स्थिति मे यदि वह वश मे नही हैं तो इन्द्रियाँ भी कहना न मान कर पथभ्रष्ट हो जाती हैं। रत्नावली कहती हैं—

पांच तुरग तनु रथ जुरे चपल कुपथ ले जात।
रत्नावलि मन सारथिहि रोकि रुकें उत्पात ।।[3]

दुलारे लाल अपनी दोहावली मे मन को ही इस जीवन नौका का मल्लाह मानते हैं। आशय यह है कि यदि वह ठीक है, वश मे है तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देगा और यदि वश मे नही है तो चाहे धर्म का क्षेत्र हो या व्यवहार का, अपनी मनमानी करके मँझधार मे डुबो देगा।

जग नद मे तेरी परी देह नाव मँझधार।
मन मलाह जो बस करै निहचै उतरे पार ।।[4]

यह मन, अपनी चचलता और अकुशहीनता के कारण जितना भयावह है, वश मे होने पर उतना ही सहायक भी है, क्योकि, इसके सहारे हम उचित मार्ग पर चल सकते हैं तथा अनुचित मार्ग से बच सकते हैं। जान ने अपने "सत्तवाना" मे इस विषय पर एक बडा सुन्दर सोरठा कहा है—

मन सौं मित न कोइ, जो अपने बस होत है।
कहे माँहि ना होइ, तो ऐसो अरि और ना ।।[5]

मन को वश में करने का पथ भी नीति-काव्य मे बतलाया गया है और वह है पुन्य कार्यो मे प्रवृत्त होना, पाप पथ से यथासाध्य बचना तथा भगवान के ध्यान मे लीन होना आदि। एक कुडलिया है—

पीपर को है पात मन, अति चचल पवमान।
पै पुन्यन मे रुकै जो, यह गति मरे निदान ।।

---

१ गिरिधर कुड०, ११३।

२ वही, ११४।

३ रत्नावली दो०, १८५।

४ दुलारे दो०, ३९।

५ जान सत्तनावा।

यह गति मरे निदान, पाप को पथ न गहिए।
राम नाम औ ध्यान अग्नि मे मन को दहिए ॥
सुद्ध स्वर्ण हो जाय, पतन को देय न अवसर।
और सात हो जाय, आज जो पातहिं पीपर ॥[१]

मन को लेकर नीति-काव्य मे एक बडा मनोरजक प्रश्न उठाया गया है। रहीम कहते हैं—

जो रहीम तन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।
जल मे जो छाया परी काया भीजति नाहिं ॥[२]

रहीम का आशय यह है कि शरीर प्रधान है। शरीर यदि अपने कहने मे है तो मन कही भी जाय आदमी बुरा कर्म नही कर सकता। पर दूसरी ओर बीरबल का एक दोहा है—

तन जावे तो जान दे दृढ कर मन वर वीर।
रोदे विना कमान के कैसे लागे तीर ॥[3]

ये दोनो बातें एक दूसरे की विरोधी हैं। रहीम तन को प्रधानता देते है और बीरबल मन को। तथ्यतः रहीम की बात का कोई अर्थ ही नही है। मन के वश मे न होने पर शरीर के वश मे होने का प्रश्न ही नही उठता। शरीर जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व मन पर ही है। मन ही शरीर का सचालक है। ऐसी स्थिति मे बीरबल की बात ही ठीक है और मन ही प्रधान है, शरीर नही।

माया—हिन्दी नीति-काव्य मे माया शब्द का प्रयोग सासारिक बन्धनो एवं आकर्षणो के लिए हुआ है, जिनके कारण जीव संसार मे लिप्त रहता है और लाख कष्ट पाने पर भी उसे छोडना नही चाहता। तुलसी लिखते हैं—

मैं अरु मोर तोर तै माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई ॥[४]

साथ ही अविद्या, भ्रम, मोह आदि अज्ञानजनित ऐसे अन्य विषय भी जो

---

१ नीति छन्द०।
२ रहीम दोहा०।
३ नीति छन्द०।
४ तुलसी सूक्त०, ५६७।

छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी कामो मे श्रम अपेक्षित है। बिना उसके कुछ भी सम्भव नही। वृन्द कहते हैं—

श्रम ही तें सब मिलत हैं बिन श्रम मिलै न काहि।
सीधी अँगुली घी जम्यो क्योहू निकरै नाहि॥[1]

श्रमी के लिए अशक्य भी शक्य है—

जितने उत्तम काम हैं दीखे सभी अशक्य।
काम मात्र ससार के सत्य श्रमी को शक्य॥[2]

भगवानदीन कहते हैं कि श्रम के बदले मे मिलने वाले यश या धन पर ध्यान न देकर श्रम के लिए श्रम या अनुभव आदि के लिए श्रम करना चाहिए।

श्रम का फल तो काम है, अनुभव आतम ग्यान।
धन जो रूंगे मे मिले, धन पर फिर क्यों ध्यान॥[3]

पर यह एक आदर्श की बात है। फल की ओर ध्यान दिए बिना यो ही कर्म या श्रम व्यावहारिक नही। इस दृष्टि से वृन्द ने एक बड़ी व्यावहारिक बात कही है। वे कहते हैं श्रम करना चाहिए और बिना श्रम के कुछ प्राप्य नही, पर श्रम करने के पूर्व यह भी सोच लेना चाहिए कि श्रम का फल क्या मिलेगा। यदि श्रम अधिक करना हो और प्राप्ति कम हो तो कभी नही करना चाहिए। पहाड खोद कर चुहिया निकालना कौन चाहेगा?

क्यो करिए प्रापति अलप जामे श्रम अति होइ।
कौन गरज गिरि खोदि कै चूहो काढै कोइ॥[4]

उद्योग की भाँति श्रम भी मनुष्य के भाग्य को चमकाने वाला अर्थात् उन्नति का कारण है—

लोहा चमके घिसे से लकडी रगडे आग।
सोना चमके ताप से श्रम से चमके भाग॥[5]

और इससे मनुष्य को पूर्णता की प्राप्ति होती है—

बस मनुष्य को जगत मे श्रम ही करता पूर्ण।
श्रम द्वारा आपद शिला हो जाती है चूर्ण॥[6]

---

१ वृन्द सत०, पृ० १६०।
२ नीति के दोहे।
३ वही।
४ वृन्द सत०, २५०।
५ नीति के दोहे।
६ नीति के दोहे।

कर्म—संसार को कर्मक्षेत्र कहा गया है। यहाँ मनुष्य का प्रमुख धर्म कर्म है, अतएव मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए। वेकार रहना उचित नही। भगवानदीन कहते हैं—

वेकारी सव से वुरी निपट निराशा खान।
आशा वसती कर्म मे, कर्म करें विद्वान ॥[1]

तुलसी ने भी "कर्म प्रधान विस्व करि राखा" तथा "कर्म प्रधान सत्य कह लोगू" आदि कह कर कर्म करने पर एव उसकी प्रधानता पर वल दिया है।

कर्म करना जितना आवश्यक है, कर्म करने के पूर्व भली-भाँति सोच लेना उससे कम आवश्यक नही। विना विचारे हुए जो कर्म करता है उसे वाद मे पछताना पडता है। गिरिधर का प्रसिद्ध छन्द है—

विना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काम विगारै आपनो जग मे होत हँसाय॥
जग मे होत हँसाय चित्त मे चैन न पावै।
खान पान सन्मान राग रग मर्नाहि न भावै॥
कह गिरिधर कविराय दुख कछु टरत न टारै।
खटकत है जिय माँहि कियो जो विना विचारै ॥[2]

काम करने के पूर्व सोचने मे प्रधान रूप से तीन वातो का ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि जो काम करे अच्छा हो—

अस करनी तू करि रतन सुजन सराहै तोहि।[3]

वुरा न हो क्योकि वुरा कर्म अपना सवसे वडा शत्रु है। गिरिधर कहते है—

वैरी तेरो और नहि वैरी इक वदफेल।[4]

साथ ही अच्छा होते हुए भी काम वे-मेल न हो। वृन्द कहते है—

अनमिलती जोई करत ताही कौ उपहास।
जैसे जोगी जोग मे करत भोग की आस॥[5]

काम अच्छा और मेल का हो, फिर भी यदि अपने स्वभाव एवं सामर्थ्य का न हो तो न करे। क्योकि ऐसा काम अपने वश का नही होता।

---

१ वही।
२ गिरिधर कुण्ड०, ६८।
३ रत्नावली दोहा०, १७८।
४ गिरिधर कुण्ड०, ४०८।
५ वृन्द सत०, २५।

जो जाको करतब सहज रतन करि सकै सोय ।
पावा उचरतु ओठ सो हाहा गल सो होय ।।[1]

तथा

अपनी पहुँच बिचारि कै करतब करिए दौर ।
तेतो पॉव पसारिए जेती लाबी सौर ।।[2]

कर्म के सम्बन्ध मे दो और बातो की ओर भी नीतिकारो ने सकेत किया है । एक तो यह कि काम करने मे तरह-तरह के लोग तरह-तरह की राय देते हैं पर चतुर का काम यह है कि बात सब की सुने पर अपने लाभ के लिये स्वय सोच-विचार कर जो उचित समझे करे, साथ ही यदि ऐसा किया जा सके जो किसी को बुरा न लगे तो अधिक अच्छा हो ।

सुनिये सब ही की कही करिये स्वहित विचार ।
सर्व लोक राजी रहै सो कीजै उपचार ।।[3]

यद्यपि किसी काम मे ऐसा रास्ता निकालना सरल नही, जिससे सभी लोग प्रसन्न हो । "बूढे, बच्चे और घोडे" की लोक-प्रसिद्ध कहानी इस बात का प्रमाण है ।

नीतिकारो ने यह भी कहा है कि जब तक काम न हो जाय भरसक उसे दूसरों से न कहे । इससे सहायता तो कम मिलती है पर बाधाएँ बहुत सी खडी हो जाती है । गिरिधर कहते है—

साईं अपने चित्त की भूलि न कहिये कोइ ।
तब लग मन मे राखिये जब लग कारज होइ ।।
जब लग कारज होइ भूलि कबहूँ नहि कहिए ।
दुरजन हँसै न कोय आप सियरे ह्वै रहिए ।।[4]

नौकर और नौकरी—

नौकर का धर्म बहुत कठिन माना गया है । तुलसी कहते हैं—

सब तें सेवक धर्म कठोरा ।[5]

इस कठिनाई का प्रधान कारण यह है कि मनुष्य को अपनी भलाई पहि-

---

१ रत्नावली दोहा०, पृ १६३ ।
२ वृन्द सत०, १६ ।
३ वही, ५८४ ।
४ गिरिधर कुण्ड०, ७० ।
५ मानस सूक्त०, ६७६ ।

चौमेंना ही कठिन होता है, फिर पग-पग पर आत्मस्वार्थ, जो मनुष्य की सबसे बडी कमजोरी है, को त्याग कर दूसरे की भलाई के उपयुक्त आचरण करना कितना कठिन है, कहने की आवश्यकता नही और सच्चे सेवक का कर्तव्य यही है। तुलसी ने कहा है—

करहि स्वामि हित सेवक सोई।[१]

सेवक को अपने प्राण पर खेल कर भी स्वामी का नमक अदा करने को तैयार रहना चाहिए। सूर्यमल्ल ने अपनी वीर सतसई मे लिखा है—

दमगल विण अपचो दियण वीर धणी रो धान।
जीवन धण वाल्हा जिकाँ छोडो जहर समान॥[२]

अर्थात् वीर स्वामी का अन्न युद्ध विना नही पचता। अत जिन्हे जीवन और स्त्री प्रिय है वे उस अन्न को जहर समझ कर छोड दें। वृन्द ने यथार्थ सेवक उसे कहा है, जो स्वामी पर विपत्ति पडने पर भी उसका साथ न छोडे—

सेवक सोई जानिए रहै विपति मे सग।
तन छाया ज्यो धूप में रहै साथ इक रंग॥[३]

सर्वदा साथ रहने वाले निजी नौकर के सम्बन्ध मे नीति-काव्य मे दो-तीन वातो पर विशेष वल दिया गया है। उसे वहरा नही होना चाहिए—

पति मूरख वेस्या सलज अविनय सुत सठ मित्र।
सूम स्वामि सेवक वधिर सुखद न रामचरित्र॥[४]

साथ ही उसका चोर होना भी वहुत बुरा है

चाकर चोर राज वे पीर।
कहैं घाघ का धारी धीर॥[५]

ऐसा नौकर भी अच्छा नही होता जो प्रसन्न रहने पर तो काम करे और जरा भी अप्रसन्न हो जाय तो काम विगाड दे।

तुष्टहि निज रुचि काज करि रुष्टहि काज विगारि।
तिया, तनय, सेवक, सखा मन के कटक चारि॥[६]

---

१ तुलसी हितो०, पृ० १२५।
२ वीर सत, १०।
३ वृन्द सत०, ५११।
४ व्रज सत०, पृ० ३६।
५ घाघ, ३०।
६ तुलसी सत० ७ २६।

सदा साथ रहने वाले निजी नौकरो के सम्बन्ध मे दो अन्य बातो का ध्यान भी अत्यावश्यक है। एक तो यह कि उनका यथोचित आदर करना चाहिए।[१] इससे वे अपने काम को अधिक प्रेम और दत्तचित्तता से करते है और दूसरे उनसे अधिक नही बोलना चाहिए। ऐसा न करने से वे अपनी और अपने स्वामी की मर्यादा का ध्यान नही रख पाते। रत्नावली कहती है—

करमचारि जन सो भली जथा काज बतरानि।
बहु बतानि रत्नावली, गुनि अकाज की पानि॥[२]

नौकर होना या नौकरी करना अच्छा नही समझा जाता, यद्यपि बहुत से लोग नौकरी करते हैं और उससे भी अधिक लोग करना चाहते हैं। प्रसिद्ध लोकोक्ति है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी भीख निदान।

आधुनिक युग मे नौकरी का बहुत अधिक विरोध हुआ है। नीति के आधुनिक कवियो ने इस सम्बन्ध मे लिखा भी है। दामोदरसहाय सिंह लिखते हैं—

लिखि पढि जो घर मे रहै करै खेत व्यापार।
हँसै लोग बिनु चाकरी ऐसे निपट गँवार॥
याते बहुधा चाकरी सिच्छित करत पसन्द।
परबसता बेडी बडी पडी हथकडी बन्द॥
पर परबस मैं नौकरी जैसी छाँह खजूर।
करी खुसामद रात दिन जी सरकार हजूर॥

•

उत्तम खेती जानिए मध्यम है व्यापार।
अधम नौकरी अधमतम भीख कहावत सार॥[३]

सच्चाई यह है कि परिश्रम और ईमानदारी से किया गया कोई भी उचित कार्य बुरा नही है और नौकरी भी इसका अपवाद नही। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है खेती या व्यापार जैसे स्वतन्त्र कामो की तुलना मे नौकरी में परतन्त्रता और प्रतिबन्ध अधिक हैं अत कुछ कष्ट भी हैं साथ ही उसकी अपनी अच्छाइयाँ

---

१ रत्नावली दोहा०, १५७।
२ वही, पृ० १०५।
३ सुधा सरोवर, पृ० ४०।

भी कम नही हैं। व्यापार की भाँति घाटा लगने का या खेती की भाँति अकालादि से हानि उठाने का उसमे कोई प्रश्न ही नही है।

आय-व्यय—व्यावहारिक नीति मे आय और व्यय का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। बडा या छोटा चाहे कोई भी क्यो न हो, जो अपनी आमदनी के अनुसार व्यय नही करता, उसे पश्चाताप करना पडता है। हिन्दी नीति काव्य मे बहुत से नीतिकारो ने इस बात पर बल दिया है। दो उदाहरण पर्याप्त होगे। रत्नावली कहती है—

जे न लाभ अनुसार जन मितव्यय करहिं विचारि।
ते पाछे पछतात अति रतन रकता धारि॥[1]

अर्थात् जो अपने लाभ या आमदनी के अनुसार विचार कर ठीक-ठीक खर्च नही करते, उन्हे दरिद्र होकर पछताना पडता है।

जान कहते है कि आमदनी के अनुसार अच्छी तरह सोच विचार कर व्यय करना ही अच्छा है—

मन मे भले विचारि के जैसी आमद होइ।
तैसो ही करि है खरच भलो दिखावै सोइ॥[2]

धन—ससार के सारे व्यापार धन के ही बल पर चल रहे है। इसी कारण सुख-सुविधाओ को प्राप्त करने का एक माध्यम मात्र होने पर भी इसका महत्व सबसे अधिक है। सस्कृत के बहुत से श्लोको मे इसका महत्व गाया गया है।[3] और यथार्थत यह इस महत्ता का आज अधिकारी भी है। हिन्दी नीति काव्य मे धन के विषय मे दो दृष्टि से छन्द लिखे गए हैं। भक्त तथा कुछ अन्य कवियो ने माया का सेनानी तथा पाप का घर आदि कह कर इसका विरोध किया है, पर अन्य नीतिकारो ने सस्कृत के नीतिकारो की भाँति इसकी आवश्यकता एव इसके महत्व को खुले शब्दो मे स्वीकार किया है।

कबीर तथा दादू आदि सन्त कवियो ने प्राय 'कनक और कामिनी' का साथ-साथ विरोध किया है। दादू कहते हैं सामान्य व्यक्तियो की तो बात ही क्या जो धन और स्त्री के पीछे पागल रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जिनका मन 'मृतक' हो चुका है तथा इन्द्रियाँ अपने अधीन हैं, उन्हे भी कनक और कामिनी का साथ नही करना चाहिए।

---

१ रत्नावली दोहा०, १५६।

२ जानः पदनावा।

३ यस्यास्ति वित्तं स नर कुलीन, स पडित स च श्रुतिमान गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणा काचनमाश्रयन्ते॥
टका करता टका धरता टका मोक्षप्रदायक।
टका सर्वत्र पूज्यन्ते विन टका टकटकायते॥

वृन्द का दोहा है—

धनी होत निरधन बहुरि निरधन तें धनवान।
बडी होति निसि सीत ऋतु ज्यो ग्रीषम दिन मान ॥[1]

तथा रहीम का प्रसिद्ध छन्द है—

कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू क्यो न चचला होय ॥[2]

धन और विद्या या लक्ष्मी और सरस्वती मे प्राय बैर देखा जाता है। विद्वान लोग प्राय निर्धन होते हैं और धनवान लोग विद्या-शून्य। वृन्द ने कहा है—

विद्या लक्ष्मी पुरुष पैं होय नही इक ठाँय।
नाहिन सुख ह्वै सौति मे पिय पैं एकहि जाय ॥[3]

ऊपर गिरिधर कविराय की कुण्डलिया मे कहा जा चुका है कि धनी होने पर गर्व नहीं करना चाहिए। रत्नावली ने भी कहा है—

तन धन जन बल रूप को गरब करौ जनि कोय।
को जाने विधि गति रतन छन मे कछु-कछु होय ॥[4]

धन के सम्बन्ध मे कुछ अन्य बातें भी सक्षेप मे देखी जा सकती हैं। धन कृपणो के यहाँ रहता है—

नेह करति तिय नीच सो धन किरपन घर माहिं।
बरसैं मेंह पहाड पैं कै ऊसर बरसाहिं ॥[5]

धन का उचित उपयोग व्यय तथा दान है—

खायो जाय जो खाय रे दिया जाय सो देह।
इन दोनो से बचै जो सो तुम जानो खेह ॥[6]

इसके बाद जो पैसा जोडकर रखा जाता है वह मिट्टी के बराबर है। पर विहारी इसके उलटे कहते हैं—

मीत न नीत गलीत ह्वै जो धन धरिये जोरि।
खाए खरचे जो बचै तो जोरिये करोरि ॥[7]

---

१ वृन्द सत०, ६६० ।
२ रहीम दोहा०, २५ ।
३ वृन्द सत०, ६८७ ।
४ रत्नावली दोहा०, १६० ।
५ वृन्द सत०, ५१७ ।
६ गिरिधर कुण्ड०, १२० ।
७ विहारी सत०, ६४६ ।

अर्थात् खाने और खर्चने से यदि बचे तो बटोर कर धन रखो। गिरिधर के कथन की अपेक्षा बिहारी का कथन अधिक व्यावहारिक है। सचित धन विपत्ति के समय काम आता है, अत अवश्य ही असमय के लिए कुछ बटोर कर रखना चाहिये। गिरिधर की दोनो ओर से मोमबत्ती जलाने वाली नीति[1] श्रेयस्कर नही कही जा सकती।

वृन्द कहते है कि धन खरचने-खाने से नही जाता बल्कि दिल मे बुरी भावनाओ के आने पर जाता है :

खरचत खात न जात धन औसर किए अनेक।
जात पुन्य पूरन भये अरु उपजे अविवेक ॥[2]

पर ससार को देखते हुए यह बात ठीक नही कही जा सकती। अविवेकी तथा पापी व्यक्ति भी ससार मे धनवान है और साथ ही कितने ही लोग खरचने और खाने के कारण ही निर्धन है।

धन का व्यय अपनी आय के अनुसार करना चाहिए। जितनी बडी चादर हो पैर उतना ही फैलाना उचित है। तुलसी लिखते हैं—

तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती, साधु, सयान।
जो विचार व्यवहरइ जग खरच लाभ अनुमान ॥[3]

धन के विषय मे नीतिकारो का यह भी कहना है कि इसका स्वभाव छाया की तरह बड़ा विचित्र है। यदि छाया की ओर अभिमुख न होकर उसके उलटे कोई जाय तो वह भी पीछे-पीछे जायेगी पर दूसरी ओर यदि कोई उसकी ओर अभिमुख होकर उसे प्राप्त करना चाहे तो वह भागती जायेगी। तुलसी कहते है—

दिये पीठि पाछे लगे सनमुख होत पराय।
तुलसी सम्पति छाँह ज्यो लखि दिन बैठि गँवाय ॥[4]

तुलसी की इस बात को पूर्णत ठीक नही कहा जा सकता। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि बहुत से लोग धन के पीछे पागल रहते हैं, पर उन्हे कुछ भी नही मिलता पर दूसरी ओर यह भी कहना अयथा नही है कि बिना चाहे और उसके लिए प्रयत्नशील हुए धन नही मिलता। किसी अज्ञात कवि की उक्ति है—

---

१ पानी बाढो नाव में घर मे बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम ॥
२ वृन्द सत०, ६१५।
३ तुलसी दो०, ४७१।
४ वही, २५७।

पुरुष सिंह जो उद्यमी लक्ष्मी ताकी चेरि ।[१]

धनी—ऊपर धन के सम्बन्ध मे विचार करते समय धनी के सम्बन्ध में भी बहुत सी बातें प्रसगवश आ गई हैं। उनके अतिरिक्त भी नीतिकारो ने कुछ बातें कही हैं। धनी व्यक्ति को अपने धन का उचित ढग से उपयोग करना चाहिए। सूम बनकर कौडी-कौडी जोडना व्यर्थ है। ऐसे धन का उपयोग प्राय चोर ही करते हैं। वृन्द कहते हैं—

खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै ले जाय।
पीछे ज्यों मधु मच्छिका हाथ मले पछताय ॥[२]

धनी लोग प्राय कृपण या सूम होते हैं। यदि वे ऐसे न हो तो उनका धनी बनना सम्भव नही। वृन्द का ही एक दोहा है—

नेह करति तिय नीच सो धन किरपन घर माँहि।
बरसै मेह पहाड पर, कै ऊसर जल माँहि ॥

धनी व्यक्तियो का ससार आदर करता है। बुद्धिहीन होने पर भी वे आदर पाते हैं—

निरबुद्धी धनमान को मानत सकल जहान ।[४]

उनका अवगुण छिप जाता है और गुण प्रकट होने लगता है—

गुन प्रगटै अवगुन दुरै, जाके कमला साथ ।[५]

धनी व्यक्तियो के सभी लोग मित्र बनना चाहते हैं—

सम्पत्ति मे सबको सबै, बनहिं मीत अकलेस।
पिये जलधि कुम्भज लखत बिधि-हरिहर-अमरेस ॥[६]

धनी दो प्रकार के होते हैं। एक तो उच्च कुल के और दूसरे नीच कुल के। उच्च कुल के धनी नम्र होते हैं पर नीच कुल के घमण्डी। वृन्द कहते हैं—

भले बस को पुरुष सो निहुरै बहु धन पाय।
नवै धनुप सदवश को जिहिं द्वै कोटि दिखाय ॥[७]

---

१ नीति छन्द० ।
२ वृन्द सत०, ४७७ ।
३ वृन्द सत०, ५१७ ।
४ दृष्टान्त तरग०, ७३ ।
५ वृन्द सत०, ६८८ ।
६ व्रज सत० ५८ ।
७ वृन्द सत० ६२१

जान ने भी धनिको को दो वर्गो मे रखा है। एक तो नए धनी और दूसरे पुराने। नए धनी, या जो बहुत दीन दशा के बाद अभी हाल मे धनी बने रहते हैं अधिकतर बडे घमण्डी होते हैं—

नए धनेसु जो होत हैं अमित गर्व तिहि होइ।[1]

तथा

भिच्छक लच्छी पाइ है सूघे परे न पाय।
अनअमली की अमल तें थोरे मे सुधि जाय॥[2]

पर दूसरी ओर पुराने धनी नम्र होते है—

जौ धनेम है आदि लौं सो ना करत गुमान।
जैसें अमली को अमल नाहिन खोवत ज्ञान॥[3]

धनी व्यक्तियों को दान अवश्य देना चाहिए। यही उनकी शोभा है। वृन्द कहते हैं—

इनकौ मानुप जन्म दै कहा कियो भगवान।
सुन्दर मुख बोल न सकै दे न सकै धनवान॥[4]

इस बात पर सभी नीतिकारो ने बल दिया है कि धनी व्यक्तियो को गर्व नही करना चाहिए क्योकि सर्वदा कोई धनी नही रह सकता। जान कहते हैं—

पाँच बात ये जगत मे निवहत नाहिं निदान।
लछी सुप दुप रूप छवि तरुनाई कहि जान॥

रहीम धनिको का मजाक उडाते हुए कहते हैं

थोथे बादर क्वार के ज्यो रहीम घहरात।
धनी पुरुप निर्धन भए करें पाछिली बात॥[5]

इसका कारण यह है कि धन के बढने के साथ उनका मन भी बढ जाता है पर फिर धन घटने पर वह नही घटता—

बढत बढत सम्पति सलिल मन सरोज बढ जाय।
घटत घटत पुनि ना घटै वरु समूल कुँभिलाय॥[6]

---

१ जान सिपसागर पन्दनावा।
२ वही।
३ वही।
४ वृन्द सत०, ६४८।
५ जानः सिपसागर पन्दनामा।
६ विहारी सत०, ६४३।

घृत लहिये जल मथि बरुक अनल स्रवै वरुनीर।
पर सपनेहु न सुनि द्रवै, सूम पराई पीर॥[१]

नीतिकार कवियो ने सूम की सेवा को व्यर्थ कहा है, क्योंकि वे सेवा के बदले पुरस्कृत करना नही जानते—

'दास' वृथा जिन साहब सूम की सेवनि मे अपनो दिन खोयो।[२]

तुलसी के शब्दो मे सूम से नीति की बात कहना व्यर्थ है। इस भय से कि कहीं उसे कुछ व्यय न करना पडे वह उसके अनुसार आचरण करना नही चाहेगा—

सठ सन विनय कुटिल जन प्रीती।
सहज कृपिन सन सुन्दर नीती॥
...
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा।
ऊसर बीज बये फल जथा॥[३]

दीनदयाल गिरि के शब्दों मे सूम चाहे कितना भी धन वाला हो उससे कभी कुछ माँगना न चाहिए—

कृपन धनी नहि जाँचिए वरु निर्धन दातार।
तजिकै कुसुमित आक अलि करै कमल कुस प्यार।[४]

सूम की सबसे बडी विशेपता यह है कि उसके पास धन ज्यो-ज्यो बढता जाता है वह अधिकाधिक सूम होता जाता है। विहारी कहते हैं—

जेती सम्पति कृपन को तेती सूमति जोर।
बढत जात ज्यो-ज्यो उरज त्यो-त्यो होत कठोर।।[५]

दान—किसी को अपनी कोई वस्तु विना उसके वदले मे कुछ लिए या चाहे दे देना दान है। माघ के शब्दो मे किसी वस्तु पर से अपना स्वत्व हटा कर दूसरे का जमा देना दान है।[६] दान का नीति काव्य मे बहुत महत्व गाया गया है। वियोगी हरि अपनी "वीर सतसई" में "दान वीर" के विपय मे लिखते हुए दधीचि की अस्थि पर करोडो सुमेरु वारने को कहते हैं।[७] दादू भी दान देने पर वल देते हुए कहते हैं—

---

१ व्रज सत०, पृ० ४१।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४१०।
३ मानस सूक्ता०, ६६१।
४ दृष्टान्त तरग०, ६२।
५ बिहारी सत०।
६ स्वस्वत्त्व निवृत्य परस्वत्वोत्पादनंदानम्—माघ।
७ वीर सत०, पृ० ८-४४।

दादू दीया है भला दिया करो सब कोइ ।[१]

वे दान को जग मे यशस्वी होने का कारण बतलाते हैं तथा इसे इस लोक के बाद परलोक मे भी साथ जाने वाला मानते है—

दीया जग मे चाँदना, दीया चाले साथ ।[२]

हिन्दी नीतिकार कवियो के अनुसार दानी व्यक्ति को दान देने के सम्बन्ध मे कुछ बातो का ध्यान रखना चाहिए । पहली बात तो यह है कि जो कुछ भी दे प्रसन्न होकर अर्थात् खुशी-खुशी देना चाहिए ।[3] देते समय यदि देने वाला दुख का अनुभव करता है तो वह दान उचित नही । दूसरी बात यह है कि बिना माँगे दिया गया दान सर्वोत्तम है । इसीलिए रामचरित उपाध्याय ने "ब्रज सतसई" मे ऐसे दाता को दुर्लभ कहा है—

दुर्लभ सो नर जगत मे मानव कुल सिर नेत ।
जो बिनु माँगे ही रहे जो बिनु माँगे देत ।।[४]

दान के सम्बन्ध मे तीसरी बात यह है कि दान उचित व्यक्ति को दे । उचित व्यक्ति का आशय है ऐसा व्यक्ति जिसे उसकी आवश्यकता हो और साथ ही जो उसका सदुपयोग करे । इस बात पर जमाल[५] तथा वृन्द[६] आदि ने बल दिया है । वृन्द दान को औषधि मानते हैं । इसका आशय यह है कि जिस प्रकार ठीक तरह से सोच-विचार कर आवश्यकतानुसार औषधि देनी चाहिए उसी प्रकार दान भी । वृन्द लिखते है—

दान दीन को दीजिए मिटै दरिद की पीर ।
औषधि वाको दीजिए जाके रोग सरीर ।[६]

पर दूसरी ओर वृन्द ने ही एक ऐसा दोहा भी लिखा है जो इस बात का विरोधी है । वे "दाता" उस व्यक्ति को कहते हैं जो सबको दे—

जो सब ही को देत है दाता कहिए सोइ ।
जलधर बरषत सम विषम थल न विचारति कोइ ।।[७]

बादल भले-बुरे, योग्य-अयोग्य, तालाब (जिसे आवश्यकता न हो) तथा सूखा

---

१ दादू बानी, पृ० ४–३७–८ ।
२ वही ।
३ ब्रज सत०, पृ० ४० ।
४ वही, पृ० ३८ ।
५ जमाल दो०, ३२
६ वृन्द सत०, ४८४ ।
७ वही, १०० ।

खेत (जिसे आवश्यकता हो) आदि का ध्यान न रखकर जल बरसाता है। भगवानदीन ने भी अपने एक दोहे मे दानी के लिए सुपात्र, कुपात्र के ध्यान को अनावश्यक वतलाते हुए कहा है—

देते समय न सोच तू पात्र, कुपात्र, सुपात्र।
दान सदेच्छा से दिया करे सुपात्र कुपात्र ॥[1]

यह वात तो मान्य हो सकती है कि "दानी को दान सदेच्छा से देना चाहिए पर "कुपात्र, सुपात्र परख कर देने की आवश्यकता नही", यह उचित नही। एक शरावी को चाहे जितनी भी सदेच्छा से दान दिया जाय वह उसका मद्यपान मे ही उपयोग करेगा और दूसरी ओर मान लें कि कोई विचारवान दीन व्यक्ति है और उसके पास अपनी लडकी के विवाह के लिए पैसे नही हैं। ऐसे व्यक्ति को चाहे जिस भावना से दान दिया जाय उसका वह सदुपयोग ही करेगा, अत दान के विपय मे दान पाने वाले की सुपात्रता एव उसकी आवश्यकता का ध्यान अत्यावश्यक है।

दान के विपय में एक चौथी वात यह भी है कि दान गुप्त रखना चाहिए। दान देकर उसका ढिढोरा पीटने से दानी के अह को प्रोत्साहन मिलता है। रत्नावली ने कहा है—

पर हित करि वरनत न बुध गुपत रर्खाह दे दान।
पर उपकृति सुमिरत रतन करत न निज गुन गान ॥[2]

यो आज के युग मे लोग इस सीख को मानते नही। अब तो प्राय दान इसीलिए किया जाता है कि समाचार पत्रो मे नाम निकले।

घूस—उचित या अनुचित किसी भी अनुकूल कार्य को कराने के लिए दिया गया अनुचित धन (या वस्तु) घूस, अकोर, उत्कोच या रिश्वत आदि कहा जाता है। घूस समाज के लिए दो दृष्टियो से हानिकर है। एक तो लेने वाले इसके अभ्यस्त होने पर ऐसे हो जाते हैं, कि विना कुछ पाए उचित से उचित काम भी नही करते, अत उचित कामो के होने मे वाधा पडती है। दूसरी ओर घूस खिलाकर अनुचित काम कराने वाले भी जव इससे लाभान्वित होने लगते हैं तो अनुचित काम करवाने का उनका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार घूस से उचित के पथ मे व्यवधान खडा होता है और अनुचित को प्रोत्साहन मिलता है। हिन्दी नीति काव्य मे घूस का विरोध किया गया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। घाघ अकोर खाने वाले को गहरे समुद्र मे वोरने का आदेश देते हैं—

---

१ भगवानदीन नीति के दोहे।
२ रत्नावली दो०, १८२।

नारि करकसा कट्टर घोर।
हाकिम होइके खाइ अँकोर।
कपटी मित्र पुत्र है चोर।
घघ्घा इनको गहिरे बोर ॥[1]

ऋण—ऋण का लेना और देना दोनो बुरा है। ऋण लेने वाला इसका अभ्यस्त हो जाने पर धीरे-धीरे इससे लद कर अपना सर्वनाश कर बैठता है और दूसरी ओर ऋण देने वाला ऋण देकर लोगो से व्यर्थ मे शत्रुता मोल लेता है। हिन्दी नीति काव्य मे कई रूपो मे ऋण का उल्लेख है। रत्नावली कहती है कि अपने सगो से ऋण का व्यवहार अर्थात् ऋण लेना या देना दोनो ही अनुचित हैं। इससे प्रेमभाव नष्ट हो जाता है—

स्वजन सखी सो जनि करहु कबहूँ ऋन व्यवहार।
ऋन सो प्रीति प्रतीति तिय रतन होति सब छार ॥[2]

पर यह तो सिद्धान्त की बात है। इसे मानते हुए भी समय-असमय ऋण लेना और देना पडता है। जान कहते हैं कि ऋण के सम्बन्ध मे दो बातो का ध्यान रखे। एक तो यह कि जो कोई भी ऋण माँगे, उसे न दे दें। और यदि दें भी तो उसकी पुनप्राप्ति के लिए लडाई न करे।

सब काहू कों भूल के करज दीजिए नाँहि।
दीजैं तो ना कीजिए झगरौ आपुन माँहि ॥[3]

तुलसी कहते हैं कि अधिक व्याज पर ऋण कभी न ले, यह दुख का कारण होता है—

पाही खेती लगन बडि ऋण कुव्याज मगु खेत।
बैर आपु ते बडन ते कियो पाँच दुख देत ॥[4]

बहुत से लोग किसी से स्वय ऋण लेकर दूसरो को ऋण देते हैं। घाघ ने इसका विरोध किया है—

उधार काढि ब्योहार चलावै छप्पर डारै तारो।
सारे के सग बहिनी पठवै तीनिउँ का मुँह कारो ॥[5]

---

१ घाघ और भड्डरी, ४०।
२ रत्नावली दो०, १४७।
३ जान, पन्दनामा।
४ तुलसी सत०, ७. ११४।
५ घाघ।

ऋण लेने के अभ्यस्त व्यक्ति बड़े बेशरम हो जाते हैं। वे किसी दूसरे की "अरज-गरज" नहीं सुनते। रहीम ने ठीक ही कहा है—

अरज गरज माने नहीं रहिमन ये जन चारि।
रिनिया राजा, माँगता, काम आतुरी नारि।[1]

माँगना—यों तो संसार में शायद ही कोई ऐसा हो जिसे कभी भी किसी दूसरे से कुछ न माँगना पड़ा हो, पर यह होते हुए भी "माँगना" बुरा ही कहा जाता है। रामचरित उपाध्याय, रहीम, वृन्द तथा कवि किंकर आदि बहुत से नीति के कवियों ने बड़े बल के साथ इसका विरोध किया है। रहीम "माँगने" और "मरने" को बराबर कहते हैं—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।[2]

वृन्द के शब्दों में "माँगना" संसार में सबसे बुरा है और इसीलिए माँगने वाले को बड़ा से बड़ा होने पर भी मगन रूप में अत्यन्त क्षुद्र बनना पड़ता है। वह "बलि वामन" की कथा की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए कहते हैं—

सब तें लघु है माँगिबो यामें फेर न सार।
बलि पै जाँचत ही भये बामन तन करतार॥[3]

इसी बात को रहीम ने अपने ढंग से व्यक्त किया है—

रहिमन याचकता गहे बड़े छोट ह्वै जात।
नारायन हू को भयो बावन आँगुर गात॥[4]

माँगने से स्वाभिमान घट जाता है अतः इसे स्वाभिमान-विरुद्ध कहा गया है—

स्वाभिमान प्रतिकूल है मागन पर से मीत।[5]

माँगने में अपमान भी है

माँगिबो तें अपमान अवस्थहिं मैंने विचार कियो मनमाहीं।[6]

पर, माँगने को बुरा मानते हुए भी नीतिकारों ने यह कहा है कि यदि कभी आवश्यकतावश माँगना ही पड़े तो अच्छे व्यक्तियों को सूम और नीच से नहीं माँगना चाहिए—

---

१ रहीम दो०, १०।
२ रहीम दो०, २४०।
३ वृन्द सत०, २२०।
४ रहीम दोहा०, २२४।
५ नीति छन्द०।
६ सुधा सरोवर, पृ० ५४।

साधु न जांचत कृपिन सो परै विपम जो भीर।
विन घन काहु न जाँचही, चातक प्यासे नीर॥[1]

माँगने के विषय मे एक अन्य वात का भी ध्यान आवश्यक है। मान लें जिससे हम माँगना चाहते हैं वह सूम या नीच न होकर अच्छा व्यक्ति है, पर यदि उसके पास हमारी अभीप्सित चीज नहीं है तो भी माँगना व्यर्थ है। अत माँगने के पूर्व इस वात का भी विचार आवश्यक है कि उस व्यक्ति के पास माँगी जाने वाली वस्तु है भी या नही—

देखि ठिकानो माँगिये माँगे मिलै जु होय।
मुनि घर भीतर काँगही ढूंढै लहत न कोय॥[2]

देना—देने के विपय में नीति के कवियों ने प्रधान रूप से एक ही वात पर वल दिया है और वह यह कि किसी के द्वारा कुछ माँगे जाने पर यथासाध्य इनकार नही करना चाहिए। रहीम के शब्दों में 'माँगना' एक अत्यन्त क्षुद्र काम है, पर किसी के द्वारा माँगे जाने पर न 'देना' उससे भी वुरा है—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुये जिन मुख निकसत नाहिं॥[3]

"दान" का भी देने से ही सम्वन्ध है। इस विपय मे नीति साहित्य मे वर्णित वातें 'दान' शीर्षक के अन्तर्गत अन्यत्र दी गई है।

बुद्धि, बुद्धिहीन और बुद्धिमान—मनुष्य वुद्धि-प्रधान प्राणी है। अपने वौद्धिक विकास के कारण ही वह सुख-समृद्धि का भोक्ता वना हुआ है, एव सारे जीवो मे श्रेष्ठ है।

वुद्धि की इसी महत्ता के कारण नीति के कवियो ने वुद्धि और वुद्धिमान की प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही रूपो मे अनेक प्रकार से प्रशसा की है और इसके विरुद्ध वुद्धिहीन या मूर्ख की निन्दा की है।

वुद्धिहीन व्यक्ति इस संसार के लिए भार तुल्य है। वह न तो अपने को सुखी रख पाता है और न दूसरो का भला कर पाता है। इस प्रकार उसका ससार मे आना और न आना वरावर है। वह गुणो को न तो पहचानता ही हैं और न उनका आदर ही

---

१ दृष्टान्त तरंग०, ४।
२ वृन्द सत०, ३२८।
३ रहीम दोहा०, २४०।

ऋण लेने के अभ्यस्त व्यक्ति बड़े बेशरम हो जाते हैं। वे किसी दूसरे की "अरज-गरज" नही सुनते। रहीम ने ठीक ही कहा है—

अरज गरज माने नही रहिमन ये जन चारि।
रिनिया राजा, माँगता, काम आतुरी नारि।[१]

माँगना—यो तो ससार मे शायद ही कोई ऐसा हो जिसे कभी भी किसी दूसरे से कुछ न माँगना पडा हो, पर यह होते हुए भी "माँगना" बुरा ही कहा जाता है। रामचरित उपाध्याय, रहीम, वृन्द तथा कवि किंकर आदि बहुत से नीति के कवियो ने वडे बल के साथ इसका विरोध किया है। रहीम "माँगने" और "मरने" को बराबर कहते हैं—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।[२]

वृन्द के शब्दो मे "माँगना" ससार मे सबसे बुरा है और इसीलिए माँगने वाले को वडा से वडा होने पर भी मगन रूप मे अत्यन्त क्षुद्र बनना पडता है। वह "बलि वामन" की कथा की ओर अगुलि-निर्देश करते हुए कहते हैं—

सब तें लघु है माँगिवो यामे फेर न सार।
बलि पै जाँचत ही भये बामन तन करतार॥[३]

इसी बात को रहीम ने अपने ढग से व्यक्त किया है—

रहिमन याचकता गहे बड़े छोट ह्वै जात।
नारायन हू को भयो बावन आँगुर गात॥[४]

माँगने से स्वाभिमान घट जाता है अत इसे स्वाभिमान-विरुद्ध कहा गया है—

स्वाभिमान प्रतिकूल है मागन पर से मीत।[५]

माँगने मे अपमान भी है

माँगिवो तें अपमान अवस्यहि मैंने विचार कियो मनमाही।[६]

पर, माँगने को बुरा मानते हुए भी नीतिकारो ने यह कहा है कि यदि कभी आवश्यकतावश माँगना ही पडे तो अच्छे व्यक्तियों को सूम और नीच से नही माँगना चाहिए—

---

१ रहीम दो०, १०।
२ रहीम दो०, २४०।
३ वृन्द सत०, २२०।
४ रहीम दोहा०, २२४।
५ नीति छन्द०।
६ सुधा सरोवर, पृ० ५४।

साधु न जाँचत कृपिन सो परै विषम जो भीर।
बिन घन काहु न जाँचही, चातक प्यासे नीर ॥[१]

माँगने के विषय मे एक अन्य बात का भी ध्यान आवश्यक है। मान लें जिससे हम माँगना चाहते हैं वह सूम या नीच न होकर अच्छा व्यक्ति है, पर यदि उसके पास हमारी अभीप्सित चीज नही है तो भी माँगना व्यर्थ है। अत. माँगने के पूर्व इस बात का भी विचार आवश्यक है कि उस व्यक्ति के पास माँगी जाने वाली वस्तु है भी या नही—

देखि ठिकानो माँगिये माँगै मिलै जु होय।
मुनि घर भीतर काँगही ढूंढै लहत न कोय ॥[२]

देना—देने के विषय मे नीति के कवियो ने प्रधान रूप से एक ही बात पर बल दिया है और वह यह कि किसी के द्वारा कुछ माँगे जाने पर यथासाध्य इनकार नही करना चाहिए। रहीम के शब्दो मे 'माँगना' एक अत्यन्त क्षुद्र काम है, पर किसी के द्वारा माँगे जाने पर न 'देना' उससे भी बुरा है—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुये जिन मुख निकसत नाहिं ॥[३]

"दान" का भी देने से ही सम्बन्ध है। इस विषय मे नीति साहित्य मे वर्णित बातें 'दान' शीर्षक के अन्तर्गत अन्यत्र दी गई है।

बुद्धि, बुद्धिहीन और बुद्धिमान—मनुष्य बुद्धि-प्रधान प्राणी है। अपने बौद्धिक विकास के कारण ही वह सुख-समृद्धि का भोक्ता बना हुआ है, एव सारे जीवो मे श्रेष्ठ है।

बुद्धि की इसी महत्ता के कारण नीति के कवियो ने बुद्धि और बुद्धिमान की प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही रूपो मे अनेक प्रकार से प्रशसा की है और इसके विरुद्ध बुद्धिहीन या मूर्ख की निन्दा की है।

बुद्धिहीन व्यक्ति इस ससार के लिए भार तुल्य है। वह न तो अपने को सुखी रख पाता है और न दूसरो का भला कर पाता है। इस प्रकार उसका संसार मे आना और न आना बराबर है। वह गुणो को न तो पहचानता ही हैं और न उनका आदर ही

---

१ वृष्टान्त तरग०, ४।
२ वृन्द सत०, ३२८।
३ रहीम दोहा०, २४०।

करता है।[1] उसके लिए ज्ञान या ज्ञान की बात लाभकर न होकर विष का काम करती है।[2] इसीलिए नीतिकारो ने मूर्खो को अच्छी बात, उपदेश, विद्या या गुण के लिए कुपात्र कहा है।[3] मूर्ख इतने जड होते हैं कि मनुष्य क्या स्वय ब्रह्मा भी उन्हें ज्ञान देना चाहें तो नही दे सकते। तुलसी का इस विषय का प्रसिद्ध सोरठा है—

फूलै फरै न बेंत, जदपि सुधा बरषहि जलद।
मूरुख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें बिरचि सिव ॥[4]

फिर भी वे अपनी बुद्धि को बडी समझते हैं।[5] अपने अवगुण उन्हें नही सूझते पर दूसरो के अवगुणो की वे निन्दा करते फिरते हैं।[6]

रामचरित उपाध्याय ने बुद्धिहीनो के आठ लक्षण कहे हैं

विधि निषेध नहि जानही कुवचन गरव विरोध।
अपकारी क्रोधी निलज लच्छन आठ अबोध ॥[7]

आग लगने पर कुआँ खोदना,[8] दूसरो द्वारा ठगा जाना,[9] व्यर्थ मे दूसरो की चर्चा करना,[10] यो ही लोगों को कटु बचन कहना,[11] बडो की निन्दा करना पर छोटो को शीश झुकाना[12] आदि मूर्खो के अन्य लक्षण नीतिकारो द्वारा कहे गए हैं।

बुद्धिहीनो के दोष-दर्शन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि उपर्युक्त दोपो का न होकर इनके विरुद्ध गुणो का होना बुद्धिमानो के लक्षण हैं। नीतिकारो ने कुछ अन्य बातें भी बुद्धिमानो के लिए कही हैं। बुद्धिमान सज्जनो के दुख पर द्रवित होकर उन्हे मुक्त करा देते हैं पर दुष्टो पर यह दया नही दिखलाते—

---

१ दादू बानी, पृ० ६५।
२ जान सिपसागर पन्दनावा।
३ तुलसी दोहा० ४१४, वृन्द सत० ५३, ५१, दादू बानी, पृ० २३१, २८-९, मतिराम सत०, १७२।
४ तुलसी दोहा०, ४८४।
५ वही ४८५।
६ जान सिपसागर पन्दनावा।
७ ब्रज सत० ४७।
८ सुधा सरोवर, पृ० ५८।
९ गिरिधर कुण्ड, ११९।
१० वही, १६७।
११ ब्रज सत , १९७।
१२ वही, १००।

परै विपति मे दुष्ट कौ मोचत नाहिं प्रवीन ।
बधन तें अहि छुटि धरै करै प्रान ते हीन ।।[१]

बुद्धिमान लोग सज्जनो की सभा मे नही जाते, क्योकि वहाँ उनका नही होता ।[२] साथ ही वे दुष्टो का साथ या विश्वास नही करते,[3] मूर्खो के साम रहते हैं,[४] उनके कटु वचन पर ध्यान नही देते,[५] तथा सोच-विचार कर ल अनुसार ही व्यय करते हैं ।[६] "अग्रसोची सदा सुखी" वाले सिद्धान्त के अनुस अपना हर एक पग बहुत सोच-समझ कर उठाते हैं और कोई भी काम हड़बर्ड नही करते ।

बुद्धिमान और बुद्धिहीन के अतिरिक्त भी स्वतन्त्रत बुद्धि के विषय मे साहित्य मे यत्र-तत्र कुछ बाते कही गई हैं, जिनमे से तीन उल्लेख्य हैं । बुद्धि ही की पथप्रदर्शिका है अतः उसी के अनुसार सभी अपने काम या बात आदि करते ऐसी स्थिति में किसी के करने या कहने का विचार उसकी बुद्धि पर विचार करना चाहिए । रहीम ने ठीक ही कहा है—

जैसी जाकी बुद्धि है तैसी कहै बनाय ।
ताकौ बुरो न मानिए लैन कहाँ सो जाय ।।[८]

चिन्ता बुद्धि की परीक्षा है,[९] अर्थात् वही बुद्धि बुद्धि है जो चिन्ता के अ पर घबराती नही और अपने लिए उचित रास्ते का निर्णय कर लेती है । पर इ भी एक सीमा है । बुद्धि तभी तक अपना उचित कार्य करेगी जब तक उसके सम्भव है । विनाशकाल या विपत्ति के उपस्थित होने पर वह उलट जाती है । स की लोकोक्ति है—

विनाशकाले विपरीत बुद्धि

---

१ दृष्टान्त तरग०, १० ।
२ वही, २३ ।
३ वही, ३६ ।
४ ब्रज सत०, १०७ ।
५ ब्रज सत०, १६२ ।
६ तुलसी दो०, ४७१ ।
७ सोच समझ कर पग धरै चाहे लघु ही काम ।
करै कभूँ नहि हड़बड़ी बुध उनका ही नाम ।। नीति छन्द० ।
८ रहीम दो०, ७१ ।

वृन्द ने भी लिखा है—

मति फिरि जाय बिपत्ति मे राव रक इक रीत।
हेम हिरन पाछे गए राम गवाई सीत ॥[१]

विद्या—व्यक्तित्व के विकास के लिए विद्या सबसे बड़ा साधन है। इसके सहारे 'दुर्जन', 'सज्जन' और 'छोटे', 'महान्' बन जाते हैं।

विद्या ही ससार मे उन्नति को सोपान।
कुजन सुजन ह्वै जात हैं लघु जन होंय महान ॥[२]

विद्या विना मानव जीवन व्यर्थ कहा गया है। रूप, यौवन और कुल आदि सभी दृष्टियो से पूर्ण होते हुए भी मनुष्य की बिना विद्या के शोभा नही होती।

विद्या विनु सोहैं नही छवि जोवन कुल मूल।
रहित सुगन्ध सजै न बन जैसे सैमल फूल ॥[3]

विद्या सबसे बडा धन है।[४] अन्य धन व्यय करने से घटते हैं, पर विद्या के सम्बन्ध मे बात उलटी है। इसे जितना ही व्यय किया जाय इसकी वृद्धि होती जाती है। वृन्द कहते हैं—

सुरसति के भडार की बडी अपूरब बात।
ज्यो खरचै त्यो-त्यो बढै विन खरचे घटि जात।[५]

सस्कृत का एक श्लोक है जिसका भाव यह है कि विद्या ऐसा धन है जिसे न तो चोर चुरा सकता है और न राजा ले सकता है।[६] दीनदयाल गिरि भी इसी स्वर मे कहते हैं—

नहिं धन धन है बुध कहैं विद्या वित्त अनूप।
चोरि सकै नहि चोरऊ छोरि सकै नहिं भूप ॥[७]

जैसा कि ऊपर वृन्द के उदाहरण मे कहा गया है, व्यय न करने से विद्या घट जाती है। आशय यह है कि विद्यार्जन के बाद यदि आदान-प्रदान या पठन-पाठन द्वारा

---

१ वृन्द सत०, ५६२।
२ सदाचार सोपान, ३०।
३ दृष्टान्त तरग०, १२०।
४ वही, ३१।
५ वृन्द सत०, ६०६।
६ न चौर चौर्यं न राजहार्यं न भ्रातृ भाज्य न च भारकारि।
व्यये कृते वर्द्धत एव नित्य, विद्या धन सर्वधन प्रधानम् ॥
७ दृष्टान्त तरग०, ६६।

उसका अभ्यास न रखा जाय तो वह धीरे-धीरे विस्मरण होने लगती है। तुलसीदास अन्य कई चीजो के साथ विद्या के विपय मे भी कहते हैं—

मत्र तंत्र, तत्री, त्रिया, पुरुष, अश्व, धन, पाठ।
प्रतिगुण योग वियोग से तुरत जाहि ये आठ ॥[१]

अत पठित विद्या को संचित रखने के लिए उसका अभ्यास अत्यावश्यक है।

विद्या के सम्बन्ध मे कुछ बड़ी विचित्र बातें देखने मे आती हैं। अच्छे या सज्जन तो विद्या के कारण विनयी हो जाते हैं,[२] पर इसके विरुद्ध दुष्टो मे उसके कारण गर्व की वृद्धि होती है—

खल जन को विद्या मिलै दिन दिन बढ़ै गुमान।
बढ़ै गरल बहु भुजग को जथा किए पय पान ॥[३]

इसीलिए नीतिकारो ने दुष्टो, नीचो और मूर्खो को विद्या का अधिकारी नही माना है। वृन्द कहते हैं—

मूरख को पोथी दई बाँचन को गुन गाथ।
जैसे निर्मल आरसी दई अध के हाथ ॥[४]

एक और भी दोहा है—

सज्जन विद्या गुनवती, दुर्जन विद्या सूल।
जिमि नीरज करियारि को दियो ईस ने फूल ॥[५]

आशय यह है कि विद्या सज्जन को गुणवान बनाती है पर दुर्जन इसे पाकर दूसरो के लिए शूल बन जाते है। कमल और करियारी दोनो ही पौधो को भगवान ने फूल दिया पर कमल का फूल (उसकी सुगन्ध तथा सौन्दर्य) सबके लिए सुखद है तो करियारी का फूल (करियारी का फूल जहरीला होता है) सब के लिए दुखद है।

विद्वान व्यक्ति प्राय· निर्धन देखे जाते हैं। लोगो का विश्वास है कि लक्ष्मी (धन) और सरस्वती (विद्या) में बैर है। वृन्द कहते हैं—

कहा कहौं विधि की अविधि भूलै परम प्रवीन।
मूरख को सम्पति दई, पंडित सम्पति हीन ॥[६]

---

१ तुलसी सत०, ७२०।

२ विद्या ददाति विनयं।

३ दृष्टान्त तरङ्ग०, १०२।

४ वृन्द सत०, ५३।

५ नीति छन्द०।

६ वृन्द सत०, ६४६।

तथा

विद्या लक्ष्मी पुरुष पै होय नही इक ठाँय।
नाहिन सुख द्वै सौति मे पिय पै एकहि जाय ॥[१]

विद्या इतनी प्रशसित होते हुए भी भक्तो के लिए ईश्वर के प्रेम के विना व्यर्थ है। उनकी दृष्टि मे उसी विद्या का महत्व है जिसके कारण मन भगवद्भक्ति की ओर अभिमुख हो। कवीर कहते हैं—

चारिउ वेद पढ़ाइ करि हरि सू न लाया हेत।
वालि कवीरा ले गया पडित ढूँढै खेत ॥[२]

गुण—यो तो गुण के कई अर्थ होते हैं पर यहाँ हम गुण का प्रयोग उस विशेपता या अच्छाई के लिए कर रहे हैं जिसके कारण कोई पदार्थ या व्यक्ति औरो की अपेक्षा अच्छा माना जाता है। गुण का गुणगान सर्वत्र ही मिलता है। हिन्दी नीति काव्य भी उसका अपवाद नही है। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

गुण के गाहक सहस नर विनु गुण लहे न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शव्द सुनै सव कोय॥
शव्द सुनै सव कोय कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को यह रग काग सग भए अपावन॥
कह गिरिधर कविराय सुनो हो ठाकुर मन के।
विनु गुण लहैं न कोय सहस नर गाहक गुण के ॥[३]

हिन्दी नीति काव्य मे गुण के कारण होने वाले वहुत से लाभो का उल्लेख है। आयु मे छोटा होने पर भी गुणी व्यक्ति आदर पाता है,[४] तथा अपवित्र[५] एव छोटे कुल या नीच घर[६] का होने पर भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। विना गुण के किसी ऊँचे पद पर वैठना निरर्थक है[७] पर दूसरी ओर गुणी व्यक्ति यदि छोटे स्थान पर भी होता है तो उस स्थान की शोभा वढ जाती है।[८]

---

१ वृन्द सत०, ६८७।
२ कवीर ग्रन्थ०, पृ० ३६।
३ गिरिधर कुण्ड०, २७।
४ वृन्द सत०, ६७६।
५ तुलसी दो०, ३७०।
६ व्रज सत०, ७६।
७ वृन्द सत०, १६६।
८ वृन्द सत०, ७१८।

गुण जितना ही अच्छा होता है उसे सीखना प्राय उतना ही श्रमसाध्य होता है। वृन्द कहते हैं कि विना कष्ट सहे कोई गुणी नही बन सकता। गुणी बनना या गुण सीखना एक साधना है।

दुख पाये बिनहूँ कहूँ गुन पावत है कोइ।
सहे वेध बन्धन सुमन तव गुन संयुत होइ॥[1]

नीतिकारो का कहना है कि गुण अच्छा है पर उसे पहिचानना तथा उसका आदर करना सभी का काम नही। गुणवाले या गुणज्ञ ही इसे कर सकते हैं। दास ने कहा है—

पडित पंडित सो मुख मडित सायर मायर कै मन माने।
सतहि संत अनन्त भलौ गुनवन्तहि को गुनवन्त वखानै॥[2]

इसीलिए नीतिकारो ने कहा है कि मूर्ख यदि आदर न करे तो गुणियो को निराश नही होना चाहिए।

मूरख गुन समुझै नही तौ न गुनी मे चूक।
कहा भयो दिन को विभौ देखी जौ न उलूक॥[3]

कबीर ने भी कहा है—

जब गुण कूं गाहक मिलै तब गुण लाख विकाइ।
जब गुण कौ ग्राहक नही तब कौडी बदलै जाइ॥[4]

हिन्दी नीति काव्य मे गुण के सम्बन्ध मे एक विचित्र बात का उल्लेख है जिसकी ओर सामान्यत लोगो का ध्यान नही जाता। गुण अच्छी चीज है और उसके कारण गुणी का आदर होता है, पर साथ ही कभी-कभी गुण गुणी के लिए दुख का कारण भी होता है। रामचरित उपाध्याय कहते हैं—

निज गुनहूँ कहुँ देखिए दुखद होत निरधार।
तेहि घोडे पर सव चढे जो सुठि धावनिहार॥[5]

वृन्द तोते का उदाहरण लेते हुए यही बात कहते हैं—

कहूँ कहूँ गुन तें अधिक उपजत दोष सरीर।
मधुरी वानी वोलि कै परत पीजरा कीर॥[6]

---

१ वृन्द सत०, ६७० ।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०९ ।
३ वृन्द सत०, १४१ तथा ४५६
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ७८ ।
५ व्रज सत०, पृ० ५२
६ वृन्द सत०, ४४८ । लोकोक्ति भी है 'न नीक गीत गाइब, न दरवार बोलायल जाइब'।

नीतिकारो ने गुणज्ञ लोगो को इस बात का ध्यान रखने को कहा है कि दुष्टों के पास गुण न जाय, अर्थात् उन्हे न सिखाया जाय। गुण उनके पास जा कर उलटा फल देने लगता है—

उत्तम गुनि नहिं भूलिकैं दीजै अधमिन हाथ।
पा उलटौ मिलि जात ज्यो भसमासुर पसुनाथ ॥[१]

आशय यह है कि गुण अच्छी चीज है पर उसके पात्र सभी नहीं हो सकते।

दोष—दोष गुण का उलटा है। ससार गुण-दोषमय कहा गया है। इसमे गुण के साथ दोष भी हैं। तुलसी की एक पक्ति है—

अतहु कीच तहाँ जहँ पानी।[२]

पर उसके होने का आशय यह नही कि वह श्लाघ्य या ग्रहणीय है। दोषों से वचने का उपदेश नीतिकारों ने दिया है—

जड चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार।
सत हस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥[3]

दोषी या दुर्गुणी की नीति साहित्य मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही रूपो मे बडी निन्दा की गई है। रहीम लिखते हैं कि उसका दुर्गुण कभी नही जाता—

रहिमन लाख भली करौ अगुनी अगुन न जाय।
राग सुनत पय पियत हु सांप सहज धरि खाय ॥[४]

साथ ही उसके सग से दूसरो मे भी उसके दुर्गुण चले जाते हैं, इस प्रकार वह ससार मे विष का फैलाने वाला है।[५]

किसी मे यदि कोई एक भी वडा दोष हो तो उसके कारण उसके गुणों का भी प्राय. नाश हो जाता है या कम से कम उनका महत्व नही रह जाता। दीनदयाल गिरि लिखते हैं—

आये औगुन एक के गुन सब जाय नसाय।
जथा खार जल रासि को नहिं कोऊ जल खाय ॥[६]

कुछ लोग अपने दोष या अवगुण को छिपाना चाहते हैं। नीति साहित्य में

---

१ ब्रज सत०, पृ० ५७।

२ मानस २, १८२।

३ वही, १ ६।

४ रहीम दो०, २३५।

५ अन्यत्र "सग" शीर्षक में ससर्ग से दोष-गुण से प्रभावित होने के बहुत से उदाहरण दिए जा चुके हैं।

६ दृष्टान्त तरग०, १३४।

इसका भी विरोध किया गया है। दोप को छिपाने वालो मे, दोप के अतिरिक्त उसे छिपाने का भी दोप रहता है, साथ ही अन्ततोगत्वा उनका दोष प्रकाश मे आ ही जाता है और तब उनकी स्थिति उनके ढोग के कारण और भी दयनीय हो जाती है। इसके विपरीत अपने दोष को न छिपाने वाले छिपाने वाले की अपेक्षा अधिक आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। भगवानदीन लिखते है—

वसी छिद्र न छांकती पाती चुम्बन प्यार।
छिद्र छिपाती ढोलकी इससे खाती मार ॥[1]

कुछ लोग अपने दोषो की ओर तो ध्यान नही देते पर दूसरो के दोषों को दिखलाते फिरते हैं या उनकी आलोचना करते हैं। रत्नावली कहती है—

रतन न पर दूषन उगटि आपन दोषनिवार।
तोहिं लखें निरदोष वे दें निज दोष विसारि ॥[2]

कुछ लोगो की दृष्टि मे दोप या दुर्गुण कभी-कभी शोभा का भी कारण हो जाता है। वृन्द ने लिखा है—

इक गुन तें शोभा लहैं इक अवगुन अवरोह।
सोभ उरोजन पीनता त्यो कटि कृसता सोह ॥[3]

यहाँ वृन्द का कथन उचित नही कहा जा सकता। "कृशता" अपने आप मे वुरी या भली नही है। स्थानानुसार वह गुण या दुर्गुण के अन्तर्गत आती है। इसका इतना ही आशय हो सकता है कि कुछ भी अपने आप में वुरा या अच्छा न हो कर स्थान के अनुसार होता है।

इस दृष्टि से दोप या दुर्गुण और साथ ही गुण के सम्वन्ध मे तथ्य की वात यह है कि अधिकतर वातें या चीजे आदि स्थान, समय या अधिकारी आदि के अनुसार ही अच्छी या बुरी होती हैं। स्वतन्त्रतः या अपने आप मे नही। बुरे या भले के लिए व्यवहृत होने मे अधिकता के आधार पर ही उसे वुरा या भला, या गुण या दुर्गुण की सज्ञा देते हैं। यो इसके कुछ अपवाद भी हो सकते हैं।

बल—"जाकी लाठी वाकी भैंस" की लोकोक्ति प्रसिद्ध है। ससार मे प्राय वल का ही वोलवाला है। बलवान के सभी लोग मित्र, साथी और सहायक होते हैं पर इसके विरुद्ध निर्वल पर सभी जोर दिखलाते हैं। वृन्द ने लिखा है—

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय ॥[4]

---

१ नीति के दोहे।
२ रत्नावली दोहा०, ८६।
३ वृन्द सत०, ४३२।
४ वही, ५६।

तथा

कछु वसाय नहिं सबल सो करै निबल पै जोर ।
चलै न अचल उखारि तरु डारत पवन झकोर ।।[१]

यह तो मनुष्यो की बात है । सस्कृत की लोकोक्ति है—

दैवो दुर्वल घातक

अर्थात् प्रकृति या ईश्वर भी दुर्वलो के लिए ही घातक है ।

दीनदयाल गिरि भी लिखते हैं—

सुरहूँ निरवल को हनै नहिं एकै नर जान ।
सिह बाघ वृक छोडिकै लेत छाग बलिदान ।।[२]

यही नही 'सजीवों' की तो बात ही क्या 'निर्जीव' रोग भी निर्बलो को ही दवाता है । विहारी कहते हैं—

कहैं इहै सब स्रुति समृति, इहै सयानै लोग ।
तीन दवावत निसक ही पातक राजा रोग ।।[3]

तुलसी कहते हैं कि निर्वलो के लिए ससार मे रहना कठिन है । उन्हें खाने के लिए हर जगह कोई न कोई है—

सहवासी काचो गिलहिं पुरजन पाक प्रवीन ।
काल छेप केहि मिलि करहिं तुलसी खग मृग मीन ।।[४]

ऐसी स्थिति मे निर्वल को चाहिए कि सवल से मैत्री बनाए रखे । इसके विरुद्ध करने पर उसका रहना असम्भव है—

कैसे निवहैं निवल जन करि सवलन सो वैर ।
रहिमन वसि सागर विषे करत मगर सो वैर ।।[५]

संसार की यह निर्वल को वलवान द्वारा सताए जाने की रीति अच्छी नही है । कवीर इसका विरोध करते हुए कहते हैं—

---

१ वृन्द सत०, ५७ ।

२ दृष्टान्त तरग०, ७८ ।

३ विहारी सत०, ६३४ ।

४ तुलसी दोहा०, ४०४ ।

५ रहीम दो०, ४२, वृन्द सतसई में मिलता है—
कैसे निवहै निवल जन करि सवलन सो वैर ।
जैसे वस सागर विषै करत मगर सों वैर ।। वृन्द सत०, १६ ।

दुर्वल को न सताइए जाकी मोटी आह।
विना जीव की स्वास ते लोह भस्म ह्वै जाय ॥[१]

निर्वलों के विषय में कुछ और वातें भी हिन्दी नीति-काव्य मे दी गई हैं। उदाहरण के लिए निर्वलो को आपस मे मेल से रहना चाहिए। इससे वे वली हो जाते हैं—

निर्वल हू दल बाँधिके सवलहिं देत हराय।
ज्यो सीगन सो गाय गन वनपति देत भगाय ॥[२]

निर्वल की शरण मे जाना उचित नही। गिरिधर कहते हैं—

रहिये लटपट काटि दिन, वरु घामे मा सोय।
छाह न वाकी वैठिए जो तरु पतरो होय ॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जो दिन वहै वयार टूट तव जर से जैहै ॥
कह गिरिधर कविराय छाँह मोटे की गहिये।
पत्ता सव झरि जाय तऊ छाहें मा रहिये ॥[३]

वल गर्व का कारण है। वलशाली व्यक्ति प्रायः गर्वीले होते हैं। नीति साहित्य मे इसका विरोध किया गया है—

तन, धन, जन वल रूप को गरव करौ जनि कोय।
को जानै विधि-गति रतन छन मे कछु कछु होय ॥[४]

वल के नशे मे व्यक्ति वहुत से अनुचित काम भी कर डालता है। इसीलिए विवेकशून्य वली को नीति साहित्य मे पशु के समान कहा गया है—

तरुनाई धन देह वल, वहु दोपनु आगार।
विनु विवेक रतनावली पसु सम करत विचार ॥[५]

भोजपुरी मे वल पर एक वडी सुन्दर लोकोक्ति है—

अपना घरे कुकुरो वरियार।

---

१ सूक्ति सुधा पृ० ६। इस दोहे का एक और पाठ प्रचलित है .
निर्वल को न सताइए जाकी मोटी आह।
मरी खाल के साँस से लोह भसम ह्वै जाय।

२ दुलारे दो०, १७५।

३ गिरिधर कुण्ड०, ४२।

४ रत्नावली दो०, १६०।

५ वही, ८४।

अर्थात् अपने घर पर कुत्ता भी बलशाली होता है। आशय यह है कि अप घर निर्बल भी बलवान हो जाता है। रामचरित उपाध्याय भी कहते हैं—

को नहि अपने थल बली होय छीन कै पीन।
मृगराजहु जल माहि ज्यो धरि न सकत लघु मीन ॥[1]

सौन्दर्य—सौन्दर्य के विषय मे कहते हुए नीति कवियो ने सब से अधिक ब इस बात पर दिया है कि जवानी की भाँति ही सौन्दर्य भी क्षणिक है, अत इस क्षणि धन का अभिमान नही करना चाहिए। दुलारेलाल भार्गव कहते हैं—

बात भूलि रे फूल यो निज श्री भूलि न फूलि।
काल कुटिल कौ कर निरखि मिलन चहत तैं धूलि ॥[2]

रत्नावली ने भी कहा है—

तन धन जन बल रूप को गरब करो जिन कोय।
को जानै बिधि गति रतन छन मे कछु-कछु होय ॥[3]

कबीर भी कहते हैं—

कबीर गरब न कीजिए देही देखि सुरङ्ग।
आजु कालि तजि जाहुगे ज्यो काँचुरी भुअङ्ग ॥[4]

सौन्दर्य को भी जवानी की भाँति ही बुराई का घर कहा गया है। अत सुन्दर व्यक्ति को विवेक से काम लेना चाहिए—

तरुनाई धन देह बल, बहु दोषनु आगार।
बिनु बिवेक रतनावली पसु सम करत बिचार ॥[5]

सौन्दर्य या रूप के सम्बन्ध मे जमाल ने कहा है कि यह उधार माँगने से नह मिलता। इसका अर्थ यह है कि यह स्वाभाविक वस्तु है, जिसे मिल गया मिल गया अपने अधिकार की चीज नही।

सोना बया न नीपजै मोती लगै न डाल।
रूप उधारा ना मिलै भूलै फिरो जमाल ॥[6]

सौन्दर्य के विषय मे एक बात और भी बडी महत्वपूर्ण है। यद्यपि उसक

---

१ ब्रज सत०, पृ० ४६।
२ दुलारे दोहा०, १५४।
३ रत्नावली दोहा० १९०।
४ कबीर ग्रन्थ, पृ० २५२।
५ रत्नावली दोहा० ८४। जिमरमेन ने भी कहा है Beauty is worse tha wine, it intoxicates both holder and beholder
६ जमाल दोहा०, ३९।

ओर कम नीतिकारो का ध्यान गया है। प्रेम के कारण असुन्दर वस्तु भी सुन्दर हो जाती है। कहा जाता है कि लैला बडी कुरूपा थी पर प्रेम के कारण ही मजनू के लिए वह अभूतपूर्व सुन्दरी थी। फारसी की भी कहावत है—

लैला रा बचश्म मजनू बायद दीद।

अर्थात् लैला का सौन्दर्य देखना हो तो मजनू की आँखों से देखो।

रसनिधि अपने रतन-हजारा मे इसी बात की ओर लक्ष्य करते हुए कहते है—

चसमन चसमा प्रेम को पहिले लेउ लगाइ।
सुन्दर मुख वह मीत को तब अवलोको आइ॥[1]

सौन्दर्य के सम्बन्ध मे एक और दोहा द्रष्टव्य है—

समय-समय सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय।
जाकी जैसी भावना ताको तैसा होय॥[2]

अर्थात् समय और भावना पर ही किसी वस्तु या व्यक्ति का सुन्दर होना निर्भर करता है।

उपर्युक्त दोनो दोहो मे कही गई बातें आंशिक रूप मे ही मान्य हैं। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि व्यक्ति या पदार्थ समय और भावना से अलग भी सुन्दर होता है। हाँ, यह अवश्य है कि इन दोनो के साथ असुन्दर भी सुन्दर हो जाता है या सुन्दर अधिक सुन्दर जान पडता है।

स्वभाव—स्वभाव या प्रकृति मे व्यक्तित्व की गुण, अवगुण, बान तथा मनोवृत्ति आदि बातें आती हैं। स्वभाव का निर्माण मोटे रूप से दो अंशो से होता है। एक तो सहजात वृत्तियाँ और दूसरे आयु के बढने के साथ-साथ वातावरण का प्रभाव। वातावरण के प्रभाव के कारण ही मनुष्य भाँति-भाँति के अभ्यासो की ओर झुकता है और तरह-तरह की आदतें पकडता जाता है।

स्वभाव के विषय मे हिन्दी के नीति-कवियो ने प्रमुखतः दो प्रकार की बातें कही हैं। प्रथम के अनुसार स्वभाव अपरिवर्तनीय है। भूपति लिखते हैं—

जाकी जौन परी हिए नहि छूटे वह बाक।
जटित हेम के साज गज तऊ चढावत खाक॥[3]

तुलसी कहते हैं कि अच्छे लोग अपनी अच्छी बातें नही छोडते और बुरे लोग अपनी बुरी बातें नही छोडते—

---

१ रतन-हजारा ६०८।

२ नीति छन्द०।

३ भूपति सत०, ४१४।

सुकृत न सुकृती परिहरे कपट न कपटी नीच ।
मरत सिखावन देइ चलै गीधराज मारीच ।।[1]

सग आदि भी स्वभाव को वदलने मे समर्थ नही हैं । रहीम अच्छे स्वभाव के विषय मे कहते हैं—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसग ।
चदन विष व्यापत नही लपटे रहत भुजग ।[2]

तुलसी ने भी नीच या बुरे के सम्बन्ध मे यही कहा है—

नीच निचाई नहिं तजै जो पावहिं सतसंग ।
तुलसी चन्दन विटप बसि बिन विस भय न भुवग।।[3]

सग की भांति उपदेश आदि का भी स्वभाव पर प्रभाव नही पडता । दीन-दयाल गिरि कहते हैं—

कीजै सत उपदेश को होय सुभाय न आन ।
दारु भार करि तपित जल सीतल होत निदान ।।[4]

स्वभाव के विषय मे नीतिकारों के विचारो का दूसरा वर्ग इसका पूर्णत विरोधी है । उनके अनुसार स्वभाव परिवर्तनशील है । उस पर संग आदि का प्रभाव पडता है ।[5] ऐसे विचार कवियों ने सग या सत्सग के अवश्यम्भावी प्रभाव पर प्रकाश डालते समय प्राय व्यक्त किये हैं, जिसे असत्य नही कहा जा सकता । संग आदि के कारण या प्रयत्न करने पर स्वभाव मे परिवर्तन असम्भव नही है ।

यथार्थत 'स्वभाव नही बदलता' और 'स्वभाव बदल जाता है' ये दोनो ही बातें कुछ अशो तक ठीक हैं । व्यक्ति विशेप की अपने स्वभाव को बदलने की इच्छा, परिवर्तन उपस्थिन करने वाले वातावरण तथा इसी प्रकार की कुछ अन्य बातो पर यह निर्भर करता है । निश्चित सिद्धान्त के रूप मे इन दोनों में किसी को भी स्वीकार नही किया जा सकता ।

अभ्यास—अभ्यास शब्द प्रमुखत दो अर्थों में प्रयुक्त होता है । एक अर्थ में तो

---

१ तुलसी दोहा०, ३४१ ।
२ रहीम दो०, ७६ ।
३ तुलसी सत०, ६ २१ ।
४ दृष्टान्त तरग०, ५० ।
५ सगत के अनुसार ही सबको बनत सुभाइ । दुलारे दोहा० ६६ । अन्यत्र 'सग' पर विचार करते समय और भी बहुत से कवियों के उद्धरण दिये जा चुके हैं, जिनमे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस मत की पुष्टि होती है ।

यह वान, आदत या टेव का समानार्थी है और दूसरे अर्थ मे इसका प्रयोग पूर्णता या कुशलता की प्राप्ति के लिए किसी काम को वार-वार करने के लिए होता है। यहाँ इस पर दूसरे अर्थ की दृष्टि से विचार किया जा रहा है।

अभ्यास का जीवन के लिए वडा महत्व है। वुरे से वुरे व्यक्ति भी अभ्यास से ऊँचे उठ सकते हैं।

हिन्दी नीति काव्य मे अभ्यास के विषय मे प्रमुख रूप से दो-तीन वातें कही गई हैं। अभ्यास जन्मजात वस्तु नही है। यह आयु के वढने के साथ होते-होते ही होता है। रहीम कहते हैं—

यह रहीम निज सग लै जनमत जगत न कोय।
वैर प्रीति अभ्यास जस होत-होत ही होय ॥[1]

इसका आशय यह भी है कि अभ्यास धीरे-धीरे होता है। आनन-फानन मे एक-व-एक नही किया जा सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अभ्यास के कारण वुरे या मूर्ख व्यक्ति भी धीरे-धीरे अच्छे एव वुद्धिमान हो जाते हैं। वृन्द ने लिखा है—

करत-करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात है सिल पर होत निसान ॥[2]

इस प्रकार मानव जीवन मे अभ्यास का वहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है।

वान—अभ्यास के कारण जो वातें स्वभाव मे आ जाती हैं, उन्हे आदत, वान या टेव कहते हैं। वान स्वभाव का स्वाभाविक अश नही है, अर्थात् जन्म से वान या आदत रूप मे हम कुछ नही लेकर आते पर, धीरे-धीरे अभ्यास के कारण वान भी स्वभाव वन जाती है। भाँति-भाँति की अच्छाइयाँ और वुराइयाँ प्राय. वान के कारण ही मानव स्वभाव का अग वन जाती हैं। इसी कारण वचपन जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्यत्र वचपन के अन्तर्गत कहा जा चुका है कि वचपन मे व्यक्ति जो भी वान पकड लेता है वह प्राय. उसके स्वभाव मे आ जाती है और अन्त तक नही छूटती।

वान के सम्वन्ध मे सामान्य रूप से नीति काव्य मे यही वात कही गई है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

जाकी जौन परी हियें नहिं छूटै वह वान।[3]

यह वात कुछ अशो मे सत्य होते हुए भी पूर्णत सत्य नही कही जा सकती।

---

१ रहीम दो०, १५९।
२ वृन्द सत०, ३११।
३ भूपति सत०, ४०४।

प्राय ऐसा भी देखा जाता है कि सग से या यो भी प्रयास करने पर बहुत सी बानें छूट जाती हैं। स्वभाव की स्वाभाविक बातो को छोडना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है पर बान तो बाद मे बनाया गया स्वभाव है, अत उससे छुटकारा पाना उतना कठिन नही है।

धैर्य—किसी कार्य मे हडबडी या आतुरता न करना तथा असमय मे भी मन को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। धैर्य मनुष्य का बहुत बडा मानसिक बल है। इसके सहारे वह असह्य से असह्य कष्ट एव विपत्ति को काट सकता है तथा कठिन से कठिन काम को भी धीरे-धीरे पूरा कर सकता है। नीतिकारो ने धैर्य की बडी महिमा गाई है। कबीर कहते हैं—

धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।
माली सीचे सौ घडा रितु आए फल होय ॥[१]

लोक साहित्य मे भी 'अगुताए गूलर ना पाके' कहकर यही भाव प्रकट किया गया है। तानसेन ने कबीर के उपर्युक्त दोहार्द्ध को लेकर इस विषय का अपना प्रसिद्ध पद अकबर को सम्बोधित करके कहा है—

धीरे धीरे धीरे मन धीरे ही सब कुछ होय।
धीरे राज धीरे काज धीरे योग धीरे ध्यान
धीरे सुख समाज जोय।

तानसेन कहे सुनो साह अकबर एतो वडो राज।
एती वडी बादसाही धीरे ही तें पाई सोय ॥[२]

तुलसी ने आपत्ति काल के चार मित्रो मे नारी, मित्र तथा धर्म के साथ धैर्य को भी स्थान दिया है।[३] उन्होने और भी कई स्थलो पर

धीरज धरिय त पाइय पारू।[४]
या
धीरज धरहु विवेक विचारी।[५]

---

१ कबीर वचनावली दो०, ५८३।

२ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २०५।

३ धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परिखयहि चारी। मानस सूक्त०, पृ० ११०।

४ वही, पृ० ११०।

५ वही, पृ० ११०।

या

धरहु धीर लखि विमुख विधाता ।[1]

आदि कहकर धैर्य की महत्ता प्रदर्शित की है तथा उसे धारण करने पर बल दिया है। निश्चय ही धैर्य सफल जीवन बिताने के लिए अपना विशेष महत्व रखता है।

शील—व्यवहार समाज या लोकनीति मे शील का बहुत बडा स्थान है। शील का प्राचीन अर्थ चाल, व्यवहार तथा आचरण आदि है पर बाद मे यह केवल सुचाल, सुव्यवहार तथा सु-आचरण का वाचक हो गया। अमरकोष के 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' मे यही भाव है। बौद्ध धर्म मे शील का बहुत महत्त्व है। मनु आदि ने धर्म के जिस प्रकार लक्षण गिनाए हैं,[2] उसी प्रकार बौद्ध शास्त्रो मे पाँच या दस शीलो की चर्चा है जो सामान्य धर्म-लक्षण रूप मे सर्वसामान्य के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। बौद्ध धर्म के दस शील—हिंसा न करना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना, झूठ न बोलना, प्रमाद न करना, अपराह्न भोजन न करना, सङ्गीत से प्रेम न करना, सुगन्ध का व्यसन न रखना, उच्चासन तथा शैया से बचना तथा द्रव्य संग्रह न करना हैं। हिन्दी नीति-काव्य मे तथा आज के प्रयोग मे भी, शील उस नम्रता, सकोच, सदाचार, मिष्टभाषिता तथा सरलता मिश्रित आचरण को कहते है, जिसके कारण व्यक्ति के प्रति समाज मे आदर एव श्रद्धा का भाव बढ जाता है।

गृहस्थ के लिए शील की अनिवार्यता अगृही सन्तों ने भी स्वीकार की है। गोरख लिखते हैं—

गिरही सो जो गिरहै काया।
अभिअन्तर की त्यागे माया।
सहज सील का धरै सरीर।
सो गिरही गगा का नीर।[3]

नीतिकारो ने शील को मनुष्य का आभूषण कहा है। रत्नावली कहती हैं—

भूषन रतन अनेक जग पै न सील सम कोय।
सील जासु नैनन बसत सो जग भूषन होय॥[4]

---

१ मानस सूक्त०, पृ० १०६।

२ वेदः स्मृत सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मन.। एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। मनु० २,१२। धृति. क्षमा दमोऽस्तेयं शौच इन्द्रिय निग्रह। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्। वही ६,९२।

३ गोरखबानी, ४५।

४ रत्नावली दोहा०, पृ० १४४।

शील समाज के लिए उपयोगी होने के साथ-साथ शीलवान व्यक्ति के लिए भी आदर, शान्ति एव लाभ का देने वाला है। पर साथ ही साथ यह कभी-कभी पतन का कारण भी होता है। अधिक शीलवान व्यक्ति कभी-कभी शीलवश अन्यथा कार्य कर बैठते हैं या अपनी हानि उठाते हैं। एक लोकोक्ति में यह भाव बडे सुन्दर ढग से व्यक्त किया गया है—

सीले नारि छिनारि।
सीले पुरुष भिखारि।

अर्थात् शील के कारण स्त्रियो को कभी-कभी व्यभिचारिणी तथा पुरुषो को दीन बनना पडता है। हिन्दी नीति काव्य मे इस बात की ओर सकेत नहीं है।

सन्तोष—किसी बात की कामना न करते हुए अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहना सन्तोष है। अभावो और दीनता मे डूबा हुआ व्यक्ति भी सन्तोष के कारण रुपयो पर लोटने वाले करोडपति से भी अधिक सुखी रह सकता है। इसी कारण नीति साहित्य मे इसे सबसे बडा धन कहा गया है। शकर ने लिखा है—

जेहि समान ससार मे नहि कोउ धन निर्दोख।
धनद धनिकता ते अधिक धर्म निरत है तोख॥[1]

तुलसी का तो कहना है कि सन्तोष इतना बडा धन है कि उसके हृदय मे आते ही सब धन धूल के समान व्यर्थ हो जाते हैं—

गोधन गजधन वाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥[2]

दीनदयाल के शब्दो मे कुबेर जैसा धनाधिप भी दीन है यदि उसके हृदय मे सन्तोष नहीं है—

नहि धन धन है परम धन तोषहि कहै प्रवीन।
बिन सन्तोष कुबेरऊ दारिद दीन मलीन।[3]

धनादि के अतिरिक्त और दृष्टियो से भी सन्तोष का महत्व कम नहीं है। इसके हृदय मे आते ही अपनी सीमा के भीतर आवश्यकताओ के अतिरिक्त और किसी आवश्यकता का अनुभव होता ही नही। इस प्रकार सुखी एव शान्तचित्त होने का यह मूल मन्त्र है। बिना इसके सब कुछ रहने पर भी सुख नही मिलता क्योकि एक की प्राप्ति के बाद दूसरे को पाने की इच्छा आ घेरती है। वृन्द ने ठीक ही कहा है—

---

१ सदाचार सोपान, पृ० १३६।
२ तुलसी सत०, पृ० १२६।
३ दृष्टान्त तरग०, पृ० ३२।

सब सुख है सन्तोष मे धरिए मन सन्तोष।
नेक न दुरवल होत है सर्प पवन के पोष ॥[१]

सन्तोषी व्यक्ति की इच्छाएँ बहुत सीमित हो जाती है और धीरे-धीरे वह ऐसी अवस्था मे पहुँच जाता है कि किसी अनुचित पथ की ओर वह जाता ही नही। इसीलिए धर्म मे भी सन्तोष का महत्वपूर्ण स्थान है। तुलसी ने इसे नवधा भक्ति मे स्थान दिया है—

अष्टम यथालाभ सन्तोषा।

तथा उसे साक्षात् भगवान राम कहा है—

जहाँ तोष तहँ राम हैं, राम तोष नहि भेद।[२]

उसके विना जीवन मे कोई विश्राम नही पा सकता—

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष विनु।
चलै कि जल विनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिय ॥[३]

इस प्रकार हिन्दी नीति-काव्य मे लोक और परलोक दोनो ही दृष्टियो से सन्तोष को ग्रहणीय कहा गया है।

क्षमा—किसी के द्वारा कष्ट पहुँचाए जाने पर, या अनुचित कार्य किए जाने पर उसे चुपचाप सह लेना तथा उसके प्रतिकार या दण्ड की इच्छा न करना क्षमा है। व्यवहार तथा धर्म दोनो ही दृष्टियो से क्षमा मनुष्य के लिए आवश्यक मानी गई है। मनु ने धर्म के दस लक्षणो मे इसे स्थान दिया है।[४] वृन्द इसे मनुष्य का भूषण कहते है—

नर भूषन सब दिन क्षमा[५]

रामचरित उपाध्याय के शब्दो मे यह सबसे बडी शक्ति है—

भुज उठाय करिके कहत छमा सम न बल एक।
सो मानहि उपदेस यह जेहि सत-असत विवेक ॥[६]

धर्म की दृष्टि से इसके महत्व की ओर अंगुलि-निर्देश करते हुए तुलसी कहते है—

बसत छमा गृह जासु मन वाराणसी न दूरि।[७]

---

१ वृन्द सत०, पृ० ३१८।
२ तुलसी सत०, पृ० १२९।
३ तुलसी दोहा०, पृ० २७५।
४ धृति क्षमा दमोस्तेय , मनु।
५ वृन्द सत०, पृ० ६५१।
६ व्रज सत०, पृ० ५५।
७ तुलसी सत०, पृ० १४०।

सरलता—स्वभाव का निष्कपट तथा सीधा-साधा होना सरलता है। इसकी गणना भी मानवीय गुणों मे है। नीति के कवियो ने सरल व्यक्ति की बडाई की हैं–

सरल मनुज है देवता,[1]

पर साथ ही इसके आधिक्य को बुरा भी कहा है—

अति ही सरल न हूजियो देखो जो वनराय।
सीधे सावे छेदिये बाँको तरु बच जाय ॥[2]

अतएव हिन्दी नीति-काव्य के अनुसार व्यक्ति को सरल तो होना चाहिए पर एक सीमा तक क्योकि अत्यधिक सरल व्यक्ति को इस कुटिल ससार मे अपनी सरलता के कारण हानि उठानी पडती है।

विनय और नम्रता—विनय और नम्रता गर्व की विरोधी वृत्तियाँ है। धर्म और समाज दोनो ही दृष्टियो से इनको अपनाना श्रेयस्कर है। तुलसी लिखते हैं—

दो 'हा' चारु बिचारु चलु परिहरि वाद विवाद।
सुकृत सीव स्वारथ अवधि परमारथ मरजाद ॥[3]

विनयी और नम्र व्यक्ति का लोग आदर करते हैं—

नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलें तेतो ऊँचो होइ ॥[4]

कवीर, दादू, सुन्दरदास तथा भगवानदीन आदि ने भी मनुष्य में इन दोनो को आवश्यक माना है।

लाज—लज्जा और सकोच मानव हृदय की वे वृत्तियाँ हैं जो मनुष्य को अनुचित पथ पर जाने से रोकती हैं। समाज मे बदनामी आदि के भय के कारण ही इन वृत्तियो का उदय होता है।

यथावसर लाज क्या पुरुष और क्या स्त्री सभी के लिए आवश्यक है, पर हिन्दी नीति-काव्य मे पुरुष के लिए इसकी आवश्यकता का उल्लेख प्राय नहीं मिलता। अपवाद स्वरूप बीरबल ने एक स्थान पर साले के लिए लजाना आवश्यक बतलाया है—

---

१ नीति छन्द०।
२ वृन्द सत०, पृ० १५७।
३ तुलसी दोहा०, पृ० ४७०।
४ बिहारी सत०, पृ० ६४२।

पूत कपूत कुलच्छन नारि लराक परोस लजाय न सारो ।
.. ..
ब्रह्म भनै सुनु साह अकव्वर वारहो वाँधि समुद्र मे डारो ।[1]

हाँ, स्त्रियो के लिए तो लज्जा को भूषण कहा गया है । वृन्द कहते है—

नर भूषन सव दिन क्षमा विक्रम अरि घनघेर ।
ज्यो तिय भूपन लाज है निलज सुरत की वेर ॥[2]

इस दोहे के अन्तिमाश से यह वात भी स्पष्ट हो जाती है कि नीति के कवि लज्जा को स्त्रियो का भूषण मानते हुए सुरति के समय निर्लज्जता को ही भूषण मानने के पक्ष मे हैं । इसीलिए वेश्याओ मे निर्लज्जता का होना अच्छा माना गया है । रामचरित उपाध्याय कहते हैं—

पति मूरख वेस्या सलज अविनय सुत सठ मित्र ।
सूम स्वामि सेवक वधिर सुखद न रामचरित्र ॥[3]

विश्वास—यह निश्चय कि ऐसा ही 'होगा' या 'है' या अमुक व्यक्ति 'ऐसा ही है' या 'करेगा', विश्वास है । विश्वास को सफलता की कुंजी कहा गया है । कहते है—

विश्वासम् फलदायकम् (लोकोक्ति)

या विश्वास ही भलदायक होता है । भक्त पत्थर के टुकडे को विश्वास के साथ भगवान् मानता है और फलस्वरूप उसे भगवान के अनुग्रह की प्राप्ति होती है । धर्म और व्यवहार या लोक और परलोक दोनो ही के लिए इसकी वडी आवश्यकता है । सन्तो ने अपने विविध अंगो मे विश्वास का भी एक अग माना है । कवीर विश्वास की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते है—

पद गाए लैलीन ह्वै कटी न ससै फास ।
सवै पिछोडे थोथरे एक विना वेसास ॥[4]

अर्थात् विश्वास विना सव वेकार है । कवीर आगे फिर कहते हैं—

गाया तिनि पाया नही, अणगाया थैं दूरि ।
जिनि गाया विश्वास सूं तिन राम रह्या भरपूरि ॥[5]

विश्वास से होने वाले लौकिक लाभ की ओर सकेत करते हुए वृन्द कहते है—

सिद्ध होत कारज सवै जाके जिय विश्वास ।[6]

---

१ कविता कौमुदी १, पृ० २४० ।
२ वृन्द सत०, पृ० २१२ ।
३ व्रज सत०, पृ० ३६ ।
४ कवीर ग्रन्थ०, पृ० ५६ ।
५ वही ।
६ वृन्द सत०, पृ० ५२७ ।

किन्तु, विश्वास करने का आशय यह नही कि आँख मूँद कर बिना समझे-बूझे विश्वास किया जाय। ऐसा विश्वास विश्वास न होकर अन्धविश्वास है। विश्वास जितना लाभकर होता है, अन्धविश्वास उतना ही हानिप्रद। गिरिधर के शब्दो मे तोते को इस अन्धविश्वास के कारण ही निराश होना पडता है—

साँई सुवा प्रवीन अति बानी वदति विचित्र।
रूपवन्त गुनआगरो राम नाम सो चित्त।
• •
कह गिरिधर कविराय सुवा चूक्यो चतुराई।
वृथा कियो बिस्वास सेय सेमर को साँई॥[1]

कैसे व्यक्ति का विश्वास किया जाय और कैसे का न किया जाय, इस सम्बन्ध मे भी हिन्दी नीति-काव्य मे कुछ बातें दी गई हैं।

नीच व्यक्तियो का कभी भी विश्वास नही करना चाहिए। तुलसी कहते हैं—

मार खोज लै सौह करि करि मत लाज न त्रास।
मुए नीच ते मीच बिनु जे इनके विश्वास॥[2]

कभी-कभी दुष्ट एव कपटी व्यक्ति मीठी बाते करके लोगो का विश्वास प्राप्त कर लेते हैं और विश्वस्त बन जाने पर धोखा दे देते हैं। नीतिकारो ने ऐसे लोगो से बचने की चेतावनी दी है—

करै न बुध विस्वास को प्रियवादी खल सग।
सुनि बीना की मधुरता मारे जात कुरग॥[3]

स्त्री, शत्रु, जुवारी, चोर, लबार तथा बटमार आदि अन्य भी बहुतो के नाम नीतिकारो ने गिनाए हैं, जिनका विश्वास करना व्यावहारिक नही है।[4]

विश्वास के सम्बन्ध मे मोटे रूप से दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो यह कि उचित व्यक्ति और उचित बात का विश्वास करना चाहिए और दूसरे यह कि अपना व्यवहार एव आचरण ऐसा रखना चाहिए कि दूसरे अपना विश्वास करें।

दूसरो का विश्वासपात्र बनने का सबसे सरल और निश्चित मार्ग है अपना सच्चा आचरण। झूठा व्यक्ति किसी का विश्वासपात्र नही बन सकता। वृन्द ने लिखा है—

जग परतीति बढाइए रहिए साँचे होय।
झूठे नर की साँच हू साख न मानै कोय॥[5]

---

१ गिरिधर कुण्ड०, पृ० ८१।
२ तुलसी दो०, पृ० ४०६।
३ दृष्टान्त तरग०, पृ० ३६।
४ वृन्द सत०, १९६; गिरिधर कुण्ड०, पृ० १७।
५ वृन्द सत०, ५८०।

चिन्ता—किसी समस्या को लेकर मन में बार-बार होने वाले विचार या सोच को चिन्ता कहते हैं। जिस प्रकार ज्वर-खाँसी आदि शरीर के रोग हैं, चिन्ता मन का रोग कहा गया है। जान कहते हैं—

रोग अंग के बहुत हैं, चिन्ता चित को रोग।[1]

मानसिक रोग होते हुए भी इस आधि का किसी व्याधि से कम प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। गिरिधर की प्रसिद्ध कुण्डलिया है—

चिन्ता ज्वाल सरीर की दाह लगै न बुझाय।
प्रगट धुवाँ नहिं देखिए उर अन्तर धुँधवाय।
उर अन्तर धुंधवाय जरै जस काँच की भट्टी।
रक्त मास जरि जाय रहै पाजरि की टट्टी।
कह गिरिधर कविराय सुनो रे मेरे मिन्ता।
वे नर कैसे जिये जाहि व्यापी है चिन्ता॥[2]

रहीम ने भी कहा है—

रहिमन कठिन चितान ते चिन्ता को चित चेत।
चिता दहति निर्जीव को चिन्ता जीव समेत॥[3]

चिन्ता का जन्म इच्छा और अविवेक के कारण होता है। नीति साहित्य में भी कहा गया है—

चिन्ता जननी चाह है ताको पति अविवेक।[4]

पर क्या विवेकी और क्या अविवेकी सभी इसके शिकार बनते हैं। तुलसी कहते हैं—

चिन्ता साँपिन काहु न खावा।[5]

यह मरते दम तक पीछा नहीं छोड़ती—

प्रान तजो चाहैं तऊ चिन्ता तजै न संग।[6]

निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि इच्छाओं और अविवेक पर विजय प्राप्त कर मनुष्य को चिन्ता से बचना चाहिए।

---

१ सिखसागर पन्दनावा।
२ गिरिधर कुण्ड०, पृ० १२।
३ रहीम दो०।
४ व्रज सत०, पृ० ६२।
५ मानसमुक्ता०, पृ० १६६।
६ व्रज सत०, पृ० ६०।

प्रेम—प्रम लोभ का ही एक रूप है। लोभ जहाँ वर्ग या जाति के प्रति होता है या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे सामान्योन्मुख है, प्रेम वर्ग या जाति की एक इकाई के प्रति होता है और विशेषोन्मुख है। पर साधारणत मन की ललक यदि किसी वस्तु के प्रति होती है तो वह लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो वह प्रीति कहलाती है।[1]

प्रेम मानव जीवन का नमक है। विना इसके जीवन व्यर्थ है। कबीर कहते हैं—

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहिं राम।
ते नर या ससार मे उपजि पये वेकाम ॥[2]

कहा जाता है कि प्रेम सहज रूप से हो जाता है नीति के कवियो ने भी इसी बात का समर्थन किया है—

वैर प्रीति दोउ सहज आपै होहिं सिखैन।
लखु चकोर-ससि अहि-नकुल कहुँ उपदेस गहैन ॥[3]

साथ ही इसे जन्मत कोई लेकर नही आता, धीरे-धीरे इसका विकास होता है। रहीम कहते हैं—

यह रहीम निज सग ले जनमत जगत न कोय।
वैर, प्रीति, अभ्यास, जस होत होत ही होय ॥[4]

प्रेम के होने या बढने मे बल काम नही करता –

यह तो सौदा सहज का जोर न चलत जमाल।[5]

नीच व्यक्तियो से प्रेम करने का हिन्दी के नीति के कवियो ने विरोध किया है। इसका कारण सम्भवत यह है कि नीच व्यक्ति के प्रेम मे स्थायित्व की सम्भावना प्राय नही के वराबर होती है। वृन्द उनके प्रेम को छीलर ताल का जल कहते हैं—

ओछे नर की प्रीति को दीनी रीति वताय।
जैसे छीलर ताल जल घटत घटत घटि जाय ॥[6]

---

१ चिन्तामणि।

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६।

३ ब्रज सत०, पृ० ४८।

४ रहीम दो०, १५६।

५ जमाल दो०, १७।

६ वृन्द सत० २४।

दीनदयाल ने भी वृन्द की बात को दुहराया है—

चचल खल की प्रीति को गये अलप बुध गाय ।
ज्यो घन छाया गगन की छन मे जाय नसाय ॥[१]

प्रेम सज्जन, बडो तथा उच्च विचार वालो से करना चाहिए । इनका प्रेम अधिक अचल होता है तथा दिन-दिन वढता जाता है ।

प्रीति सुखद है सुजन की दिन दिन होय विशेप ।
कबहूँ मेटै ना मिटै ज्यो पाहन की रेप ॥[२]

गिरिधर कविराय भी इसी स्वर मे कहते हैं—

प्रीति कीजिए वडेन सो माया लावै पार ।
कायर क्रूर कुपूत है बोर देत मझधार ॥[३]
. .. .
कह गिरिधर कविराय प्रीति सॉची सिख लीजै ।
व्यवहारी जो होय तऊ तन मन धन दीजै ॥[३]

प्रेम अन्धा कहा गया है । उसके तूफान मे प्रेमी को कुछ भी सुधबुध नही रहती । यही कारण है कि वहाँ जाति-पाँति, गुण-अवगुण या कभी-कभी सुन्दरता-असुन्दरता तक का प्रश्न नही उठता । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है । दुलारे दोहावली का एक दोहा है—

जाति पाँति की भीति तौ प्रीति-भवन मे नाहि ।
एक एकता छतहि की छाँह मिलति सब काहि ॥[४]

प्रेम मे दोप भी दिखलाई नही पडता—

गढत न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोप ।
तुलसी प्रेम पयोद की ताते नाप न जोख ॥[५]

तथा

जो मन प्रिय सो प्रिय लगै गुन अरु रूप विहीन ।
त्यागि रतन हर जतन सो पन्नग भूपन कीन ॥[६]

---

१ दृष्टान्त तरग०, १०६ ।
२ वही, १०६ ।
३ गिरिधर कुण्ड० ५६ ।
४ दुलारे दोहा०, पृ० ३६ ।
५ तुलसी दोहा०, २८१ ।
६ दृष्टान्त तरग०, ६६ ।

इसी कारण कुरूपा होने पर भी लैला मजनू के लिए किसी अप्सरा से भी बढ कर सुन्दरी थी। फारसी की कहावत है—

लैला रा वचश्म मजनू बायद दीद।

प्रेम के मार्ग को नीति-काव्य में बहुत ही कठिन कहा गया है। है भी बात सत्य। प्रेम का निभाना सरल नहीं है।[1] कबीर कहते हैं—

कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाहि।
सीस उतारैं हाथि करि सो पैसे घर माहि॥[2]

प्रेम के सम्बन्ध मे हिन्दी नीति काव्य मे कही गई अन्य बातो मे प्रधान प्रेम दूध और पानी की तरह होना चाहिये,[3] झरने की तरह अनवरत होना चाहिये जो शीत, घाम, लू, या दु:ख सुख मे समाप्त न हो[4], दूसरो के निन्दा करने पर उसे कम न होना चाहिये,[5] तथा खीरा की तरह ऊपर से दूसरा और भीतर से दूसरा न होना चाहिए,[6] आदि हैं।

प्रेम छिपाने से छिपता नही। फारसी की कहावत है—

इश्क व मुश्क न रतवाँ नहुफ्तम।

जायसी कहते हैं—

परिमल प्रेम न आछे छपा।

वह और नही तो आँखो से प्रकट हो जाता है। रहीम का एक दोहा है—

कहि रहीम इक दीप ते प्रगट सबै दुति होय।
तन सनेह कैसे दुरै दृग दीपक जरु दोय॥[7]

बैरीसाल ने भी लिखा है—

प्रेम दुराए ना दुरै नैना देत बताय।[8]

---

१ तुलसी दो०, २८३। प्रेम निवाहन कठिन है समुझ कीजिए कोय। वृन्द सत०, ६२।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६६।
३ दृष्टान्त तरंग०, १०८।
४ सीत घाम लू दुख सहत तऊ न तोरत तार।
झरत निरंतर झर सरिस सोइ सनेह सुचि सार॥ दुलारे दोहा०, ५७।
५ विहारी सत०, २१६।
६ रहिमन प्रीति न कीजिए जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला भीतर फाकें तीन॥ रहीम दोहा०, २१३।
७ रहीम दो०, २६।
८ नीति छन्द०।

लोग सिद्धान्त रूप मे कहते सुने जाते है कि यथार्थ प्रेम निस्वार्थ होता है। पर तथ्यत यह केवल सिद्धान्त ही है। नीति के कवियो ने भी इस सिद्धान्त की अयथार्थता का अनुभव किया है। तुलसी की प्रसिद्ध अर्धाली है—

सुर नर मुनि सबकर यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥[१]

गिरिधर ने भी कहा है—

साईं सब ससार मे मतलब का व्यवहार।
... ...
करै बेगरजी प्रीति यार बिरला कोई साईं।[२]

सचमुच ही बिना किसी स्वार्थ के प्रेम या मैत्री का होना असम्भव है। हां, एक बार प्रेम हो जाने पर बिना किसी स्वार्थ के भी वह जीवित रह सकता है या पनप सकता है।

कपट—हृदय की बातो को किसी बुरी भावना से छिपाना या ऊपर मे और कहना, होना या ज्ञात होना तथा भीतर कुछ और रखना या होना कपट कहलाता है। यो छल तथा धोखा आदि भी इसके अर्थ होते हैं। धर्म तथा व्यवहार दोनो ही दृष्टियो से कपट त्याज्य है। रहीम चेतावनी देते हैं—

रहिमन वहाँ न जाइये जहाँ कपट को हेत।[३]

आदमी को स्वय तो कपटी नही ही होना चाहिये साथ ही कपटी व्यक्ति से उसे दूर भी रहना चाहिए।[४]

व्यवहार, मैत्री तथा प्रेम आदि का कपट साक्षात् शत्रु है। वृन्द कहते हैं—

फेर न ह्वै है कपट सो जो कीजै व्यापार।
जैसे हाँडी काठ की चढ़ै न दूजी बार॥[५]

तथा

जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रस जाय, कपट खटाई परत ही॥[६]

---

१ नीति छन्द०।

२ गिरिधर कुण्ड०, ३६।

३ रहीम दोहा०, २३६; कबीर मे भी यह पंक्ति है-कबीर तहाँ न जाइऐ जहाँ कपट का हेत। कबीर ग्रन्थ०, पृ० ६६।

४ तुलसी दोहा०, ४०६।

५ वृन्द सत०, ३५।

६ मानस सूक्त०, २२६।

इस प्रकार नीति-काव्य मे कपट और कपटी दोनों ही से बचने का आदेश दिया गया है।

ईर्ष्या—किसी के लाभ, हित, विभव या सुख को देखकर जलना ईर्ष्या है। मत्सर, डाह तथा जलन आदि भी इसी के समानार्थी हैं। ससार मे ऐसे लोग कम ही होते हैं, जो कभी न कभी ईर्ष्या के वश मे न होते हो। प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में "ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।"[1] सचमुच ही यह एक विष है, और इसका प्रभाव बडा ही विपाक्त है। हिन्दी नीति-काव्य मे कहा गया है कि ईर्ष्या से दूर रहना चाहिए--

इरषा के बस होहु ना जो चाहहु सुख सांति।[2]

ईर्ष्याग्रस्त व्यक्ति सुखी नही रह सकता--

कह गिरिधर कविराय सुखी सो कैसे होवै।
तृष्णा रागरुद्वेष ईरषा मत्सर बोवै॥[3]

और न उसे मानसिक शान्ति की ही प्राप्ति हो सकती है।

हठ—उचित-अनुचित पर ध्यान दिए बिना आग्रहपूर्वक किसी बात पर अडना हठ है। यो तो यह दुर्गुण किसी मे भी हो सकता है, पर स्त्रियो और बालको का हठ विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

हठ को कष्ट का कारण कहा गया है। हठी व्यक्ति को इसके कारण दुख का भागी बनना पडता है। तुलसी कहते हैं—

हठ बस सब सकट सहे गालव नहुष नरेस।[4]

बहुत हठी व्यक्ति निरादर का पात्र बन जाता है यहाँ तक कि उससे कोई बात भी करना नही चाहता। वृन्द ने कहा है—

अति हठ मत कर हठ बढै बात न करिहै कोय।
ज्यो ज्यो भीजै कामरी त्यो त्यो भारी होय॥[5]

अतएव सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक है कि हठ न किया जाय।

निन्दा—बुरी भावना से किसी की कल्पित या वास्तविक बुराई करना या दोष

---

१ चिन्तामणि, पृ० १५०।
२ नीति छन्द०।
३ गिरिधर कुण्ड०, १९८।
४ मानस सूक्त०, ७३४।
५ वृन्द सत०, ६४।

गया है। कोई किसी की बुराई करने के लिए यदि अपना पतन करे तो उसके बदले के लिए दूसरे का भी पतित बनना श्लाघ्य नही कहा जा सकता। भगवान दीन ने बदले का विरोध एक अन्य दृष्टिकोण से किया है। वे कहते है कि जब कोई व्यक्ति मेरी बुराई करता है तो मुझे क्रोध आता है और क्रोध की प्रतिक्रिया स्वरूप मैं उसकी बुराई करने पर तत्पर होता हूँ, अतः यह क्रोध ही मेरे पतन का कारण है।

बदला मे लेता अवश यदि नहि आता क्रोध।
एक ऋषी के शब्द ये सुन्दर सुगढ सुबोध ॥[1]

इसमे भी भगवान दीन ने अप्रत्यक्ष ढंग से बदले का विरोध ही किया है, क्योकि अपनी बुराई होने पर क्रोध अवश्य आएगा और क्रोध की स्थिति मे बदला लेने का इन्होने विरोध किया है। दूसरी ओर यदि मानले कि अपनी बुराई होने पर क्रोध नही आया तो फिर बदला लेने की भावना ही नही आ सकती। क्योकि अपनी बुराई होने पर भी जिसमे क्रोध न आवे वह बुराई के बदले बुराई करने वालो की श्रेणी मे नही आ सकता। ऐसे असाधारण व्यक्तित्व के व्यक्ति मे बदला लेने की भावना का उदय ही नही हो सकता।

बदले का एक और पक्ष भी है। सामान्यत समाज मे यदि बुरे द्वारा की गई गई बुराई की ओर ध्यान न दिया जाय तो बुराई या अत्याचार के बढने की सम्भावना हो सकती है। या दूसरे शब्दो मे दुष्ट या अन्यायी अन्याय पथ पर चले और यदि उसके बदले मे उन्हें दण्डित न किया जाय तो दुष्टता या अन्याय करने के लिए उन्हे प्रोत्साहन मिलेगा। अत विरोध-स्वरूप समाज की व्यवस्था की दृष्टि से इसे कम करने के लिए बदला लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

बदले के इस पक्ष की ओर नीतिकारो ने प्राय ध्यान नही दिया है। पर नीति के आधुनिक कवि भगवानदीन इसके अपवाद हैं। वे लिखते है—

बदला लेते इसलिए रिपु को देय जताय।
यही कि हम हैं समझते क्या न्यायान्याय ॥[2]

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि सामान्यत किसी का बुरा करने के लिए लेना अच्छा नही है, पर जहां बिना बदला लिए किसी दुष्ट के अन्याय-पथ पर ...ी आशंका हो वहां यह अच्छा ही नही अपितु अतीव आवश्यक भी है।

धोखा—किसी बात का वादा करके जान-बूझकर उसे न करना, धूर्तता,

दोहे।

पन्ना के पडोर, गढ झन्ना के झवैया झरि,
झारूदार झांसी के भवैया भानपूर के।
कहैं कवि कुन्दन कमायूं के कुम्हार भांड,
दाऊद के दरजी, दमामी दानपूर के।
तेली तिलगान के, तवोली तेगढवाले,
मावज के भांगड, सोनार सानपूर के।
येते मिलि मारें जूती चुगुल चबाई शीश,
कालपी के कुंजडे, कसाई कानपूर के।[1]

लगता है कि कवि किसी के चुगली खाने से तिलमिला गया है। आशय यह निकलता है, कि चुगली नही करनी चाहिए।

चुगली करना चुगलो को इतना प्रिय होता है कि वे इसे कभी नही भूलते। गिरिधर कविराय कहते हैं कि ससार मे सब अपने काम से चूक जायँ पर चुगले नही चूकते—

चुगुल न चूकै कबहुँ को, अरु चूकै सब कोइ।
बरकदाज कमानियाँ, चूक उनहुँ से होइ।
चूक उनहुँ से होय जे बाँधे बरछी गुल्ला।
चूक उनहुँ से होय पढै पण्डित औ मुल्ला।
कह गिरिधर कविराय कालहू ते नट चूकै।
चुगुल चौकसीदार ससुर कबहूँ नहिं चूकै॥[2]

सचमुच ही बुरे व्यक्ति बुराई करने से नही चूकते।

बदला—बदले के दो रूप हैं। एक तो यह कि कोई हमारे लिए अच्छा काम करे और बदले मे उसके अच्छे के लिए हम कुछ करें। दूसरा रूप यह है कि कोई हमारे लिए कुछ बुरा करे और बदले मे हम उसका बुरा करें। इन दोनो में पहला बदला जितना भला कहा जायगा दूसरा उतना ही बुरा। हिन्दी नीति-काव्य मे पहले बदले को अधिकाधिक करने का प्रोत्साहन दिया गया है। जान कहते हैं—

जो कोऊ कछु देत तुहि तौ तू हित सो लेहि।
वाके बदले को कछु बातैं दूनौ देहि॥[3]

पर दूसरी ओर दूसरे प्रकार का बदला निंद्य है, अत इसका विरोध किया

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ५०८।
२ गिरिधर कुण्ड०, ५०।
३ पन्दनावा।

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति ।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

छन्द मे स्पष्ट कहा गया है कि विश्व की सभी चीजे और व्यक्ति अन्ततः स्वार्थत ही प्रिय होते हैं । हाँ, यह अवश्य है कि कुछ स्वार्थ स्पष्ट होते हैं और कुछ अस्पष्ट । अतएव स्वार्थ की परिधि और उसकी परिभाषा को व्यापक रूप मे लेते हुए यदि देखा जाय तो सामान्य कार्यो, व्यवहारो और प्रेम सम्बन्धो को कौन कहे, माता का शिशु के प्रति प्यार एव तथाकथित निस्वार्थ भाव से महान आत्माओ द्वारा की गई व्यक्ति और समाज की सेवाएँ भी उससे बाहर नही । स्वार्थ की इस व्यापकता को नीति के कवियो ने भी अभिव्यक्ति दी है । कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

(क) सुर नर मुनि सबकर यह रीती ।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।।[1]
(ख) साई सब ससार मे मतलब का व्यवहार ।[2]
तथा (ग) स्वारथ के सबही सगे बिनु स्वारथ कोउ नाहिं ।[3]

स्वार्थ के पीछे ससार इतना अन्धा है कि लोग बुरे-भले का विचार नही रखते—

जाको जहँ स्वारथ सधै, सोई ताहि सुहात ।
चोर न प्यारी चादनी जैसे कारी रात ।।[4]

कडुई से कडुई बात सहते हैं—

बिनु स्वारथ कैसे सहै कोऊ करुवै बेन ।
लात खाय पुचकारिये होय दुधारू धैन ।।[5]

नीच को भी बडाई देते हैं—

बडी बडाई नीच को दीजै अपने काम ।
खरहूँ को बोलत पथिक कहत विनायक नाम ।।[6]

---

१ मानस सूक्त० पृ० ११७ ।
२ गिरिधर कुण्ड०, ३६ ।
३ वृन्द सत०, १०८ ।
४ वही, १५३ ।
५ वृन्द सत०, १४५ ।
६ वही, ४६४ ।

चालाकी या असत्य बात कहकर किसी को छलना या मिथ्या व्यवहार जिससे दूसरे के मन मे मिथ्या प्रतीति हो, धोखा कहलाता है।

धोखा विश्वास का शत्रु है। दो-चार बार धोखा खाकर प्रायः लोग दूसरो का विश्वास नही करते।

खल वचित नर सुजन कौ नहिन विसास उरेइ।
डहक्यो उडु प्रतिविम्ब ते मुक्ता हस न लेइ ॥[1]

इस प्रकार, इसके कारण समाज मे विश्वास की कमी हो जाती है। यो जो व्यक्ति प्राय लोगो को धोखा देता है, उसकी स्थिति तो वहुत ही दयनीय हो जाती है। वह घृणा का पात्र वन जाता है, और लोग उसकी सच्ची और ईमानदारी से कही गई वातो एव कामो तक का विश्वास नही करते। अतएव अपनी प्रतिष्ठा तथा साख एव समाज की व्यवस्था, इन सभी दृष्टियो से धोखा न देना ही श्रेयस्कर है। तुलसी तो कहते हैं कि स्वय धोखा खा जाय पर दूसरो को धोखा न दे।[2]

कभी-कभी दूसरो के बाह्यरूप आदि के कारण लोग धोखा खा जाते हैं। इसमे किसी अन्य को दोषी नही ठहराया जा सकता। ऐसी स्थिति मे अपनी मूर्खता ही अपने लिए धोखे का कारण बनती है। नीति के कवियो ने ऐसी स्थिति से बचे रहने की चेतावनी दी है। जो अपने अज्ञान के कारण नही बच पाते और धोखा खा जाते हैं, उन्हे दु ख सहना पडता है।[3]

धोखे के सम्बन्ध मे रामचरित उपाध्याय ने एक बडी विचित्र वात कही है। उनका कहना है कि समर्थ व्यक्तियो से ठगा जाना यश का कारण होता है--

समरथ सन जडहाय जो जस की वाढै जोति।
जो वावन छलते न तौ क्यो बलि कीरति होति।[4]

कहना न होगा कि यह एक अपवादस्वरूप घटना है, धोखे के सम्बन्ध मे इसे सिद्धान्त नही माना जा सकता।

स्वार्थ—ससार के सारे व्यवहार स्वार्थ पर ही आधारित है। मित्र-पुत्र, वधु-वाधव तथा स्त्री-माता आदि सभी के प्रेम एव व्यवहार के मूल में स्वार्थ की गन्ध खोजी जा सकती है। वृहदारण्यक उपनिषद के

---

१ वृन्द सत०, १६४।
२ जूझे ते भल बूझिवो भली जीति ते हारि।
डहकै ते डहकाइवो भलो जो करिय विचार ॥ तुलसी दो०, ४३१।
३ पकज के धोखे मधुप, कियौ केतकी सग।
अध भयौ कंटक विधौ भयौ मनोरथ भग ॥ विक्रम सत०, ३३५।
४ व्रज सत०, ५३।

को संभाल कर रखना चाहिए। यदि उसने अपने को संभाल लिया तव तो उसका प्रभुता पाना सफल है और वह मनुष्य है, और नही तो उसमे और पशु मे अन्तर ही क्या है ?

प्रभुता पाये प्रभु वन्यौ तौ प्रभु पसू समान ।[1]

आत्मश्लाघा—अपनी प्रशसा आप करना आत्मश्लाघा है। यो तो कुछ ही लोग आत्मश्लाघा के लिए वदनाम होते हैं, पर यदि गहराई से देखा जाय तो कम ही लोग ऐसे मिलेंगे जिनमे यह दोप न हो। वृन्द का तो कहना है कि विना किसी अपवाद के सभी आत्मश्लाघा करते हैं, और यही नही कि सच्ची वातो के आधार पर वल्कि नमक-मिर्च लगाकर या झूठ-सच जोडकर।

अपनी प्रभुता को सवै वोलत झूठ वनाय।
वेस्या वरस घटावही, जोगी वरस वढाय ॥[2]

वृन्द का यह कहना उचित नही कहा जा सकता। ससार मे ऐसे लोग होते अवश्य हैं, पर सभी के लिए ऐसा कहना सत्य से दूर है।

आत्मश्लाघा करने वाले लोगो की दृष्टि से गिर जाते है तथा सभी लोग उनका मजाक उडाते है, पर वे आत्मश्लाघा करने मे इतना रस लेते हैं और उससे इतने अभिभूत रहते हैं कि यह भी नही समझ पाते कि लोग उनका मज़ाक उडा रहे हैं या उनकी वातो को गम्भीरता से सुन रहे हैं। इस प्रकार ऐसे लोगो को लोग मूर्ख ही समझते हैं और वहुत अशो मे वे इसी के अधिकारी भी होते है। कोई भी योग्य या चतुर व्यक्ति अपनी प्रशसा स्वय करना पसन्द नही कर सकता।

हिन्दी नीति-काव्य मे इन्ही वातो के कारण आत्मश्लाघा करने का विरोध किया गया है।

ये रहीम फीके दोऊ जानि महा सन्तापु।
ज्यौ तिय कुच आपन गहै, आप वडाई आपु ॥[3]

चापलूसी—किसी को प्रसन्न करने के लिए उसकी झूठी प्रशसा आदि करना खुशामद या चापलूसी है। लोग कहते है कि यह युग चापलूसी का है, पर यथार्थ यह है कि चापलूसी का सदैव और सर्वत्र वोलवाला रहा है। शेख सादी ने कहा है कि अगर वादशाह दिन को रात कहे तो कहना चाहिए कि ये चन्द्र और तारे हैं।[4] रहीम ने भी लगभग इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है—

---

१ नीति छन्द०।

२ वृन्द सत०, ४३६।

३ रहीम दो०, १६२।

४ अगर शह रोज रा गोयद शव अस्त ई।
वेवायद गपत ईनक माहो परवीं।

तथा दूसरे का काम बिगाड देते हैं—

काज बिगारत और को इक निज काज सुधारि।
कियो मन्त्रि मिलि राजनृप सुरथहिं दियो निकारि।[१]

स्वार्थ मे इतनी शक्ति है।

ऊपर के कुछ उदाहरणो से यह भी स्पष्ट है कि स्वार्थ बुराइयो की जड भी है। रहीम ने भी कहा है—

स्वारथ रचत रहीम सब औगुन हूँ जग माँहि।[२]

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि ऐसे स्वार्थ जिनसे अपना भला हो पर साथ ही दूसरों का बुरा न हो, बुरे नही हैं, पर इसके विरुद्ध ऐसे स्वार्थ जिनसे दूसरो का बुरा हो निश्चय ही बहुत बुरे है। नीति काव्य मे इस दूसरे प्रकार के स्वार्थ की ही निन्दा की गई है तथा उसके लिए कुछ करना अकरणीय कहा गया है। तुलसी की सीख है—

तुलसी स्वारथ सामुहो परमारथ तन पीठि।
अघ कहें दुख पाइहौ डिठियारे हिय डीठि॥[3]

प्रभुता—अधिकार, शासनाधिकार या पदाधिकार प्रभुता है। प्रभुता पाने पर व्यक्ति मे प्राय गर्व आ जाता है।

नहिं कोउ अस जनमा जग माँही।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाही॥[४]

गर्व के कारण व्यक्ति अपने को ही सर्वस्व समझने लगता है और अपने से छोटे या नीचे के लोगो के सुख-दुख सुनने के लिए उसके पास कान नहीं रह जाते—

श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि लोचन सर को अस लागि न जाहि॥[५]

इन्ही बातो के कारण प्रभुता को अनर्थ का कारण कहा गया है।[६]

इन बातों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रभुता पाने पर व्यक्ति को अपने

---

१ वृन्द सत०, ६०९।

२ रहीम दो०, २६६।

३ तुलसी दो०, ४८१।

४ मानस, १.६०।

५ वही, ७.७०।

६ रत्नावली दो०, १००।

आशय यह है कि सज्जन से बुरी और दुर्जन से भली बात नही हो सकती। यहाँ बात का आशय बात के विषय से है। विषय की भाँति ही बात की शैली और ढग से भी व्यक्तित्व का पता चलता है। एक बुरी बात को भी ऐसे भले ढग से कहता है कि बुरी न लगे और दूसरा इसका तनिक भी ध्यान नही रखता।

भलै बुरै की जानिबौ, जान वचन के बंध।
कहै अंध कौ सूर इक, कहै अंध कौं अंध॥[१]

बोलने के सम्बन्ध मे हिन्दी के नीतिकारो ने प्रधान रूप से छ बातो का ध्यान रखने का आदेश दिया है।

बिना सोचे-विचारे कुछ नही कहना चाहिए। ऐसा कहना अनर्थ का कारण बन जाता है।[२] पर सोचने-विचारने के लिए समय अपेक्षित है, इसीलिए बहुत बोलना भी बुरा कहा गया है।[३] जो व्यक्ति बहुत बोलता है निश्चय ही उसके लिए सभी बातें समझ-बूझ कर कहना सम्भव नही है।

क्रोध के आवेश मे व्यक्ति अन्धा हो जाता है, वह उचित ढग से सोच-विचार नही सकता, इसीलिए क्रोध के समय कुछ कहने का भी नीतिकारो ने विरोध किया है—

रोप न रसना खोलिए बरु खोलिय तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिय वचन विचारि।[४]

कटु न बोलना तथा मधुर बोलना भी मनुष्य का बहुत बडा बल है। कहा गया है—

कागा काको लेत है, कोयल काको देति।
केवल मीठे वचन तै, सबको बस कर लेति।[५]

कटु बोलने का नीति के कवियो ने तरह-तरह से विरोध किया है। यहाँ दो उदाहरण देखे जा सकते हैं—

रतनावलि काटो लग्यो वैदनु दियो निकारि।
बचन लग्यो निकस्यो न कहुँ उन डारो हिय फारि॥[६]

---

१ वृन्द सत०, ४६६।

२ बिनु समुझे नहि बोलिये यहै नीति को सार। व्रज सत०, ९९।

३ बकवत रहिये जगत में बकबक, किये अकाज। व्रज सत०, १७८।

४ तुलसी दो०, ४३५।

५ नीति छन्द०।

६ रत्नावली दो०, ३६।

रहिमन जो रहिबो चहै कहै वाहि के दाँव।
जो बासर को निस कहै तो कचपची देखाव ॥[1]

इससे आशय यह निकलता है कि चापलूसी करनी चाहिए। इससे अपना काम निकाला जा सकता है। पर चापलूसी मे यह अच्छाई होते हुए इससे लोग घृणा ही करते हैं। चापलूस और चापलूसी-पसन्द दोनो ही प्रकार के व्यक्ति समाज मे अच्छी दृष्टि से नही देखे जाते। इसका प्रधान कारण है चापलूसी का असत्य एव आडम्बर-पूर्ण भाव पर आधारित होना। चापलूस व्यक्ति अपने किसी स्वार्थ साधन के लिए झूठ-सच जोडकर तथा अपने यथार्थ भाव को दबाकर किसी की चापलूसी करता है। अतएव नैतिकता की दृष्टि से निश्चय ही चापलूसी अनुचित है।

हिन्दी नीति-काव्य मे केवल एक ही छन्द स्पष्ट रूप से चापलूसी के विरोध मे मिला है—

स्वार्थ सधै या नही आत्मा को मत मारो।
गला सत्य का घोटि खुसामद बचन उचारो।
नाहि अत मे भला कबहुँ ऐसे को ह्वै है।
कहते हैं बुध बिज्ञ मथरा दशा बिचारो ॥[2]

यो कुलदीपा ने अपनी सहस्र दोहावली मे आधुनिक युग पर व्यग करते हुए कहा है—

शब्द सुधारक जगत हैं ताको रखत दबाय।
ठकुरसुहाती बात को कहत सभा मे गाय ॥[3]

इससे भी चापलूसी के विरोध की ध्वनि निकलती है।

बोलना—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के सम्पर्क मे आना पडता है और इसके लिए बोलना ही प्रधान साधन है। कहते हैं जबान ही जूता भी खिलाती है और पान भी। इस प्रकार समाज और व्यवहार नीति मे बोलने का अपना विशिष्ट महत्व है।

बोलने से मनुष्य के व्यक्तित्व का पता चलता है। वृन्द कहते हैं—

जो लायक जिहि बात को तासो तैसी होय।
सज्जन सो न बुरी करै दुर्जन भली न कोय ॥[4]

---

१ रहीम दो०, १६६।
२ नीति दन्छ०।
३ सहस्र दो०, ८५।
४ वृन्द सत०, १०६।

ऊपर देखा जा चुका है कि समझ-बूझ कर कुछ कहना चाहिए। इसी के साथ नीति के कवियो ने इस बात पर भी बल दिया है कि जो कुछ मुँह से निकल जाय उसका प्राणप्रण से पालन भी करना चाहिए या उस पर दृढ रहना चाहिए। रामचरित उपाध्याय ने कहा है—

जो कहि दीजै वाहि को कीजै नैनन मीच।
प्रानहु दै प्रन पूरिये, जथा मार मारीच ॥[1]

बोलने के सम्बन्ध मे नीति के कवियो द्वारा कही गई प्रधान बातो का उल्लेख यहाँ किया गया है। यदि व्यक्ति बोलने मे इसका ध्यान रखे तो बोलने के कारण आने वाली आफतो एव बहुत सी असुविधाओ तथा असगतियो से वह बच सकता है।

हँसी—रोनी सूरत बनाये रखने से हँसमुख रहना प्रत्येक दृष्टि से अच्छा है। इसका प्रभाव स्वास्थ्य तथा मन दोनो ही पर पडता है। व्यावहारिकता की दृष्टि से भी हँसमुख रहने वाला व्यक्ति अधिक सफल होता है। पर, इस हँसमुख होने या रहने की भी एक सीमा है। सीमा के भीतर की हँसी या हँसमुख होना जितना अच्छा है, सीमा के बाहर उतना ही बुरा। एक भोजपुरा की लोकोक्ति है—

रोग क जर खाँसी, झगरा क जर हाँसी।

नीति-काव्य मे भी कहा गया है—

हँसी कलह को मूल है, जो न उचित हो तात।[2]

किसी की बार-बार हँसी उडाना या उपहास करना भी नीति-काव्य मे बुरा कहा गया है। जान कहते है

बार-बार उपहास करि हँसि हँसि परिये नाहि।[3]

हँसी के सम्बन्ध मे दो और बातो का ध्यान रखना भी नीति-काव्य मे आवश्यक कहा गया है। एक तो यह कि कोई बात कहकर स्वय ही पहले नही हँस पडना चाहिये, और दूसरे यह कि तभी हँसना चाहिये जब हँसी का अवसर हो। स्थान और अवसर के अनुकूल हँसी ही अच्छी होती है। जान का छन्द है—

हँसि-हँसि परिहै आपुही, बिनु हाँसी के ठौर।
ताते गोबन है भलो, कहत गुनी सिरमौर ॥[4]

---

१ ब्रज सत०, १९७।
२ नीति छन्द०।
३ सिपसागर पन्दनावा।
४ वही।

तथा

खीरा सिर ते काटिए मलिए नमक बनाय ।
रहिमन करुवे मुखन को चहियत इहै सजाय ।।[१]

अवसर का विचार कर के बोलना भी बहुत आवश्यक है । बात अच्छी हो, अच्छे ढग से कही जाय, पर यदि उपयुक्त अवसर पर न कही जाय तो बडी अनर्थकारी होती है । रत्नावली ने तुलसीदास से रामप्रेम की उचित ही बात कही थी, पर अवसरानुकूल न होने से ही वह उस बेचारी के लिए अनिष्टकारी सिद्ध हुई ।[२] वृन्द कहते हैं—

नीकी पै फीकी लगे बिनु अवसर की बात ।
जैसे बरनत जुद्ध मे नाहिं सिगार सुहात ।।[३]

इसके विरुद्ध बुरी बात भी यदि उचित अवसर पर कही जाय तो वह सुखद होती है—

फीकी पै नीकी लगै कहिये समय बिचारि ।
सबकौ मन हर्षित करै, ज्यो विवाह की गारि ।।[४]

अतएव प्रकरण, समय, सन्दर्भ या अवसर को समझ-बूझकर उसके अनुकूल ही बात करनी चाहिए । तुलसी कहते हैं—

सुमति बिचारै बोलिये, समुझि कुफेर सुफेर ।[५]

जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, किसी बात के कहते समय कहने के ढग का भी ध्यान रखना चाहिये—

बात कहन की रीति मे है अन्तर अधिकाय ।
एक बचन तै रिस बढै एक बचन ते जाय ।।[६]

बोलते समय बीच-बीच मे कुछ लोग जिससे बात करते हैं, उसको छूते भी रहते हैं । नीति के कवियो ने इसका भी विरोध किया है । वृन्द कहते हैं—

करिये बात न तन परस ।[७]

---

१ रहीम दो०, ४६ ।
२ रत्नावली दो०, ११२, ११३ ।
३ वृन्द सत०, ४ ।
४ वृन्द सत०, ५ ।
५ तुलसी दो०, ४३७ ।
६ वृन्द सत०, १०५ ।
७ वही, ३२६ ।

दु ख मे सबसे बड़ा गुण यह है कि उसके आने पर ही यथार्थ तथा ऊपरी सगे-सम्बन्धियो की पहचान होती है। रहीम कहते हैं—

रहिमन विपदाहू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत मे जान परत सब कोय ॥[1]

पीछे स्त्री तथा मित्र पर भी विचार करते समय कहा जा चुका है कि दु ख मे ही इनके यथार्थ या अयथार्थ प्रेम की पहचान होती है।

दु ख के सम्बन्ध मे नीति के कवियो द्वारा कही गई अन्य बातो मे प्रधान निम्न हैं :

दु.ख भी सुख की भांति ही अस्थायी होता है तथा ये दोनो बारी-बारी से आते रहते हैं—

सुख बीते दुख होत है, दुख बीते सुख होत।
दिवस गये ज्यो निस उदित, निस गत दिवस उदोत ॥[2]

दु:ख जब तक दूर रहता है तभी तक उससे भय लगता है, जब पड जाता है तो किसी प्रकार काटते ही बनता है—

तौलौ ही डर बिपति मो जब लौ विपति सुदूर।
नद मे डूबे नाव तौ पैरे परियत पूर ॥[3]

जान-बूझ कर किसी को दुख देना उचित नही। चाहे कोई व्यक्ति अपना सगा ही क्यो न हो, यदि दुख देता है तो निश्चय ही अपने लिए अप्रिय हो जाता है।[4] तुलसी ने "परपीडा सम नहिं अधमाई" मे भी इसका विरोध ही किया है।

दु ख मे बुद्धि उलटी हो जाती है—

मति फिरि जाय विपत्ति मे राव रक इक रीत।
हेम हिरन पाछे गये राम गँवाई सीत ॥[5]

---

१ रहीम दो०, पृ० २३६।

२ वृन्द सत०, ११०। जान ने भी लिखा है—

पाँच बात ये जगत में निवहत नाहिं निदान।
लछी सुक्ख दुख रूप छवि तरुनाई कहि जान ॥

सिषसागर पन्दनावा

३ ब्रज सत०, पृ० ५०।

४ को चाहे अपनो तऊ जा संग लहिये पीर।
जैसे रोग सरीर में उपजत दहत सरीर ॥ वृन्द सत० १३१।

५ वृन्द सत०, पृ० ५६२।

सुख दुख हैं मन के धरम, नही आतमा माहि ।
ज्यो सुषुपति मे द्वन्द दुख मन बिनु भासे नाहि ।।[1]

दुखी होना कोई भी नही चाहता, फिर भी नीति के कवियो ने दुख की प्रशसा की है । यह प्रशसा कई कारणो से हुई है । भक्त कवि दुख को सुख से ऊँचा स्थान देते या अच्छा मानते हैं, क्योंकि मनुष्य सुख मे भगवान् को भूल जाता है, पर दुख मे उसे भगवान् का स्मरण क्षण-क्षण पर आता है । दादू कहते हैं—

विपति भली हरि-नाव सूं काया कसौटी दुक्ख ।
राम बिना किस काम का दादू सम्पति सुक्ख ।।[2]

रहीम भी इसी भाव से कहते हैं कि दीनता के रस को अन्धा ससार नही जानता—

दिव्य दीनता के रसहिं, का जाने जग अन्धु ।
भली बिचारी दीनता दीनबन्धु से बन्धु ।।[3]

गुण सीखने के लिए भी दु ख सहना आवश्यक है । वृन्द कहते हैं—

दुख पाये बिनु हूँ कही गुन पावत है कोइ ।
सहै बेध बन्धन सुमन, तव गुन सयुत होइ ।।[4]

दुख की एक विशेषता यह भी है कि इसमे तप कर आदमी खरा हो जाता है । जिसे दुख की अनुभूति कभी नही हुई, उसके व्यक्तित्व मे वह विशालता और महानता कभी आ ही नही सकती जो सफल व्यक्ति के लिये आवश्यक है ।

विपत कसौटी मे विमल जासु चरित दुति होय ।
जगत सराहन जोग तिय, रतन सती है सोय ।।[5]

अपने द्वारा किए गए पापो को दूर करने के लिए भी दुख का स्वागत करना आवश्यक है—

ज्यो ज्यो दुख भोगति तसहिं दूरि होत सब पाप ।
रतनावलि निरमल बनत जिमि सुबरन सहि ताप ।।[6]

---

१ दृष्टान्त तरग०, पृ० १९४ ।
२ दादू बा०, पृ० १८८ ।
३ रहीम दो०, पृ० ९९ ।
४ वृन्द सत०, पृ० १७० ।
५ रत्नावली दो०, पृ० १३५ ।
६ वही, पृ० ९७ ।

रामचरित उपाध्याय मेल की प्रशसा करते हैं—

सुवल सुमन्त्र सुकर्म जहँ, जहँ एका सुविचार ।
तहँ सुख-सम्पति जय सदा, उन्नति होति अपार ।।[1]

मेल के सम्बन्ध मे कुछ अन्य बातें भी नीति-काव्य मे कही गई है । मेल दोनो पक्षो के चाहने पर ही सम्भव है । केवल एक पक्ष के चाहने से यह नही हो सकता । वृन्द कहते हैं—

दोऊ चाहे मिलन कौ तौ मिलाप निर्धार ।
कवहूँ नाहिन वाजिहै, एक हाथ सौ तार ।।[2]

मेल के लिए केवल ऊपर से मिलना पर्याप्त नही है । ऊपर के साथ भीतर को भी या दिल को भी मिलना चाहिये—

का ऊपर ते मिलिवो जिय जव चाक ।
खीरा वाहर ते इक भीतर फाँक ।।[3]

सग—किसी के साथ रहने या सम्पर्क मे आने को साथ, सग या सोहवत कहते हैं । सग का सग मे रहने वालो पर प्रभाव पडता है । हिन्दी के बहुत से नीति के कवियो ने इसे अपने-अपने ढग से कहा है । एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सगत के अनुसार ही सवको वनत सुभाइ ।
साभर मे जो कुछ परै निरो नोन ह्वै जाइ ।।[4]

बुरे व्यक्ति भी अच्छो का साथ पकड कर धीरे-धीरे अच्छे वन जाते हैं और उनके दुर्गुण आदि दूर हो जाते हैं—

नीचहुँ उत्तम सग मिलि उत्तम ही ह्वै जाय ।
गंग सग जल हृय हूँ गगोदक के भाय ।।[5]

दूसरी ओर कुसग बुराई का घर है । सज्जन भी इसके कारण कलङ्कित होते हैं—

रहिमन नीचन सग वसि लगत कलक न काहि ।
दूध कलारी कर गहे मद समुझै सव ताहि ।।[6]

---

१ व्रज सत०, पृ० ३७ ।
२ वृन्द सत०, ४०७ ।
३ स्वदेश सत०, ६३१ ।
४ दुलारे दो०, ६६ ।
५ वृन्द सत० ४२३ । दुलारेलाल ने भी कहा है—
सतसगत लघुवंस हू हरि अवगुन गुन देति ।
केहि न कान्ह अधरन धरी वंसी वस करि लेति ।। दो० १५७ ।
६ रहीम दो०, ७०६ ।

तथा दु ख के यथार्थ मित्र विद्या, विनय, धैर्य, धर्म, शील तथा विवेक आदि है ।[1]

आरम्भ मे कहा जा चुका है कि दु ख मन का विषय है, आत्मा का नहीं । इसीलिए आत्म-लीन व्यक्ति सुख-दु ख से ऊपर रहते हैं । एक आधुनिक कवि ने इसी ओर लक्ष्य करके सुख-दु ख के सम्बन्ध में कहा है—

गम होता है उन्हें जिन्हें खुशियो से प्यार है ।[2]

फूट और मेल—विरोध या वैमनस्य के कारण होने वाला भेद फूट है और आपस का सद्भाव, जिममे मिलकर काम करने की तथा एक दूसरे को सहायता पहुँचाने की भावना हो मेल है । इतिहास इसका साक्षी है कि मेल जितना ही लाभकर है, फूट उतनी ही हानिकर । अपने दैनिक जीवन मे भी हम प्राय इसका अनुभव करते हैं । इन दोनो के सम्बन्ध मे हिन्दी नीति-काव्य में भी इन्ही सत्यो की अभिव्यक्ति हुई है और मेल से रहने तथा फूट से दूर रहने की शिक्षा दी गई है ।

गग फूट का विरोध करते हुए लिखते हैं—

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट-हाट,
काहू घाट मोल काहू बाढ मोल को लयो ।
टूट गई लका फूट मिल्यो जो विभीषन है,
रावन समेत बस आसमान को गयो ।
कहैं कवि गग दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक मे फूटे ते गुमान वाको ढह गयो ।
फूटे ते नरद उठि जात बाजी चौसर की,
आपुस के फूट कहु कौन को भलो भयो ।।[3]

गिरिधर कविराय भी इसके दुष्परिणाम को दिखाते है—

कह गिरिधर कविराय फूट जेहि के घर आई ।
हिरनाकस्यप कस गये बलि रावन भाई ।।[4]

---

१ तुलसी साथी विपति के विद्या विनय विवेक ।
साहस सुकृत सत्यव्रत राम भरोसो एक ।। तुलसी सत०, ७ ४६ ।
तुलसी असमय के सखा साहस धर्म विचार ।
सुकृत सील स्वभाव ऋजु रामसरन आधार ।। तुलसी सत०, ७ ४७ ।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।
आपत काल परखियहु चारी । तुलसी

२ गोपाल ब्रह्मचारी काव्य वाटिका, पृ० २३३ ।

३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २७६ ।

४ गिरिधर कुण्ड०, पृ० ६४ ।

रामचरित उपाध्याय मेल की प्रशसा करते हैं—

सुवल सुमन्त्र सुकर्म जहँ, जहँ एका सुविचार।
तहँ सुख-सम्पति जय सदा, उन्नति होति अपार ॥[१]

मेल के सम्बन्ध मे कुछ अन्य बाते भी नीति-काव्य मे कही गई है। मेल दोनो पक्षो के चाहने पर ही सम्भव है। केवल एक पक्ष के चाहने से यह नही हो सकता। वृन्द कहते हैं—

दोऊ चाहे मिलन कौ तौ मिलाप निर्धार।
कवहूँ नाहिन बाजिहै, एक हाथ सौ तार ॥[२]

मेल के लिए केवल ऊपर से मिलना पर्याप्त नही है। ऊपर के साथ भीतर को भी या दिल को भी मिलना चाहिये—

का ऊपर ते मिलिवो जिय जब चाक।
खीरा बाहर ते इक भीतर फांक ॥[3]

सग—किसी के साथ रहने या सम्पर्क मे आने को साथ, सग या सोहवत कहते हैं। सग का सग मे रहने वालो पर प्रभाव पडता है। हिन्दी के बहुत से नीति के कवियो ने इसे अपने-अपने ढग से कहा है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सगत के अनुसार ही सबको बनत सुभाइ।
साभर मे जो कुछ परै निरो नोन ह्वै जाइ ॥[४]

बुरे व्यक्ति भी अच्छो का साथ पकड कर धीरे-धीरे अच्छे बन जाते है और उनके दुर्गुण आदि दूर हो जाते हैं—

नीचहुँ उत्तम सग मिलि उत्तम ही ह्वै जाय।
गग सग जल हृद्य हूँ गगोदक के भाय ॥[५]

दूसरी ओर कुसग बुराई का घर है। सज्जन भी इसके कारण कलङ्कित होते हैं—

रहिमन नीचन सग वसि लगत कलक न काहि।
दूध कलारी कर गहे मद समुझै सब ताहि ॥[६]

---

१ व्रज सत०, पृ० ३७।

२ वृन्द सत०, ४०७।

३ स्वदेश सत०, ६३१।

४ दुलारे दो०, ६६।

५ वृन्द सत० ४२३। दुलारेलाल ने भी कहा है—
सतसगत लघुवंस हू हरि अवगुन गुन देति।
केहि न कान्ह अघरन घरी बसी वस करि लेति ॥ दो० १५७।

६ रहीम दो०, २०६।

और बडो की महिमा भी घट जाती है—

बसि कुसग चाहत कुसल यह रहीम जिय सोस।
महिमा घटी समुद्र की रावन बसा परौस ॥[१]

इस प्रकार अच्छे की सगति अच्छी और सुख का कारण है, तथा बुरे की सगति बुरी तथा दु ख का कारण है

होत सुसगत सहज सुख दुख कुसग के थान।
गधी और लुहार की देखो बैठ दुकान ॥[२]

'सग से लोग प्रभावित होते हैं' यह एक सामान्य सिद्धान्त है और प्राय नीतिकारो ने इसे माना है। सस्कृत मे भी 'ससर्गजा दोपगुणा भवन्ति' कहकर इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। पर इसके विरोध मे भी हिन्दी नीति-काव्य मे पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। रहीम कहते है कि अच्छी प्रकृति के लोगो पर बुरे के सग का प्रभाव नहीं पडता—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकै कुसग।
चदन विप व्यापत नही लपटे रहत भुजङ्ग ॥[३]

यद्यपि उन्हीं ने यह भी कहा है

कदली सीप भुजग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी सगति बैठिये, तैसोई फल दीन ॥[४]

इसी प्रकार वृन्द भी एक स्थान पर कहते हैं—

सुधरै विगरि कुसग ते सतसगति को पाय।
वासहि सीकर हीग की जीरा सग मिट जाय ॥[५]

पर वही वे यह भी कहते हैं—

विगर्यो होय कुसग जिहि, कौन सकै समुझाय।
लसुन बसाये बसन को, कैसे फूल बसाय ॥[६]

यहाँ स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी नीति-काव्य मे सग के सम्बन्ध

---

१ रहीम दोहा०, १३३।
२ वृन्द सत०, २३६।
३ रहीम दो०, ७९।
४ वही, २४।
५ वृन्द सत० २३८।
६ वही, २२६।

मे ये विरोधी बाते क्यो कही गई है, या एक ही कवि ने (जैसे वृन्द या रहीम) इसके सम्बन्ध मे विरोधी विचार क्यो व्यक्त किये हैं। पर, यथार्थत ये बातें विरोधी होते हुए भी अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। ऐसे भी बुरे व्यक्ति होते है जो अपने व्यक्तित्व की अलोचता या बुराई की अधिकता के कारण भले के सग मे रहने पर भी नही सुधरते, पर इसके विरुद्ध ऐसे भी बुरे व्यक्ति होते है, जो भले का संग पाकर सुधर जाते हैं। ठीक इसी प्रकार ऐसे भले व्यक्ति भी ससार मे होते हैं जो बुरे के साथ रहने पर भी बुरे नही बनते और दूसरी ओर ऐसे भी होते हैं जो बुरे के साथ मे पडते ही उससे प्रभावित होकर बुरे बन जाते है। इस तरह हिन्दी नीति काव्य मे व्यक्त की गई दोनो ही—सग का प्रभाव पडता है,[1] सग का प्रभाव नही पडता है[2]—विरोधी बाते अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। यो इन विरोधी मतो के बावजूद भी प्राय सभी नीति के कवि इस सम्बन्ध मे एकमत हैं कि बुरे का संग कभी न करे, वह दुखदाई होता है

सबसे नीतिशास्त्र कहता है, दुष्ट सग दुख का दाता है।
जिस पय मे पानी रहता है, वही खूब औटा जाता है ॥[3]

और अच्छे का सग अवश्य करे, क्योकि उससे सुख मिलता है और उन्नति होती है—

तुच्छ कीट भी ज्यो पकज मे रहकर हर सिर पर चढता है।
त्यो करके सत्सग सहज मे, नर निज उन्नति को करता है ॥[4]

भाग्य—मनुष्य के कार्य तथा उसकी सफलता-असफलता आदि को पहले से ही निश्चित करने वाला दैवी विधान "भाग्य", किस्मत या तकदीर आदि नामो से पुकारा जाता है। इसे लोग ब्रह्मा द्वारा लिखा मानते हैं, अत इसका नाम ब्रह्मलेख या विधिलेख भी है। धर्मप्रधान देश भारतवर्ष कर्म मे विश्वास रखता हुआ भी अनादि काल से भाग्यवादी रहा है, इसी कारण भारतीय साहित्य मे भाग्य को बहुत महत्व दिया गया है। हिन्दी का नीति-काव्य भी इसका अपवाद नही है। कुछ नवीन कवियों को छोडकर प्राय सभी ने भाग्य को ही मनुष्य के जीवन मे घटने वाले भले-बुरे सबका कारण माना है।

सस्कृत की प्रसिद्ध कहावत है

भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।

---

१ ब्रज सत०, १६, तुलसी दो०, ३५८।
२ वृन्द सत०, ४०५; बिहारी सत०, ६३८।
३ काव्य वाटिका, पृ० २०८।
४ वही, पृ० २०७।

हिन्दी नीति-काव्य मे भी इस प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। रहीम कहते हैं—

जो पुरुपारथ ते कहूँ सम्पति मिलति रहीम।
पेट लागि वैराट घर, तपत रसोई भीम ॥[१]

अर्थात् पुरुषार्थ या उद्यम कुछ भी नहीं है, भाग्य ही सब कुछ है। दीनदयालगिरि भी उसी स्वर मे कहते हैं—

भाग्य फलत है सकल थल, नहिं विद्या बल बाह।
पायो श्री अरु गरल को हरि हर नीरधि माह ॥[२]

सामान्यतः कहा जाता है कि गुण के कारण व्यक्ति यश पाता है, पर भाग्यवादी नीतिकारों ने यशप्राप्ति के लिए भाग्य को भी आवश्यक माना है

केवल गुन ही ते न जस, चहिये भाग सहाय।
फूलत फलत न देखिये, महगो पान विकाय ॥[3]

इस प्रकार भाग्य बहुत ही प्रबल है[४] और उसका लिखा होकर ही रहता है.

कहूँ जाहु नाहिन मिटत जो विधि लिख्यो लिलार।
अकुस भय करि कु भ कुच, भयँ तहाँ नख मार ॥[५]

और लाख परिश्रम करने का भी कोई फल नही होता—

उद्दिम एकै बहु करे, भाग सरिस फल होय।
सुधा लह्यो सुर उदधि मथि, लह्यो असुर विप रोय ॥[६]

यह भाग्यवादी नीतिकारो का पक्ष था। आधुनिक नीतिकार कवि भाग्य के इस महत्व को नही स्वीकार करते। उनकी दृष्टि मे कर्म, उद्यम या श्रम ही मनुष्य को सफलता प्रदान करने वाला है। इस पक्ष के दो उदाहरण देखे जा सकते हैं—

लोहा चमकै घिसै से लकडी रगडे आग।
सोना चमके ताप से श्रम से चमकै भाग ॥[७]

---

१ रहीम दो०, ७६।

२ दृष्टान्त तरग०, १४६।

३ ब्रज सत०, ३६।

४ रतन दैव बस अमृत विष, विष अमिरत बनि जात।
सूधी हू उलटी परै, उलटी सूधी बात ॥ रत्नावली दो०, ११४।

५ वृन्द सत०, ३२, कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५८।

६ ब्रज सत०, १३३।

७ नीति के दोहे।

तथा

होत परिश्रमशील नर सुभग भाग्य भरपूर।
कहि विधि लिपि उद्यम-विमुख दामोदर तैं कूर॥[1]

सच पूछा जाय तो उद्यम और भाग्य दोनो का ही अपना-अपना स्थान है। भाग्य कोई भी चीज नही, ऐसा नही कहा जा सकता। भाग्य कहे या चाम या कुछ और पर इस प्रकार की कोई चीज़ है अवश्य। हम कभी-कभी देखते है कि एक व्यक्ति सामान्य श्रम से ही बहुत उन्नति कर जाता है पर दूसरा विद्या-बुद्धि मे उससे श्रेष्ठ तथा बहुत परिश्रमी होते हुए भी जीवन मे असफल रहता है। इसी प्रकार श्रम, उद्यम या पुरुषार्थ का भी अपना स्थान है। वृन्द, रहीम या दीनदयाल आदि ने जो भाग्य पर अत्यधिक बल दिया है तथा उसके समक्ष उद्यम आदि को निरर्थक कहा है, उचित नही कहा जा सकता। विना उद्यम के भाग्य मे लिखी चीज़ भी प्राप्त नही हो सकती अतएव यथार्थता यह है कि भाग्य और उद्यम दोनो ही महत्वपूर्ण है और व्यक्ति की सफलता दोनो के उचित योग पर ही निर्भर करती है।

समय—समय शब्द का नीति-काव्य मे दो अर्थो मे प्रयोग हुआ है। एक तो समय का अति प्रचलित अर्थ है "वक्त"। जैसे समय का अपव्यय उचित नही। दूसरा अर्थ है "अवसर"। जैसे समय आने पर काम अपने आप हो जायेगा।

पहले अर्थ मे समय के विषय मे हिन्दी नीति-काव्य मे केवल यह कहा गया है कि वह ससार मे सबसे अधिक मूल्यवान है। मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु भी हाथ से चली जाने पर प्राप्त हो सकती है पर समय नही।

दुख सुख धन जीवन मरन पैये वार करोर।
बीत गयो जो फिर कवौं समय न मिलत बहोर॥[2]

इसका आशय यह है कि इसका उपयोग बहुत ही समझ-बूझकर करना चाहिये।

समय अपने दूसरे अर्थ मे भी कम महत्वपूर्ण नही है। सभी अच्छे या बुरे काम अपने उपयुक्त अवसर या समय पर ही होते है। कोई लाख प्रयत्न करके भी किसी काम को समय से पूर्व या बाद मे नही करा सकता। वृन्द ने कहा है—

समय पाय तरुवर फलै केतक सींचो नीर।[3]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ५२।
२ व्रज सत० ८६।
३ वृन्द सत० १८८।

समय या अवसर दो प्रकार का हो सकता है। एक तो उपयुक्त या ठीक और दूसरा अनुपयुक्त या बेठीक। अनुपयुक्त या बेठीक समय या कुअवसर, छोटे-बड़े और अच्छे-बुरे सभी के लिए बुरा होता है। गिरिधर कविराय ने सिंह-सिंहनी, समुद्र-नाला बाज-बगुला तथा बिल्ली-चूहा आदि कितने ही उदाहरणों को लेकर बड़े सुन्दर ढङ्ग से इस बात की पुष्टि की है। कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

मूसा कहै बिलार सो सुन रे झूठ झुठैल।
हम निकसत हैं सैर को तुम बैठत हौ गैल।
तुम बैठत हौ गैल कुचरि धक्कन सो जैहो।
तुम हो निपट गरीब कहा घर बैठे खैहो।
कह गिरिधर कविराय बात सुनिये हो हूमा।
बाउ दिनन का फेर बिलारिहि सिखवै मूसा।।[1]

गिरिधर की एक और कुण्डलिया इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है—

साईं अवसर के पड़े को न सहै दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर वे राजा हरिचन्द।।
वे राजा हरिचन्द करैं मरघट रखवाली।
फिरैं तपस्वी वेष धरै अर्जुन बलधारी।
कह गिरिधर कविराय तपै वह भीम रसोईं।
को न करै घटि काम परै अवसर के साईं।।[2]

कुसमय मे सच्चे मित्र भी शत्रु बन जाते हैं—

जेहि अचल दीपक दुर्यो हन्यो सो ताही गात।
रहिमन असमय के परै मित्र शत्रु ह्वै जात।।[3]

इसीलिये बुरे समय के आने पर धैर्य के साथ अच्छे समय की प्रतीक्षा करनी उचित कही गई है—

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देख दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं बनत न लगिहैं बेर।।[4]

यहाँ चुप बैठने से रहीम का आशय कुछ न करने से नहीं है। इसका केवल

---

१ गिरिधर कुण्ड०, ५१।
२ गिरिधर कुण्ड०, ५६।
३ रहीम दो०, ६६।
४ वही १८८।

यह अर्थ है कि जिस काम के लिए जो समय उपयुक्त न हो, उस समय उसे न कर उसके लिए उचित समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

जिस प्रकार कुसमय मे कुछ न करने की नीति-काव्य मे सलाह दी गई है, उसी प्रकार उचित समय आने पर उसके पूरे उपयोग पर भी वल दिया गया है। गिरिधर कहते है—

साई समय न चूकिये यथासक्ति सनमान।[1]

तुलसी ने भी लिखा है—

तृषित वारि विनु जो तनु त्यागा।
मुये करै का सुधा तड़ागा।
का वरषा जव कृषी सुखाने।
समय चूक पुनि का पछताने।[2]

सुअवसर ऐसा है कि छोटे के लिए भी आये तो वह वडा हो जाता है और वुरी से वुरी चीज भी अच्छी लगने लगती है—

विन अवसर न सुहाय तन चदन लावै गार।
औसर की नीकी लगै मीता सौ-सौ गार॥[3]

इस प्रकार अवसर या समय मे वडी शक्ति है—

सदा समय वलवान पै नाहि पुरुप वलवान।
कावरि लगि गोपी लई विरथ भये रथवान॥[4]

या

पुरुप वली नहि होत है समय होत वलवान।
भीलन छीनी गोपिका वहि अर्जुन वहि वान।[5]

अतएव सफलता की प्राप्ति के लिए अन्य सभी साधनो के रहते हुए भी समय की नब्ज पर हाथ रखकर आगे वढना अत्यावश्यक है। विना उचित समय आए कोई भी काम सफल नही हो सकता।

वीती वात—मनुष्य को अपना वर्तमान देखना है तथा भविष्य की चिन्ता करनी है, अत. नीतिकारो ने वीती वातो को भूल जाना ही श्रेयस्कर कहा है। यह

---

१ गिरधर कुण्ड०, ७४।
२ मानस, १. २६१।
३ रतन हजारा, ६२१।
४ वृन्द सत०, १६६।
५ नीति छन्द०।

विशेषत उन लोगो को लक्ष्य करके कहा गया है जो अपनी बीती असफलताओ या भूत के गर्त मे सोये अपमानो एव हानियो की चिन्ता कर घुलते रहते हैं। ऐसा करने से इनकी दो हानियाँ होती हैं। एक तो ये व्यर्थ मे अपने को चिन्तित एव दुखित बनाते हैं, दूसरे भूत मे चिंतत रहने के कारण अपने वर्तमान एवं भविष्य की उचित चिन्ता नही कर पाते। गिरिधर कविराय ने लिखा है—

बीती ताहि विसारि दे आगे की सुधि लेइ।

-

कहु गिरिधर कविराय यहै करु मन परतीती।
आगे को सुख समुझि होई बीती सो दीती ॥[1]

अतएव बीती बातो को भूलकर या उनकी ओर ध्यान न देकर हमे अपने वर्तमान तथा भविष्य के विषय मे सोचना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार के उपदेशो मे नीति के कवियो का आशय उन बीती बातो को भूलने का नही, है जिनसे हमे आगे बढने मे सहायता एव उत्साह की प्राप्ति हो।

स्थान—स्थान का भी विविध दृष्टियो से अपना महत्व होता है। अच्छी से अच्छी वस्तु भी बुरे स्थान मे जाकर अपना महत्व खो बैठती है।[2] इसीलिए गुणियो या अच्छो को स्थान का विचार करके जाना चाहिये। जहाँ उनका आदर न हो या जहाँ जाना उनके लिए उचित न हो, ऐसे स्थान पर उन्हे नही जाना चाहिये। बिहारी की एक अन्योक्ति है—

अरे हस या नगर मे जैयो आप विचारि।
कागनि सो जिन प्रीति कर कोकिल दई बिडारि ॥[3]

इसके विरुद्ध अच्छे स्थान पर जाकर बुरे भी अच्छे हो जाते है—

बुरौ तऊ लागत भलौ, भलौ ठौर पै लीन।
तिय नैननि नीकौ लगै काजर जदपि मलीन ॥[4]

इन दोनो प्रकार की बातो के निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि स्थान के अनुसार ही गुण, सौन्दर्य, योग्यता तथा वस्तु आदि को सफलता या असफलता मिलती है। वृन्द ने इसे दूसरे ढग से कहा है—

---

१ गिरधर कुण्ड०, ६६।

२ बिहारी सत०, ६६३, वृष्टान्त रङ्ग, १३०।

३ बिहारी सत०, ६६०।

४ वृन्द सत०, ५१२।

जैसो थानक सेइयो तैसो पूरे काम।
सिंह गुफा मुक्ता मिलै स्यार खुरी खर चाम।[१]

अपना स्थान अपने लिए सर्वोत्तम कहा गया है। वहाँ से हटने या च्युत होने पर अपनी दशा बुरी हो जाती है। रहीम कहते है—

माह मास लहि टेसुआ मीन परै थल ओर।
त्यों रहीम जग जानिये छूटे आपुनै ठौर॥[२]

वृन्द तो कहते है कि अपने स्थान का महत्व इतना अधिक है कि वहाँ से हटने पर मित्र भी शत्रु हो जाते है—

ठौर छूटे तें मीतहूं ह्वै अमीत सतरात।
रवि जल उखरे कमल कौं जारत गारत जात।[३]

अपना स्थान दांव, शक्ति या अधिकार आदि की दृष्टि से भी अपने लिए अन्य स्थानो की तुलना मे अच्छा होता है। भोजपुरी की लोकक्ति है—

अपनो दुवार कुकुरो वडियार।

वृन्द ने भी कहा है—

अपनी अपनी ठौर पर लागै सवको दांव।
जल में गाडी नाव पर थल गाडी पर नाव॥[४]

अपने स्थान का अपने लिए उपयुक्त होने की बात हर दृष्टि से ठीक नही है। विद्या तथा गुण आदि की कदर प्राय दूर जाकर ही होती है। तुलसी ने

उपजहिं अनत अनत छवि लहही।[५]

मे इसी ओर सकेत किया है। लोकोक्ति भी है 'घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध"।

उत्थान और पतन—उन्नति और अवनति या उत्थान और पतन दोनो ही व्यक्ति, परिवार, जाति या देश सभी के जीवन मे क्रम से आते रहते है। न तो कोई सर्वदा उन्नति के शिखर पर रहता है और न अवनति के गर्त मे ही। नीति-काव्य मे इसे कई कवियो ने कई प्रकार से कहा है। दुलारेलाल भार्गव फूल को सम्बोधित करके कहते है—

---

१ वृन्द सत०, २४६।
२ रहीम दोहा०, १५३।
३ वृन्द सत० २५८।
४ वही. २६५।
५ मानस १. ११.४।

बसि ऊँचे कुल यो सुमन मन इतरैए नाहि ।
यह विकास बिन द्वैक को मिलिहै माटी माहि ।।[1]

यहाँ उत्थान या उन्नति को अस्थायी कहा गया है । पतन या अवनति को अस्थायी दिखलाते हुए सनेही जी लिखते हैं—

जो विधि वश था बना भूप के रक भिखारी ।
और नही था मित्र साथ बस थी नाचारी ।
राजभवन क्या नही कही पर रही कुटी थी ।
प्रबल शत्रु के हाथ सकल सपत्ति लुटी थी ।
वही आज फिर देखिये बना नृपति सिरमौर है ।
दुनिया का है तौर ही आज और कल और है ।।[2]

आशय यह है कि उत्थान और पतन दोनो ही अस्थाई हैं और बारी-बारी से आते रहते हैं, अतएव किसी को न तो अपने उत्थान के कारण गर्व से फूलना चाहिये और न किसी को अपने को अवनतावस्था मे पाकर निराश ही होना चाहिये ।

वीर—वीर की प्रतिष्ठा सर्वदा से होती आई है 'वीर भोग्या वसुन्धरा' मे वीरो के प्रति सम्मान की अच्छी झलक है ।[3] हिन्दी के नीति-काव्य मे भी वीरो का बडा स्तवन है । इस सम्बन्ध मे कविराजा बाँकीदास की सूरछतीसी, वीरविनोद, सूर्यमिश्र की वीर सतसई तथा वियोगी हरि की वीर सतसई द्रष्टव्य हैं ।

वीर दृढ, अपनी शक्ति का भरोसा रखने वाले, स्वतन्त्रताप्रेमी, गम्भीर, दुष्टों के नाशक, दयालु तथा वचन के पालक आदि होते हैं ।[4] वे शत्रु को शीश-दान देते हैं पर पीठ-दान नही देते—

मुँह मागे रण सूरमा देतु दान पर हेतु ।
सीस दान हू देतु पै पीठि दानु नहिं देतु ।।[5]

मरकर भी युद्धस्थल नही छोडते—

खड खड ह्वै जाय बरु देतु न पाछे पैड ।
लरत सूरमा खेत की मरत न छाडतु मैंड ।।[6]

---

१ दुलारे दो०, १९५ ।
२ काव्य वाटिका, पृ० ३५० ।
३ सकल धरातल धार को सिंह साँप बुध वीर ।
जहँ चाहैं बेरोक तहँ विहरैं बसे अभीर । ब्रज सत०, पृ० १४३ ।
४ वियोगी हरि वीर सत०, पृ० ७४ १४. ४. ३ ।
५ वही, पृ० ३ ।
६ वही, पृ० २ ।

तथा भयभीत होना तो जानते ही नही—

सूरा रण साँके नही, हुवै न काटल हेम ।
टूक करै तन आपनो, कांच कटोरा जेम ॥[१]

तुलसी ने 'वीर न होहिं अवीर[२]' विपत्ति आदि मे अधीर न होना भी उनका गुण बतलाया है । साथ ही—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु ।[३]

वे प्रलापी भी नही होते । उनका कर्म करने मे विश्वास होता है ।

इन सारे गुणो का किसी एक व्यक्ति मे होना सरल नही है, इसी कारण, सर्वत्र वीरो का पाया जाना भी सम्भव नही । लाखो मे यथार्थ वीर कोई एक ही होता है । नीति के कवियो ने भी कहा है—

खल खडन, मडन सुजन सरल सुहृद सविवेक ।
गुण गम्भीर रण-सूरमा, मिलतु लाख मे एक ॥[४]

कायर—कायर वीर का विरोधी शब्द है । वीरो की साहित्य मे जितनी ही प्रशसा हुई है, कायरो की उतनी ही निन्दा । बाँकीदास ने कायरो पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ "कायर बावनी" लिखा है ।

हिन्दी-नीति काव्य मे कायर व्यक्ति डरपोक, अविवेकी तथा परतन्त्रता के प्रेमी कहे गये हैं ।[५] साथ ही वे अपने वचन का पालन करना नही जानते—

तन्त न तोरत अन्त लौ वचन निवाहत सूर ।
कहा प्रतिज्ञा पालिहै कपटी कादर कूर ॥[६]

एव पुरुषार्थ से हीन होते हैं ।[७]

ये अवगुण तो कायरो मे सचमुच ही होते हैं, पर नीति के कवियो ने उनकी निन्दा करने के उत्साह मे उन्हे क्रोधी तथा क्रूर आदि भी कहा है ।[८] कहना न होगा कि इन अवगुणो का यथार्थत कायर या कायरता मे कोई सम्बन्ध नहीं है । कायर

---

१ सूर छतीसी, १५ ।
२ मानस सूक्त०, ५०२ ।
३ वही, ७२० ।
४ वीर सत०, पृ० ३ ।
५ वीर सत०, पृ० ४ ६. १४ तथा कायर बावनी, २३४ ।
६ वही, पृ० ४ ।
७ मानस सूक्त०, १२५ ।
८ कायर बावनी तथा वीर सत०, पृ० ६ ।

व्यक्ति प्राय क्रोधी एव क्रूर नही होते, हाँ इसके विपरीत वीरो मे ये अवगुण अवश्य दिखाई देते हैं।

अति—अपनी सीमा के भीतर ही सभी बाते शोभा देती हैं। लोकोक्ति है—

अति सर्वत्र वर्जयेत्।

हिन्दी नीति-काव्य मे भी अति न करने या अति से दूर रहने का उपदेश दिया गया है—

रहिमन अती न कीजिए, गहि रहिए निज कानि।
सँजन अति फूलै फरै डार पात की हानि॥[1]

एक अन्य कवि ने भी लिखा है—

अति न करहु अतिता बुरी, चाहे होय ललाम।
देखहु कीरा परत हैं, अति मीठे जो आम।[2]

अतिथि—अतिथि का अर्थ है, "जिसके आने की कोई तिथि न हो" अतिथि के अन्तर्गत परिचित और अपरिचित दोनों ही प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं। भारतीय सस्कृति में अतिथि-पूजा या अतिथि के सत्कार का बहुत महत्व है। अन्य धार्मिक कृतियो की भाँति इसे भी धर्म माना गया है। हिन्दी नीति-काव्य मे भी अतिथि के सत्कार करने का आदेश दिया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि अथिति के मित्र, सम्बन्धी, परिचित या अपरिचित होने की तो बात ही क्या, वह चाहे अपना शत्रु ही क्यो न हो, उसका सत्कार अवश्य करना चाहिये। वृन्द कहते हैं—

जो घर आवत सत्रु हू, सज्जन देत सु चाहि।
ज्यो काटै तरु मूल कोउ, छाँह करत वह ताहि।[3]

किसी और कवि का भी एक छन्द है—

अतिथि सेव सम धर्म नहि, निज बस मन सम मीत।
नहि सुबुद्धि मम बन्धु जग, जाहि करहु परतीति।[4]

पर यह तो मात्र सैद्धान्तिक बात है। व्यावहारिक दृष्टि से अतिथि का सत्कार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि वह धूर्त या चोर आदि तो नहीं है। ऐसा प्राय देखा जाता है कि ठग, धूर्त या चोर आदि अतिथि रूप मे आते हैं और अवसर

---

१ रहीम दो०, १६६।
२ नीति छन्द०।
३ वृन्द सत० ४६०।
४ नीति छन्द०।

पाते ही कुछ लेकर चल देते हैं। इसी तथ्य की ओर लक्ष्य करके बीरबल ने "धुतारो अतीथ" का सत्कार न कर उसे समुद्र मे डुबाने की सलाह दी है—

पूत कपूत, कुलच्छन नारि, लराक परोस लजाय न सारो।
बन्धु कुबन्धु, पुरोहित लंपट, चाकर चोर अतीथ धुतारो।

.. ...

ब्रह्म भनैं सुनु साहि अकब्बर, बारहो बाँधि समुद्र मे डारो।[1]

अतएव अतिथि का सत्कार तो करें पर इसके पूर्व यह भी जान ले कि वह अतिथि के रूप मे किसी कुकृत्य के ध्येय से तो नही आया है।

(ग) राजनीति—

राजा, राज्य या शासन सम्बन्धी नीति को राजनीति कहते है। आज तो राजनीति की शाखाओ-प्रशाखाओ का इतना व्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा है कि इसे विज्ञान (पोलिटिकल साइंस) की प्रतिष्ठा दे दी गई है पर अब से पूर्व इसमे इतना विकास नही हो सका था। भारतीय साहित्य मे स्मृतियो के विशिष्ट अध्यायो, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति आदि नीति ग्रन्थो के अन्तर्गत राजा उसकी योग्यता, रहन-सहन, शासन, उसके विभाग, कर, गुप्तचर, न्याय तथा कर्मचारियो के कर्तव्यो आदि के ही वर्णन प्रमुख रूप से मिलते है और यही राजनीति का प्रधान विषय रहा है। हिन्दी के नीति-काव्य मे भी वर्णित राजनीति इसी से मिलती-जुलती है। अत प्रस्तुत अध्याय का विषय आज के अर्थ में राजनीति का विवेचन नहीं है, यहाँ केवल राजा, उसके शासन और व्यवहार तथा मन्त्री आदि के विषय मे हिन्दी नीति-काव्य मे वर्णित सामान्य बाते ही प्रस्तुत की जा सकेगी।

राजा—शरीर मे जिस प्रकार मस्तिष्क का अपना एकान्त महत्व है और बिना उसके शरीर का उचित ढग से सचालन असम्भव है, उसी प्रकार राजा के बिना राज्य की व्यवस्था और उसका संचालन सम्भव नही है। बुन्देल नरेश महाराज छत्रसाल ने अपनी नीति-मजरी मे कहा है—

नारि निज नाह बिन, देस नरनाह बिन।
सुभट सुनाह बिन सीस बिन धर है।[2]

---

१ कविता कौमुदी भाग, १, पृ० २४०।
२ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७८।

इन्हीं बातो के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अश भव परम कृपाला।[1]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वय ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभु ।[2]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यो सा नही, बल्कि इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एव सूर्य का तेज, वरुण और कुवेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के सयोग से।

मनु लिखते हैं—

इद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चद्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥[3]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर इन आठ देवताओ का सारा अश लेकर बनाया।

ये सारी बातें राजा के एकान्त महत्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमे इस बात का भी सकेत है कि राजा में किन गुणो का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोडा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे हैं।

पासा परै सो दाव।
राजा करे सो न्याव॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढग से कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करे सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल मे पासो परै सु दाव॥[4]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्राय राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ मानस, १।
२ मनु०, ७. ३।
३ मनु०, ७ ४।
४ वृन्द सत०, २६०।

इसके लिए लोगो ने न जाने कितने पाप किए है। इतिहास के पृष्ठ राज्य के लिए होने वाले द्वन्दो और युद्धो के रक्त मे आज भी रजित है। पर अधिकारो की दृष्टि से राजा होना जितना आकर्षक और प्रिय है कर्तव्यो की दृष्टि से उतना ही कठिन और कष्टकर भी है। राजा तो बहुतेरे बन सकते है पर राजा के कर्त्तव्य को बहुत कम निभा सकते हैं।

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

मुखिया बनिबो कठिन अति परिनिति लखि के भाग।
देखु सुमेरहि भेदि हिय पोहत दोहरो ताग॥[1]

सचमुच राजा को सामान्य लोगो से अधिक उत्तरदायित्व लेना पडता है और इसी कारण उसे अधिक श्रम, चिन्ता और कष्ट का भागी भी बनना पडता है साथ ही और लोग तो स्वार्थी भी हो जाँय तो बहुत बुरा नही हो सकता, पर राजा के स्वार्थी होने पर तो राष्ट्र का वारा-न्यारा हो जायगा। इसी कारण न्यायी और उचित राजा को प्रजा के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना पडता है। रामचरित उपाध्याय ने कहा भी है—

मुखिया सो बनि सकत है, जो सहेन सिप लेइ।
अनुगामिन प्यावै सुधा, आप गरल रह सेइ॥[2]

कष्ट सहने और स्वार्थ से दूर रहने के अतिरिक्त शत्रुओ से देश की रक्षा करना, आन्तरिक षडयन्त्रो एव उपद्रवो को दबाए रहना तथा न्याय की अगम धार को पहचानते रहना आदि और भी बहुत से कठिन कार्य राजा को करने पडते हैं। पर सब मे कठिन है अपने पूरे राज्य का ध्यान रखना। पिता को अपने दो-चार पुत्रो के साथ सम और उचित व्यवहार रखना असम्भव हो जाता है, घर का मालिक समबुद्धि के साथ दस-बीस आदमियो के परिवार मे समदृष्टि नही रख पाता। फिर भला, राजा के लिए पूरे राज्य मे सभी का यथोचित और न्यायसंगत ध्यान रखना कितना कठिन है? तुलसी ने अपने प्रसिद्ध दोहे मे इसी बात की ओर सकेत किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥[3]

राजा के भेद—राजा को नीतिकारो ने कई प्रकार का कहा है। तुलसी ने

---

१ ब्रज सत०, पृ० ३७।
२ ब्रज सत०, पृ० ५५।
३ तुलसी दोहा०, ५२२।

इन्ही बातो के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अश भव परम कृपाला।[१]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वय ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभु ।[२]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यो सा नही, बल्कि इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एवं सूर्य का तेज, वरुण और कुवेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के सयोग से।

मनु लिखते हैं—

इद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चद्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥[३]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुवेर इन आठ देवताओ का सारा अश लेकर बनाया।

ये सारी बातें राजा के एकान्त महत्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमें इस बात का भी सकेत है कि राजा मे किन गुणो का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोडा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे हैं।

पासा परै सो दाव।
राजा करै सो न्याव॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढग से कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करै सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल मे पासो परै सु दाव॥[४]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्राय राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ मानस, १।
२ मनु०, ७. ३।
३ मनु०, ७ ४।
४ वृन्द सत०, २९०।

इसके लिए लोगो ने न जाने कितने पाप किए हैं। इतिहास के पृष्ठ राज्य के लिए होने वाले द्वन्दो और युद्धो के रक्त मे आज भी रजित है। पर अधिकारो की दृष्टि मे राजा होना जितना आकर्षक और प्रिय है, कर्तव्यो की दृष्टि से उतना ही कठिन और कष्ट-कर भी है। राजा तो बहुतेरे बन सकते है पर राजा के कर्त्तव्य को बहुत कम निभा सकते हैं।

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

मुखिया बनिबो कठिन अति परिनिति लखि के भाग।
देखु सुमेरहि भेदि हिय पोहत दोहरो ताग॥[1]

सचमुच राजा को सामान्य लोगो से अधिक उत्तरदायित्व लेना पडता है और इसी कारण उसे अधिक श्रम, चिन्ता और कष्ट का भागी भी बनना पडता है साथ ही और लोग तो स्वार्थी भी हो जांय तो बहुत बुरा नही हो सकता, पर राजा के स्वार्थी होने पर तो राष्ट्र का वारा-न्यारा हो जायगा। इसी कारण न्यायी और उचित राजा को प्रजा के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना पडता है। रामचरित उपाध्याय ने कहा भी है—

मुखिया सो बनि सकत है, जो महेस सिष लेइ।
अनुगामिन प्यावै सुधा, आप गरल रह सेइ॥[2]

कष्ट सहने और स्वार्थ से दूर रहने के अतिरिक्त शत्रुओ से देश की रक्षा करना, आन्तरिक षडयन्त्रो एव उपद्रवो को दबाए रहना तथा न्याय की अगम धार को पहचानते रहना आदि और भी बहुत से कठिन कार्य राजा को करने पडते हैं। पर सब से कठिन है अपने पूरे राज्य का ध्यान रखना। पिता को अपने दो-चार पुत्रो के साथ सम और उचित व्यवहार रखना असम्भव हो जाता है, घर का मालिक समबुद्धि के साथ दस-बीस आदमियो के परिवार मे समदृष्टि नही रख पाता। फिर भला, राजा के लिए पूरे राज्य मे सभी का यथोचित और न्यायसगत ध्यान रखना कितना कठिन है? तुलसी ने अपने प्रसिद्ध दोहे मे इसी बात की ओर सकेत किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥[3]

राजा के भेद—राजा को नीतिकारो ने कई प्रकार का कहा है। तुलसी ने

---

१ व्रज सत०, पृ० ३७।
२ व्रज सत०, पृ० ५५।
३ तुलसी दोहा०, ५२२।

इन्हीं बातो के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अश भव परम कृपाला।[१]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वय ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभु ।[२]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यों सा नही, बल्कि इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एवं सूर्य का तेज, वरुण और कुवेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के सयोग से।

मनु लिखते हैं—

इद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चद्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥[३]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुवेर इन आठ देवताओ का सारा अश लेकर बनाया।

ये सारी बातें राजा के एकान्त महत्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमें इस बात का भी सकेत है कि राजा मे किन गुणो का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोडा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे हैं।

पासा परै सो दाव।
राजा करै सो न्याव ॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढग से कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करै सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल मे पासो परै सु दाव ॥[४]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्राय राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ मानस, १।
२ मनु०, ७ ३।
३ मनु०, ७. ४।
४ वृन्द सत०, २६०।

इसके लिए लोगो ने न जाने कितने पाप किए हैं। इतिहास के पृष्ठ राज्य के लिए होने वाले द्वन्दो और युद्धो के रक्त मे आज भी रजित है। पर अधिकारो की दृष्टि मे राजा होना जितना आकर्षक और प्रिय है, कर्तव्यो की दृष्टि से उतना ही कठिन और कष्टकर भी है। राजा तो बहुतेरे बन सकते है पर राजा के कर्त्तव्य को बहुत कम निभा सकते है।

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

मुखिया बनिबो कठिन अति परिनिति लखि के भाग।
देखु सुमेरहिं भेदि हिय पोहत दोहरो ताग॥[1]

सचमुच राजा को सामान्य लोगो से अधिक उत्तरदायित्व लेना पडता है और इसी कारण उसे अधिक श्रम, चिन्ता और कष्ट का भागी भी बनना पडता है साथ ही और लोग तो स्वार्थी भी हो जाँय तो बहुत बुरा नही हो सकता, पर राजा के स्वार्थी होने पर तो राष्ट्र का वारा-न्यारा हो जायगा। इसी कारण न्यायी और उचित राजा को प्रजा के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना पडता है। रामचरित उपाध्याय ने कहा भी है—

मुखिया सो बनि सकत है, जो महेस सिप लेइ।
अनुगामिन प्यावै सुधा, आप गरल रह सेइ॥[2]

कष्ट सहने और स्वार्थ से दूर रहने के अतिरिक्त शत्रुओ से देश की रक्षा करना, आन्तरिक षडयन्त्रो एव उपद्रवो को दवाए रहना तथा न्याय की अगम धार को पहचानते रहना आदि और भी बहुत से कठिन कार्य राजा को करने पडते हैं। पर सब से कठिन है अपने पूरे राज्य का ध्यान रखना। पिता को अपने दो-चार पुत्रो के साथ सम और उचित व्यवहार रखना असम्भव हो जाता है, घर का मालिक समबुद्धि के साथ दस-बीस आदमियो के परिवार मे समदृष्टि नही रख पाता। फिर भला, राजा के लिए पूरे राज्य मे सभी का यथोचित और न्यायसंगत ध्यान रखना कितना कठिन है? तुलसी ने अपने प्रसिद्ध दोहे मे इसी बात की ओर सकेत किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥[3]

राजा के भेद—राजा को नीतिकारो ने कई प्रकार का कहा है। तुलसी ने

---

१ ब्रज सत०, पृ० ३७।
२ ब्रज सत०, पृ० ५५।
३ तुलसी दोहा०, ५२२।

इन्हीं बातो के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अंश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अंश भव परम कृपाला।[1]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वयं ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभु।[2]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यो सा नहीं, बल्कि इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एवं सूर्य का तेज, वरुण और कुबेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के संयोग से।

मनु लिखते हैं—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती॥[3]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर इन आठ देवताओ का सारा अंश लेकर बनाया।

ये सारी बाते राजा के एकान्त महत्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमे इस बात का भी संकेत है कि राजा मे किन गुणो का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोडा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे हैं।

पासा परै सो दाव।
राजा करै सो न्याव॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढंग से कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करै सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल मे पासो परै सु दाव॥[4]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्राय राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ मानस, १।

२ मनु०, ७. ३।

३ मनु०, ७ ४।

४ वृन्द सत०, २६०।

इसके लिए लोगो ने न जाने कितने पाप किए हैं। इतिहास के पृष्ठ राज्य के लिए होने वाले द्वन्दो और युद्धो के रक्त मे आज भी रजित है। पर अधिकारो की दृष्टि से राजा होना जितना आकर्षक और प्रिय है, कर्तव्यो की दृष्टि से उतना ही कठिन और कष्टकर भी है। राजा तो बहुतेरे बन सकते है पर राजा के कर्त्तव्य को बहुत कम निभा सकते है।

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

मुखिया बनिबो कठिन अति परिनिति लखि के भाग।
देखु सुमेरहिं भेदि हिय पोहत दोहरो ताग॥[1]

सचमुच राजा को सामान्य लोगो से अधिक उत्तरदायित्व लेना पडता है और इसी कारण उसे अधिक श्रम, चिन्ता और कष्ट का भागी भी बनना पडता है साथ ही और लोग तो स्वार्थी भी हो जाँय तो बहुत बुरा नही हो सकता, पर राजा के स्वार्थी होने पर तो राष्ट्र का वारा-न्यारा हो जायगा। इसी कारण न्यायी और उचित राजा को प्रजा के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना पडता है। रामचरित उपाध्याय ने कहा भी है—

मुखिया सो बनि सकत है, जो महेस सिप लेइ।
अनुगामिन प्यावैं सुधा, आप गरल रह सेइ॥[2]

कष्ट सहने और स्वार्थ से दूर रहने के अतिरिक्त शत्रुओ से देश की रक्षा करना, आन्तरिक षडयन्त्रो एव उपद्रवो को दवाए रहना तथा न्याय की अगम धार को पहचानते रहना आदि और भी बहुत से कठिन कार्य राजा को करने पडते है। पर सब से कठिन है अपने पूरे राज्य का ध्यान रखना। पिता को अपने दो-चार पुत्रो के साथ सम और उचित व्यवहार रखना असम्भव हो जाता है, घर का मालिक समबुद्धि के साथ दस-बीस आदमियो के परिवार मे समदृष्टि नही रख पाता। फिर भला, राजा के लिए पूरे राज्य मे सभी का यथोचित और न्यायसंगत ध्यान रखना कितना कठिन है? तुलसी ने अपने प्रसिद्ध दोहे मे इसी बात की ओर सकेत किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक॥[3]

राजा के भेद—राजा को नीतिकारो ने कई प्रकार का कहा है। तुलसी ने

---

१ व्रज सत०, पृ० ३७।
२ व्रज सत०, पृ० ५५।
३ तुलसी दोहा०, ५२२।

इन्हीं बातो के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अश भव परम कृपाला।[१]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वय ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभु ।[२]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यो सा नही, वलिक इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एवं सूर्य का तेज, वरुण और कुबेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के सयोग से।

मनु लिखते हैं—

इद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चद्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती॰ ॥[3]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर इन आठ देवताओ का सारा अश लेकर बनाया।

ये सारी बातें राजा के एकान्त महत्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमे इस बात का भी सकेत है कि राजा मे किन गुणो का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोडा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे हैं।

पासा परै सो दाव।
राजा करै सो न्याव ॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढग से कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करे सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल मे पासो परै सु दाव ॥[४]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्राय राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ मानस, १।
२ मनु०, ७ ३।
३ मनु०, ७. ४।
४ वृन्द सत०, २६०।

इसके लिए लोगो ने न जाने कितने पाप किए है। इतिहास के पृष्ठ राज्य के लिए होने वाले द्वन्दो और युद्धो के रक्त मे आज भी रजित है। पर अधिकारो की दृष्टि से राजा होना जितना आकर्षक और प्रिय है, कर्तव्यो की दृष्टि से उतना ही कठिन और कष्ट-कर भी है। राजा तो बहुतेरे बन सकते है पर राजा के कर्त्तव्य को बहुत कम निभा सकते है।

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है—

मुखिया बनिबो कठिन अति परिनिति लखि के भाग।
देखु सुमेरहि भेदि हिय पोहत दोहरो ताग ॥[1]

सचमुच राजा को सामान्य लोगो से अधिक उत्तरदायित्व लेना पडता है और इसी कारण उसे अधिक श्रम, चिन्ता और कष्ट का भागी भी बनना पडता है साथ ही और लोग तो स्वार्थी भी हो जाँय तो बहुत बुरा नही हो सकता, पर राजा के स्वार्थी होने पर तो राष्ट्र का वारा-न्यारा हो जायगा। इसी कारण न्यायी और उचित राजा को प्रजा के लिए अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार रहना पडता है। रामचरित उपाध्याय ने कहा भी है—

मुखिया सो बनि सकत है, जो महेस सिष लेइ।
अनुगामिन प्यावै सुधा, आप गरल रह सेइ ॥[2]

कष्ट सहने और स्वार्थ से दूर रहने के अतिरिक्त शत्रुओ से देश की रक्षा करना, आन्तरिक षडयन्त्रो एव उपद्रवो को दबाए रहना तथा न्याय की अगम धार को पहचानते रहना आदि और भी बहुत से कठिन कार्य राजा को करने पडते हैं। पर सब से कठिन है अपने पूरे राज्य का ध्यान रखना। पिता को अपने दो-चार पुत्रो के साथ सम और उचित व्यवहार रखना असम्भव हो जाता है, घर का मालिक समबुद्धि के साथ दस-बीस आदमियो के परिवार मे समदृष्टि नही रख पाता। फिर भला, राजा के लिए पूरे राज्य मे सभी का यथोचित और न्यायसगत ध्यान रखना कितना कठिन है? तुलसी ने अपने प्रसिद्ध दोहे मे इसी बात की ओर सकेत किया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक ॥[3]

राजा के भेद—राजा को नीतिकारो ने कई प्रकार का कहा है। तुलसी ने

---

१ ब्रज सत०, पृ० ३७।
२ ब्रज सत०, पृ० ५५।
३ तुलसी दोहा०, ५२२।

इन्हीं बातो के कारण योग्य राजा को ईश्वर का अश या अवतार कहा गया है। तुलसी ने कहा है—

साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अश भव परम कृपाला।[१]

मनु ने कहा है कि सब की रक्षा के लिए राजा को स्वय ईश्वर ने बनाया है—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत्प्रभु ।[२]

और राजा को बनाया भी साधारण मनुष्यो सा नही, बल्कि इन्द्र का ऐश्वर्य, वायु की शक्ति, यम की धर्मराजता या न्याय, अग्नि एव सूर्य का तेज, वरुण और कुबेर की धनाढ्यता तथ चन्द्रमा के शीतल, सुखद और शान्तिकर प्रकाश के सयोग से।

मनु लिखते हैं—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥[3]

अर्थात् राजा को इन्द्र, वायु, यम, सूर्य अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर इन आठ देवताओ का सारा अश लेकर बनाया।

ये सारी बातें राजा के एकान्त महत्त्व को प्रकट करती हैं। साथ ही इनमे इस बात का भी सकेत है कि राजा मे किन गुणो का होना आवश्यक है। अभी पिछले युग तक भारतीय जनता का राजा के ऊपर कितना अटूट विश्वास रहा है। इसका थोडा सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि लोग यह न कह कर कि राजा को न्याय करना चाहिए कहते रहे हैं।

पासा परै सो दाव।
राजा करै सो न्याव ॥

अर्थात् राजा जो करता है वही न्याय है। वृन्द ने इसी को अपने ढग से कहा है—

यहै बात सब ही कहैं राजा करै सु न्याय।
ज्यौं चौपर के खेल मे पासो परै सु दाव ॥[४]

राजा होना सरल नहीं—राजा के इसी महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थान तथा उसके अप्रतिम अधिकार के कारण लोग प्राय राजा होने का प्रयास करते आए हैं।

---

१ मानस, १।

२ मनु०, ७ ३।

३ मनु०, ७ ४।

४ वृन्द सत०, २६०।

सफल या असफल कहा जा सकता है। नीतिकारो द्वारा शासन या राजा के सम्बन्ध मे व्यक्त विचार निम्नाकित शीर्षकों मे देखे जा सकते है।

प्रजापालन—प्रजा का उचित ढङ्ग से पालन राजा का सबसे बडा गुण है। ऊपर कहा जा चुका है कि राजा को स्वार्थ त्यागकर और कष्ट सहकर भी प्रजा का ध्यान रखना चाहिए। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक मे लिखा है—

तस्मिश्च सम्यगनिश परिपोष्यमाणे
नानाफलै फलति कल्पलतेव भूमि[1]

अर्थात् हे राजा यदि तुम पृथ्वी रूपी धेनु को दुहना चाहते हो तो बछडे की तरह प्रजा का पालन करो। यदि तुम प्रजारूपी बछडे का अच्छी तरह पालन-पोषण करोगे तो कल्पलता की तरह यह पृथ्वी तुमको तरह-तरह के अनेक फल देगी।

तुलसी ने प्रजापालन के महत्व और उसकी आवश्यकताओ को ही लक्ष्य करके प्रजापालन न करने वाले राजा को नरक का अधिकारी कहा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।[2]

जान ने इस दृष्टि से अच्छे राजा की उपमा वृक्ष से दी है, जो स्वय धूप सह कर भी अपने नीचे रहने वालो अर्थात् प्रजा को धूप अर्थात् कष्टो से बचाता है—

परज्या की रक्षा करै सोई स्वामि अनूप।
तर सब को छहिया करै सहै आप सिर धूप॥[3]

छत्रसाल ने राजा को पिता और प्रजा को पुत्र के समान कहा है। राजा को पिता की भाँति ही प्रजा के हिताहित का ध्यान रखना चाहिए—

बालक लौं पालहि प्रजा, प्रजापाल छतसाल।
ज्यो सिसुहित अनहित सुहित करत पिता प्रतिपाल॥[4]

तुलसी ने अच्छे राजा को सूर्य, माली और अग्नि कहा है। सूर्य ससार से ही जल ग्रहण करता है पर इस सूक्ष्मता से कि ससार को पता नही चलता अत वह (ससार) किसी कष्ट का अनुभव नही करता। पर, फिर यथावसर और यथास्थान वही पानी देकर सूर्य ससार की रक्षा करता है। राजा मे भी यही बात होनी चाहिए। माली उद्यान के रक्षण के लिए आवश्यकतानुसार अवाछित पेड-पौधो को काट डालता

---

१ नीतिशतक, ४५।
२ तुलसी हितोपदेश, पृ० ८२।
३ सिपसागर पन्दनाधा।
४ छत्रसाल ग्रन्थावली, पृ० ८१।

कथनी और करनी के आधार पर राजा के तीन भेद किए है। उत्तम राजा की बात गोली के समान होती है। जिस प्रकार गोली बन्दूक से एक बार निकल कर फिर नही लौटती उसी प्रकार अच्छे राजा अपने वचन को नही लौटाते और उसका प्राण-पण से पालन करते हैं। मध्यम राजा के वचन बाण के समान होते हैं। बाण छूटने के बाद भी युक्ति से वापस किया जा सकता है। इसी प्रकार मध्यम राजा अपनी बात को पूरा करते हैं पर कभी-कभी पूरा न कर के युक्ति से उसे वापस भी ले लेते हैं। नीच या अधम राजा के वचन, स्वर और मात्रा के समान होते हैं। स्वर और मात्रा निश्चित नही रहते। इसी प्रकार ये राजा भी कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं।

गोली बान सुमन्त्र सुर, समुझि उलटि गति देखु।
उत्तम मध्यम नीच प्रभु वचन विचार बिसेखु ॥[1]

केशव ने राजा चार प्रकार के कहे हैं। एक तो वे हैं, जो केवल इस लोक की ही चिन्ता करते हैं और अपने को ही ईश्वर मानते हैं। दूसरे वे हैं जो केवल परलोक की चिन्ता करते हैं और साधना में लीन रहते हैं। तीसरे वे होते हैं जो लोक-परलोक दोनो की चिन्ता करते हैं। चौथे दोनो मे से किसी लोक की चिन्ता नही करते—

यहै लोक एकै सदा साधि जानैं।
बली वेनु ज्यों आपु ही ईश मानै।
करै साधना एक परलोक ही को।
हरिश्चन्द्र जैसे गए दे मही को।
दुहूँ लोक को एक साधै सयाने।
विदेही न ज्यो वेद बानी बखानै।
नठै लोक दोऊ हठी एक ऐसे।
त्रिशंकै हँसै ज्यो भलेऊ अनैसे।[2]

कहना न होगा कि इनमें सर्वोत्तम राजा वे ही हैं जो विदेह की भाँति लोक और परलोक दोनो का ध्यान रखते हैं।

राजा के गुण—प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारो और कर्त्तव्यो को देखते हुए विभिन्न सन्दर्भो मे उसके गुणों एवं अन्य आन्तरिक तथा बाह्य आवश्यकताओ की मीमांसा निर्धारित की जाती सकती है। इन्हीं की कसौटी पर उसके कार्यक्षेत्र में उसे

---

१ तुलसी सत०, ७ ७६।
२ रामचन्द्रिका, पृ० ३६१।

सफल या असफल कहा जा सकता है। नीतिकारो द्वारा शासन या राजा के सम्बन्ध मे व्यक्त विचार निम्नाकित शीर्षको मे देखे जा सकते है।

प्रजापालन—प्रजा का उचित ढङ्ग से पालन राजा का सबसे बडा गुण है। ऊपर कहा जा चुका है कि राजा को स्वार्थ त्यागकर और कष्ट सहकर भी प्रजा का ध्यान रखना चाहिए। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक मे लिखा है—

तस्मिश्च सम्यगनिश परिपोष्यमाणे
नानाफलै फलति कल्पलतेव भूमि[1]

अर्थात् हे राजा यदि तुम पृथ्वी रूपी धेनु को दुहना चाहते हो तो बछडे की तरह प्रजा का पालन करो। यदि तुम प्रजारूपी बछडे का अच्छी तरह पालन-पोषण करोगे तो कल्पलता की तरह यह पृथ्वी तुमको तरह-तरह के अनेक फल देगी।

तुलसी ने प्रजापालन के महत्व और उसकी आवश्यकताओ को ही लक्ष्य करके प्रजापालन न करने वाले राजा को नरक का अधिकारी कहा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।[2]

जान ने इस दृष्टि से अच्छे राजा की उपमा वृक्ष से दी है, जो स्वय धूप सह कर भी अपने नीचे रहने वालो अर्थात् प्रजा को धूप अर्थात् कष्टो से बचाता है—

परज्या की रक्षा करै सोई स्वामि अनूप।
तर सब को छहिया करै सहै आप सिर धूप ।।[3]

छत्रसाल ने राजा को पिता और प्रजा को पुत्र के समान कहा है। राजा को पिता की भाँति ही प्रजा के हिताहित का ध्यान रखना चाहिए—

बालक लौं पालहि प्रजा, प्रजापाल छतसाल।
ज्यो सिसुहित अनहित सुहित करत पिता प्रतिपाल ।।[4]

तुलसी ने अच्छे राजा को सूर्य, माली और अग्नि कहा है। सूर्य ससार से ही जल ग्रहण करता है पर इस सूक्ष्मता से कि ससार को पता नही चलता अत वह (ससार) किसी कष्ट का अनुभव नही करता। पर, फिर यथावसर और यथास्थान वही पानी देकर सूर्य ससार की रक्षा करता है। राजा मे भी यही बात होनी चाहिए। माली उद्यान के रक्षण के लिए आवश्यकतानुसार अवाछित पेड-पौधो को काट डालता

---

१ नीतिशतक, ४५।
२ तुलसी हितोपदेश, पृ० ८२।
३ सिपसागर पन्दनावा।
४ छत्रसाल ग्रन्थावली, पृ० ८१।

है और शेष को सींचता है। उसी प्रकार राजा को भी अच्छो की तो रक्षा करनी चाहिए पर साथ ही उन्हें सुखी और निरापद रखने के लिए दुष्टो को समाप्त या दण्डित करना चाहिये। इस प्रकार प्रजापालन मे अच्छो के पालन के अतिरिक्त दुष्टो का घालन या नाश करना भी आता है। अग्नि कहने मे भी यही भाव है।[1]

जान ने इस विषय का एक और पक्ष भी देखा है। उनका कहना है कि राजा को स्वय अपनी रक्षा के लिए भी आवश्यक है कि वह प्रजा की रक्षा करे क्योकि राजा यदि वृक्ष है तो प्रजा उसे जीवनी शक्ति प्रदान करने वाली जड है—

परजा जानहु मूल तुम्ह राजा वृक्ष विचार।
अपनी जरहि उखारिहैं परजा पोवनहार ॥[2]

इस प्रकार प्रजा की रक्षा उसके अपने अस्तित्व के लिए भी अपरिहार्य है।

अब लोग इस बात का भी अनुभव करने लगे हैं कि राजा के इस प्रजापालन मे प्रजा का स्वय बहुत बड़ा हाथ है। यदि प्रजा उचित सहयोग और यथावसर राजा का पथ-प्रदर्शन न करेगी तो राजा भी पथ-भ्रष्ट हो सकता है। राजा भी मनुष्य है। दुर्बलताओं की ग्रन्थि। उसे भी उचितानुचित का कभी कभी ध्यान नहीं रह जाता। हमारे पुराने नीति-काव्य मे इस विषय को नही उठाया गया है। वर्तमान काल के नीतिकार कवि भगवानदीन इसे नही भूल सके हैं। पुरानो ने कहा है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और ईश्वर की भाँति ही लोगो को उसके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए एव उसकी आज्ञाओ को मानना चाहिए, पर भगवानदीन कहते हैं—

सीखो आज्ञा मानना शासन की यह भूल।
वही सेव्य होकर रहे जो सेवक अनुकूल ॥[3]

केवल प्रथम पक्ति को ही सामने रखें तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। यहाँ दूसरी पक्ति पूरक है। व्यजना यह है कि जो राजा सभी बातों में प्रजा के अनुकूल है, अर्थात् उसका उचित सरक्षण करता है उसकी आज्ञा तो प्रजा के लिए शिरोधार्य होनी चाहिए, पर दूसरी ओर जो ऐसा नही है, उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा के लिए भूल है। ऐसी स्थिति मे उसे राजा का विरोध करना चाहिए और साथ ही उसे उचित की ओर ले जाने का प्रयास करना चाहिए। यही वह अवसर है जहाँ प्रजा राजा का पथ-प्रदर्शन करती है। इस प्रकार ऐसे अवसरो पर राजा का विरोध ही प्रजा का धर्म है। इसी बात को ध्यान मे रखकर भगवान दीन ने एक स्थल पर कहा है—

---

१ माली भानु कृशानु सम, नीति निपुण महिपाल। तुलसी सत०, पृ० २२७।
२ सिपसागर पन्दनावा।
३ नीति के दोहे।

प्रजा न झपकी लेय जब सो न सके सरकार।
प्रजा नीद मे मस्त जब सोवैं पाव पसार ।।[1]

आशय यह है कि प्रजा को इन बातो का ध्यान रखना चाहिए और तदनुरूप कार्य करना चाहिए। यदि वह अपने इस कर्तव्य का ध्यान रखती है तो राजा या शासन के पथ-भ्रष्ट होने की तनिक भी आशका नहीं रहती।

साम, दाम, दण्ड और भेद—दुष्टो और शत्रुओ को दबाने या पराजित करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की आवश्यकता पडती है। मानस मे अगद राम से कहते हैं:

साम दाम अरु दड विभेदा।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।[2]

'साम' का अर्थ है शत्रु या दुष्ट व्यक्ति को मीठी बातो से फुसला कर अपने पक्ष मे या अनुकूल कर लेना। 'दाम' का अर्थ है धन द्वारा (दूसरे शब्दो मे घूस द्वारा) वही कार्य करना। साम और दाम ये दोनो नीतियाँ 'तन्त्र' की अपेक्षा 'आवाय' मे काम आती हैं। भारतीय राजनीतिशास्त्र के अनुसार राजनीति के 'तन्त्र' और 'आवाय' दो भेद होते है। 'तन्त्र' का सम्बन्ध देश की आन्तरिक बातो और प्रबन्ध आदि से होता है तो 'आवाय' का पर राष्ट्र से सम्बन्ध है। इसके सधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीकरण तथा सश्रय ये छ भेद होते हैं। राजनीति का तीसरा अंग 'दण्ड' विशेषत तन्त्र की दृष्टि से राजा के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। मनु ने कहा है कि 'दण्ड' धर्म का पुत्र (अर्थात् यह धर्ममय है या इसी से धर्म की रक्षा होती है) और ब्रह्म की भाँति तेज वाला है। ईश्वर ने पहले ही सब प्राणियो की रक्षा के लिए इसे बना दिया—

तस्तार्थे सर्वभूताना गोप्तार धर्ममात्यजम्।
ब्रह्मतेजोमय दंडमसृजत्पूर्वमीश्वर ।।[3]

उन्होने आगे कहा है कि दण्ड के ही भय से चर-अचर समस्त प्राणी सुख भोगते है, और अपने धर्म से विचलित नही हुआ करते—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पते स्वधर्मन्न चलन्ति च।[4]

---

१ नीति के दोहे।
२ मानस, ६.५७.५।
३ मनु०, ७ १४।
४ वही, १५।

सचमुच विश्व मे ऐसे लोग कम है जो अपना कर्तव्य समझ कर बुरे कार्य नहीं करते। राजदण्ड ही उनको ऐसा करने से रोकता है। तुलसी ने—

माली भानु कृशानु सम नीति निपुण महिपाल।[1]

मे राजा को माली और कृशानु इसीलिए कहा है।

पर साथ ही राजा को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'सब धान बाइस पसेरी' की लोकोक्ति चरितार्थ न हो। जो जैसा अपराध करे उसे वैसा ही दण्ड दिया जाय। वृन्द कहते हैं—

जिहि जैसौ अपराध तिहि तैसो दड बखानि।
थाप ककरिया चोर को धन चोरहि जिय हानि॥[2]

मनु ने भी उसी भाव का एक श्लोक कहा है—

त देशकालौ शक्ति च विद्या चावेक्ष्य तत्वत ।
यथार्हत सम्प्रणयेन्न रेष्व न्याय वर्तिषु ॥[3]

अर्थात् देश, काल तथा दण्ड की शक्ति और किस अपराध मे क्या दण्ड देना चाहिए इत्यादि शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान, इनका अच्छी तरह विचार कर अपराधियो को यथोचित दण्ड दे।

कोई भी वस्तु अधिक प्रयोग मे आने पर अपना महत्व खो बैठती है। अत दण्ड का बहुत कम, जब अत्यन्त आवश्यक हो तभी प्रयोग करना चाहिए। इसके विपरीत करने से दड के प्रति जो लोगो के मन मे आतङ्क रहता है, समाप्त हो जाता है और ऐसी स्थिति मे शासन के पास शान्ति-स्थापन का या दुष्टो को डराने का कोई मार्ग नहीं रह जाता। अभी भारत मे अग्रेजी शासन के अन्तिम चरण मे यही बात हुई थी। जेल, बेत और अर्थदण्ड आदि इतने परिचित हो गए थे कि दण्ड रूप में उनका कोई महत्व ही नही रह गया था। भगवानदीन ने ठीक ही कहा है—

खोता दड महत्व दिया जा चुका जो जिसे।
शासन का यह तत्व, वह न दे जब तक बने॥[4]

पुराणो तथा स्मृतियो मे दण्ड के उत्तम साहस, मध्यम साहस, और प्रथम साहस ये तीन भेद किए गए हैं, पर इन शास्त्रीय बातो का हिन्दी नीति-काव्य मे उल्लेख नही है।

---

१ तुलसी सत०, पृ० २२७।
२ वृन्द सत०, ५३७।
३ मनु०, ७ १६।
४ नीति के दोहे।

भेद या विभेद राजनीति का चौथा अङ्ग है। इसमे शत्रु, दुष्टो या राजद्रोहियो के दल मे फूट पैदा कर राजा अपना काम साधता है। इसका भी सम्बन्ध तन्त्र की अपेक्षा आवाय से ही अधिक है।

न्याय—न्याय राजा के लिए बहुत ही आवश्यक गुण है। बिना इसके वह अपना राज्य ठीक से नहीं चला सकता। अन्यायी राजा की प्रजा नष्ट हो जाती है। बैताल ने कहा है—

राजा करै न न्याय प्रजा की होत खुवारी।[१]

इसीलिए उन्होंने एक स्थान पर यहाँ तक कहा है—

अरु वे नियाव राजा मरै तबै नीद भरि सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनो एतै मरे न रोइए॥[२]

जान ने भी राजा के तीन प्रधान गुणो मे न्यायी होने को प्रथम स्थान दिया है—

जानि लेहु कवि जान कहि यो राजत संपूर।
जामे ह्वै ये तीन गुन न्यायी दाता सूर॥[३]

नीति—नीतिज्ञ होना भी राजा का बहुत बडा गुण है। मानस मे तुलसी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

राज कि रहइ नीति बिनु जाने।[४]

यहाँ नीति का अर्थ है विभिन्न प्रकार के लोगो से व्यवहार तथा विभिन्न प्रकार की परिस्थितियो से व्युत्पन्न समस्याओ को शान्ति से सुलझाने के लिए उनके प्रति दृष्टिकोण। इस प्रकार इस नीति मे राजनीति तो आ ही जाती है, पर उसके अतिरिक्त व्यवहार या समाज नीति भी आ जाती है। राजा के लिए इन सबका ज्ञान आवश्यक है। महाराज छत्रसाल ने लिखा है

नीति बिन जाने भूप कूप बिना पानी सम,[५]

रीवा नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह ने भी कहा है—

बूझत लेखा नही कछुए नहि नीति कि रीति प्रजानि चलावे।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै वहि भूपति के घर दारिद आवे॥[६]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४००।

२ वही, पृ० ३६६।

३ सिपसागर पन्दनावा।

४ तुलसी-सूक्ति-सुधा, पृ० १६३।

५ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७६।

६ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।

तुलसी, गिरिधर कविराय तथा गिरिधरदास आदि और भी बहुत से नीतिकारो ने अपने अपने ढग से इस बात को कहा है ।

ज्ञान और गुण—राजा को ज्ञानी, गुणज्ञ और सुशिक्षित होना चाहिए। गिरिधरदास ने कहा कि वह राजा अधम है जो 'सद असद' का विवेक नहीं रखता—

उर सद असद बिवेक नहिं अधम अवनिपति तौन ।[1]

रामचरित उपाध्याय ने लिखा है कि राजा के ज्ञानी होने से सभी सुख मिलते हैं ।[2] यह उचित भी है । बिना ज्ञान के शासन, न्याय और प्रजा-पालन कुछ नही हो सकता ।

ज्ञान की भाँति ही राजा को गुणज्ञ भी होना चाहिए । एक सस्कृत का श्लोक है—

राज्ञि धर्मणि धर्मिष्ठा पापे पापा समे समा ।
प्रजास्तदनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा ।।

इसका आशय यह है कि राजा यदि दुर्गुणी हुआ तो प्रजा भी दुर्गुणी हो जायगी । तुलसी ने भी लिखा है—

त्रिविध एक विधि प्रभु अगुण प्रजहिं सँवारहिं राव ।[3]

अर्थात् राजा मे यदि एक अवगुण होता है तो प्रजा मे तीन हो जाते है। राजा यदि गुणी है तो प्रजा को भी सँवार सकता है या गुणी बना सकता है ।

बल तथा वीरता—विश्व मे अनादि काल से 'जाकी लाठी वाकी भैस' लोकोक्ति चरितार्थ होती आ रही है । सभ्यता के इस सुविकसित युग मे भी यह केवल भूत की चीज नही मानी जा सकती । यही कारण है कि राजा के लिए दुष्टो के दमन तथा देश को शत्रुओ से बचाने के लिए बल तथा वीरता अत्यन्त आवश्यक है । हाँ, आज अधिक अंशों मे इन दोनो का ही स्थान बुद्धि ने ले लिया है, पर हिन्दी का अधिकाश नीति-काव्य इस युग के पूर्व का है, अत राजा के लिए ये दोनो ही गुण आवश्यक माने गए है । श्री वियोगीहरि ने अपनी वीर सतसई मे वीर के शूरवीर, दयावीर, सत्यवीर, धर्मवीर, विरहवीर और दानवीर ये छ भेद किए हैं, पर इस प्रकार तो झूठवीर, उत्साहवीर, विद्यावीर, धूर्तवीर आदि-इत्यादि उसके अनेक भेद-विभेद किए जा सकते हैं । यथार्थत वीर के अन्तर्गत केवल "शूरवीर" ही आता है ।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४९३ ।

२ नृप ज्ञानी तिय प्रौढ़ रस काव्य, सिखायो अस्व ।
चारहुं ते जग चारिहूं पैयत सुख सर्वस्व । व्रज सत०, पृ० ३८ ।

३ तुलसी सत०, पृ० २४६ ।

कहा जाता है "वीर भोग्या वसुन्धरा"। इसी भाव को कई नीतिकारो ने व्यक्त किया है। वियोगी हरि कहते है—

या वसुधा को भाग भरि भोगत भुज मजबूत।
कहा भोगिहै भूमि ए कायर कूर कपूत ॥[१]

यो तो यह सामान्य चीज है, पर यथार्थतः राजा के लिए ही चरितार्थ होती है। दीनदयाल गिरि ने भी इसी भाव को अपने ढग से कहा है—

केहरि को अभिषेक कब कीन्हो विप्र समाज।
निज भुज बल के तेज ते विपिन भयो मृगराज ॥[२]

तुलसी, जान तथा और भी बहुत से नीतिकार कवियो ने बल और वीरता को राजा के लिए आवश्यक माना है। यदि राजा ऐसा नही है तो उसे राजा होने का अधिकार नही। यदि बना भी दिया जाय तो वह राज्य खो बैठेगा तथा बाहरी शत्रु उसे पराजित कर देंगे या फिर आन्तरिक षडयन्त्र का उसे शिकार होना पडेगा।

धर्म—धर्म भारतीय सस्कृति का प्राण है। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक प्राणी के लिए यहाँ धर्म आवश्यक कहा गया है। राजा तो इन सामाजिक प्राणियो का शिरोमणि है, अत उसे तो और भी अधिक धर्मशील होने की आवश्यकता है। स्मृतियो मे जहाँ राजा को ब्राह्मण और वेदो का रक्षक कहा गया है, वहाँ भी राजा के धर्म का रक्षक होने की ओर ही संकेत है। तुलसी ने कहा है—

कहौं साँच सब सुनि पतिआहू।
चाहिय धर्मशील नरनाहू ॥[3]

महाराज छत्रसाल ने भी लिखा है—

राज, धर्म न्याय बिन, बनिज उपाय बिन,
तुरंग सुतेज बिन दान बिन कर है।[४]

दान—"दान" को नीति के कवियो ने राजाओ के लिए एक अत्यावश्यक गुण माना है। जान कहते हैं—

जानि लेहु कवि जान कहि यो राजत सपूर।
जामे हैं ये तीन गुन न्याई दाता सूर ॥[५]

---

१ वीर सत०, पृ० ६१।
२ दृष्टान्त तरंगिणी, ८६।
३ मानस, २. १७६. १।
४ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७८।
५ सिषसागर पन्दनामा।

पर साथ ही दानी होने के साथ-साथ राजा को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि दान कुपात्र के हाथ मे न जाय। रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कहते हैं—

ठट्ठा मे प्रीति कुपात्र मे दान कबीनहुँ जान गुमान जनावैं।
भाखत है विश्वनाथ ध्रुवैं अस भूपति ना कबहूँ जस पावैं।[१]

प्राकृत का भी एक छन्द है—

दिन्न सुहपि दाण होइ कुपत्तम्मि असुह फलमेव।
सप्पस्स जहा दिन्न खीरपि विसत्तण उवेइ।[२]

अर्थात् अच्छी चीजें भी यदि कुपात्र को दान दी जायं तो बुरा फल देती हैं, जैसे साप को पिलाया गया दूध विष हो जाता है।

गर्वशून्यता—धन, बल, रूप, गुण, अधिकार, योग्यता तथा सम्मान आदि या इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रो मे अपने को औरो की अपेक्षा उच्च पाकर मन मे जो दूसरो के प्रति हीनता तथा अपने प्रति महानता का भाव उठता है, उसे गर्व की सज्ञा दी जाती है। गर्व यो तो किसी के लिए भी उचित नही है, पर राजा के लिए विशेष रूप से इसका निषेध है। इसका प्रधान कारण यह है कि उसके लिए इसकी सम्भावना औरों की अपेक्षा अधिक होती है।

तुलसी सब प्रकार से श्रेष्ठ राजा को यदि गर्वरहित हो, त्रिभुवन का दीप कहते हैं।

सधन सगुण सधरम सगण सजन सुसबल महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन ते त्रिभुवन के दीप।[3]

एक अन्य अज्ञात कवि का भी दोहा है—

नृप गरवी, अविनीत सुत लोभी गुरु तिय चंच।
रोगयुक्त काया सदा सूल जान ये पंच।[४]

मनु ने भी राजा के विनयी तथा शीलवान होने पर बहुत बल दिया है। इस दृष्टि से उनके दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनय विनीतात्मापि नित्यश।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्।[५]

---

१ कविता कौमुदी०, भाग १, पृ० ४७३।

२ प्राकृत सुभाषित, २४२।

३ तुलसी सत०, पृ० २५७।

४ नीति छन्द०।

५ मनु०, ७. ३९।

अर्थात् विनयी अथवा शीलवान राजा भी सदा उन ब्राह्मणो से विनय की शिक्षा ग्रहण करता रहे, क्योकि विनीतात्मा राजा का नाश कभी नही होता।

वहवोऽविनयान्नष्टा राजान सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥[1]

अर्थात् अनेक राजा अविनयी भी होने के कारण ऐश्वर्य समेत नष्ट हो गये और कितनो ने वनवासी होकर भी अपने विनय से राज्य तक पा लिया।

दया--दया भी राजा के लिए आवश्यक है। दयालु राजा ही प्रजा के दुःख से द्रवित हो उसे शीघ्र दूर कर सकता है। इसके विरुद्ध अदयालु राजा प्रजा के पीडक होते है। घाघ कहते है।

चाकर चोर राज वेपीर।
कहै घाघ का धारी धीर।[2]

महाराज छत्रसाल ने भी अपनी नीति-मजरी मे हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष तथा दुर्योधन आदि राजाओं का प्रमाण देते हुए कहा है—

मेरी कही मानियो रे, साची उर आनियो रे,
जानियो रे गजव गरीव को सताइवो।[3]

शेष—राजा के अन्य आवश्यक गुणो मे प्रधान रूप से मितव्ययता, नीच प्रकृति का न होना, अप्रमाद, आलस्यशून्यता, प्रत्युपकार न चाहना, अलोभ, निष्पक्षता, अव्यसन, स्थिरचित्तता तथा शिष्टता आदि का हिन्दी नीति काव्य मे उल्लेख है। यहाँ इस सम्वन्ध मे कुछ उद्धरण देखे जा सकते है—

माझी खिनकमिजाज वेअदवी सातू विसन।
लोभ घणो कम लाज पैला घर वाछे पिसण ॥[4]
मत पुरुषन ते उतारि कै होत नीच अधिकार।
यह खटकत रवि से असित तमको जगत प्रचार ॥[5]
गया राज जहँ राजा लोभी।
गया खेत जहँ जामी गोभी ॥[6]

---

१ मनु०, ७.४०।
२ घाघ, ३०।
३ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७५।
४ वांकीदास ग्रन्थ० १, पृ० ६२।
५ नीति छन्द०।
६ घाघ, १४।

पर साथ ही दानी होने के साथ-साथ राजा को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि दान कुपात्र के हाथ मे न जाय। रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह कहते है—

ठट्ठा मे प्रीति कुपात्र मे दान कबीनहुँ जान गुमान जनावै।
भाखत है विश्वनाथ ध्रुवै अस भूपति ना कबहूँ जस पावै।[1]

प्राकृत का भी एक छन्द है—

दिन्न सुहपि दाण होइ कुपत्तम्मि असुह फलमेत्र।
सप्पस्स जहा दिन्न खीरपि विसत्तण उवेइ।[2]

अर्थात् अच्छी चीजें भी यदि कुपात्र को दान दी जायँ तो बुरा फल देती है, जैसे साप को पिलाया गया दूध विष हो जाता है।

गर्वशून्यता—धन, वल, रूप, गुण, अधिकार, योग्यता तथा सम्मान आदि या इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रो मे अपने को औरो की अपेक्षा उच्च पाकर मन मे जो दूसरों के प्रति हीनता तथा अपने प्रति महानता का भाव उठता है, उसे गर्व की सज्ञा दी जाती है। गर्व यो तो किसी के लिए भी उचित नही है, पर राजा के लिए विशेष रूप से इसका निषेध है। इसका प्रधान कारण यह है कि उसके लिए इसकी सम्भावना औरो की अपेक्षा अधिक होती है।

तुलसी सब प्रकार से श्रेष्ठ राजा को यदि गर्वरहित हो, त्रिभुवन का दीप कहते है।

सधन सगुण सधरम सगण सजन सुसवल महीप।
तुलसी जे अभिमान बिन ते त्रिभुवन के दीप।[3]

एक अन्य अज्ञात कवि का भी दोहा है—

नृप गरबी, अविनीत सुत लोभी गुरु तिय चच।
रोगयुक्त काया सदा सूल जान ये पच।[4]

मनु ने भी राजा के विनयी तथा शीलवान होने पर बहुत बल दिया है। इस दृष्टि से उनके दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनय विनीतात्मापि नित्यश।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्।[5]

---

१ कविता कौमुदी०, भाग १, पृ० ४७३।
२ प्राकृत सुभाषित, २४२।
३ तुलसी सत०, पृ० २५७।
४ नीति छन्द०।
५ मनु०, ७. ३६।

अर्थात् विनयी अथवा शीलवान राजा भी सदा उन ब्राह्मणो से विनय की शिक्षा ग्रहण करता रहे, क्योकि विनीतात्मा राजा का नाश कभी नही होता।

वहवोऽविनयान्नष्टा राजान सपरिच्छदा.।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥[1]

अर्थात् अनेक राजा अविनयी भी होने के कारण ऐश्वर्य समेत नष्ट हो गये और कितनो ने वनवासी होकर भी अपने विनय से राज्य तक पा लिया।

दया--दया भी राजा के लिए आवश्यक है। दयालु राजा ही प्रजा के दुख से द्रवित हो उसे शीघ्र दूर कर सकता है। इसके विरुद्ध अदयालु राजा प्रजा के पीडक होते है। घाघ कहते है।

चाकर चोर राज वेपीर।
कहै घाघ का धारी वीर।[2]

महाराज छत्रसाल ने भी अपनी नीति-मजरी मे हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष तथा दुर्योधन आदि राजाओं का प्रमाण देते हुए कहा है—

मेरी कही मानियौ रे, साची उर आनियौ रे,
जानियौ रे गजव गरीव को सताइवो।[3]

शेष—राजा के अन्य आवश्यक गुणो मे प्रधान रूप से मितव्ययता, नीच प्रकृति का न होना, अप्रमाद, आलस्यशून्यता, प्रत्युपकार न चाहना, अलोभ, निष्पक्षता, अव्यसन, स्थिरचित्तता तथा शिष्टता आदि का हिन्दी नीति काव्य मे उल्लेख है। यहाँ इस सम्बन्ध मे कुछ उद्धरण देखे जा सकते हैं—

माझी खिनकमिजाज वेग्रदवी सातू विसन।
लोभ घणो कम लाज पैला घर वाछे पिसण ॥[4]
मत पुरुषन ते उतारि कै होत नीच अधिकार।
यह खटकत रवि से असित तमको जगत प्रचार ॥[5]
गया राज जहँ राजा लोभी।
गया खेत जहँ जामी गोभी ॥[6]

---

१ मनु०, ७ ४०।
२ घाघ, ३०।
३ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७५।
४ बांकीदास ग्रन्थ० १, पृ० ६२।
५ नीति छन्द०।
६ घाघ, १४।

चाह्यो धन धाम भूमि भूषन भलाई भूरि,
सुजस सहूर जुत रैयत कौं लालियौ।
तोडादार घोडादार बीरनि सों प्रीति करि,
साहस सों जीति जग खेत तें न चालियौ।
सालियो उदण्डनि को दण्डिन को दीजौ दण्ड,
करिकै घमण्ड घाव दीन पै न घालियो।
बिन्ती छत्रसाल करै होय जो नरेस देस,
रहै न कलेस लेस मेरो कह्यौ पालियो।[1]

राजा और शासन सम्बन्धी कुछ अन्य विषय—

राजा और शासन के सम्बन्ध मे अन्य जिन बातो को हिन्दी के नीतिकारो ने उठाया है, उनमे शत्रु, कर, व्यय, मन्त्री, दूत तथा सेवक आदि प्रधान हैं। यहाँ सक्षेप मे इन्हें भी देखा जा सकता है।

शत्रु—राजा से लिए शत्रु आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। आन्तरिक शत्रु राज्य के भीतर के होते हैं। इनमे चोर, दुष्ट तथा षडयन्त्र करने वाले आदि प्रधान हैं। पीछे प्रजापालन के अन्तर्गत इनको दण्डित करने पर विचार किया गया है। वाह्य शत्रु राजा के बाहर के प्रधानत अन्य देशो के राजा होते हैं। 'राजा का शत्रु' से प्राय इन्ही का बोध होता है।

राजा तथा अन्य लोगो के लिए भी नीतिकारो ने कहा है कि शत्रु छोटा भी हो तो उसे छोटा नही समझना चाहिए। तुलसी कहते हैं—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।[2]

इसे छोटा न समझने का अर्थ यह है कि इनमे निश्चित नही रहना चाहिए और अवसर मिलते ही इन्हे समाप्त कर देने का यत्न करना चाहिए।

कभी-कभी शत्रु छलवश दया की भीख माँगते हैं पर उन पर दया उचित नही है—

रिपु पर दया परम कदराई।[3]

शत्रुता का परिणाम साधारण नही होता। यदि शत्रु वहुत वडा रहा तो अपनी पराजय और दुर्गति होती है। इसी कारण नीतिकारो ने कहा है कि अपने से वहुत वडे से वैर कभी न करे। तुलसी ने लिखा है—

---

१ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० ७४।
२ तुलसी-सूक्ति-सुधा, पृ० ३६१।
३ वही, पृ० ३६२।

नाथ बैरु कीजिय ताही सो ।
बुधि बल सकिय जीति जाही सो ॥[1]

दूसरी ओर यदि शत्रु अपने से बहुत छोटा रहा तो अपना तो कुछ न होगा पर वह पिस जायगा। फल यह होगा लोग छोटे को दबाने के कारण बुरा कहेंगे। इसी कारण नीतिकारो ने अपने से बहुत छोटे मे भी शत्रुता करने का निषेध किया है। तुलसी कहते हैं कि बैर और प्रीति बराबर के व्यक्ति से ही उचित है। छोटे से बैर करना अप्रतिष्ठा का कारण है।

प्रीति विरोध समान सन करिय नीति असि आहि ।
जो मृगपति वध मेड्ढुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि ॥[2]

इसी प्रकार कुछ शत्रु ऐसे मिलते है जिनसे हारने मे हंसी और जीतने मे दुख होता है। ऐसो से शत्रुता का भी नीतिकारो ने निषेध किया है। तुलसी कहते हैं—

जा रिपु सो हारेहु हँसी, जिते पाप परितापु ।
तासो रारि निवारिए समय सँभारिय आपु ॥[3]

कर—राजा को राज्य की व्यवस्था एवं प्रजा के सुख आदि के लिए तरह-तरह से धन व्यय करना पडता है। यह धन वह प्रजा से ही करके रूप मे लेता है। कर दो प्रकार से लिया जा सकता है। एक तो प्रत्यक्ष रूप मे जैसे आजकल खेत की माल गुजारी। इस कर को देने वाला स्पष्टतः देखता है कि वह कर दे रहा है। दूसरा कर वह है जो प्रत्यक्षत न लिया जाय। उदाहरणार्थ कपडा मिल से बन कर आता है। मिल मे निकलते समय ही यदि उस पर कर ले लिया जाय तो ग्राहक को खरीदते समय उसका पता नहीं चलेगा। यह दूसरे प्रकार का कर ही हिन्दी नीति-काव्य मे अच्छा कहा गया है। प्रत्यक्ष न होने के कारण इस प्रकार कर देना, देने वाले को खलता नही। तुलसी ने बडे सुन्दर ढङ्ग से यह बात कही है —

बरखत हरखत लोग सब करखत लखत न कोय ।
तुलसी भूपति भानु सम प्रजा भाग बस होय ॥[4]

कवि का कहना है कि सूर्य अपनी किरणो से इतने सूक्ष्म ढङ्ग से संसार से पानी लेता है कि किसी को पता तक नही चलता कि वह कुछ ले रहा है। पर, फिर

१ तुलसी सू०, पृ० ३६२ ।
२ वही, पृ० ३६३ ।
३ वही, पृ० ३६३ ।
४ तुलसी सत०, पृ० २२७ ।

आवश्यकता पडने पर उसी पानी को देकर विश्व को वह तृप्त करता है। इसी प्रकार राजा को भी अप्रत्यक्ष रूप मे कर लेना चाहिए।

कर प्राय रुपए के रूप मे लिया जाता है। तुलसीदास कहते है कि इससे कर देने वाले को कष्ट होता है। जो वस्तु जिसके पास हो उसमे वही कर रूप मे लेनी चाहिए—

सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन सम जानि।
सुप्रभु प्रजाहित लेहि कर सामादिक अनुमानि।।[1]

आजकल यदि एक पाव नमक लेने एक भिखारी, एक मजदूर और कोई एक करोडपति जाय तो सभी को उस पर बराबर कर देना पडेगा। तुलसी इसे अन्याय समझते हैं। उनका कहना है कि जो व्यक्ति जिस हैसियत का हो उससे उसी के अनुसार कर लेना चाहिए।

पाके पकये विटप दल उत्तम मध्यम नीच।
कर नर लहैं नरैस त्यों करि विचारि मन बीच।।[2]

इससे एक भाव यह भी निकलता है कि एक ही रोजगार मे यदि तीन व्यक्तियो को तीन प्रकार का अधिक, कम और बहुत कम लाभ हो तो उसी अनुपात से उनसे कर भी लेना चाहिए। कहना न होगा कि कर के सम्बन्ध में यह बहुत ही उचित बात हिन्दी नीति-काव्य मे कही गई है।

व्यय—कर जितनी उचितता और सतर्कता से वसूल होना चाहिए, उसके व्यय में भी उतनी ही ईमानदारी और सतर्कता बरतनी चाहिए।

राजा की व्यय-नीति के विषय मे भी नीति-काव्य मे कहा गया है। व्यय का सबसे बडा गुर तो यह है कि आय के हिसाब से ही खर्च होना चाहिए। वृन्द ने कहा है—

तेतो पाव पसारिये, जेती लाबी सौर।[3]

रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ सिह राजा होने के साथ कवि, विशेषत नीति के कवि भी थे। उनकी अपनी अनुभूति होने के कारण इस क्षेत्र मे उनकी बातों का विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। उनका एक छन्द है—

जो बिन कामहि चाकर राखत, ऐन अनेक वृथा बनवावै।
आमद ते अधिको करै खर्च रिनै करि ब्यौहरे ब्याज बढावै।
...
भाखत है विश्वनाथ ध्रुवै वहि भूपति के घर दारिद आवै।[4]

---

१ तुलसी दोहा०, ५०९।
२ वही, पृ० ५१०।
३ वृन्द सत०, १९।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।

यो तो राजाओ के यहाँ अपव्यय के अनेक मार्ग होते है। पर जो लोग राज दरबारो के सम्पर्क मे रह चुके है, भली-भाँति जानते है कि उनके अपव्ययो मे बहुत से व्यर्थ के नौकरो और व्यर्थ के महलो का प्रधान स्थान है। कवि ने यहाँ इनकी ओर उचित ही सकेत किया है। विश्वनाथ सिंह ने अपने एक अन्य छन्द मे भी इस विषय मे बडी व्यावहारिक बात कही है। छन्द इस प्रकार है—

चाकर दै धन बाँचे जोई अठयो तिहिं भागहि धर्म लगावै।
साहु लिये धरै सातयो भाग छठे सुता व्याह हिते रखवावै।
पाचए वित्त वढै धरि चौथ्यहि तीन ते खर्च करै छ बढावै।
भाखत है विसुनाथ ध्रुवै तेहि भूपति भौन न दारिद आवै।[1]

राजा के लिए यह बजट कहाँ तक उपयुक्त है, इस पर यहाँ विचार नही किया जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि कवि स्वय एक सफल राजा था अत यह निश्चित है कि ये बातें उसने यो ही नही कह दी होगी। यो सम्भवत यह अनुपात सब के लिए और सब कालो के लिए उचित नही हो सकता।

मन्त्री—मन्त्री राजा का दाहिना हाथ है। उस पर ही राज्य का बहुत अशो मे पूरा भार रहता है। इसीलिए बहुत सोच-समझ कर मन्त्री चुनना चाहिए। मनु ने कहा है कि मन्त्री को शास्त्रज्ञ, शूरवीर, विद्वान, और कुलीन होना चाहिए।[2] तुलसी का कहना है कि यदि योग्य मन्त्री मिल जाय तो राजा सारा भार उसे सौप कर स्वयं निश्चिन्त हो सकता है—

रैयत राज-समाज घर तन धन धरम सुबाहु।
सान्त सुसचिवन सौंपि सुख बिलसहि नित नरनाहु ॥[3]

इसके विरुद्ध बुरे मन्त्री से राज्य का नाश हो जाता है। तुलसी कहते है—

राग ते जती कुमत्र ते राजा
.. ..
. .. ..
नासहि वेगि नीति असि सुनी ॥[4]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७३।
२ मनु०, ७ ५४।
३ तुलसी दोहा०, ५२१।
४ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३९१।

विश्वनाथ सिंह ने भी इसी बात को कई ढगो मे कहा है। एक स्थान पर वे कहते है—

मन्त्रिय आदि सुलच्छन हीन औ आलसी होय सलाह बतावै।

भाखत हैं विसुनाथ ध्रुवै वह भूपति ना कबहूं कल पावै ॥[1]

जान ने तो यहाँ तक कहा है कि मूर्ख मन्त्री से राजा भी मूर्ख हो जाता है—

राजा की बुधि जात है किए निबुधि परधान।
जैसे रचक बादुरी ढाँपति है दुति भान ॥[2]

घाघ नीच प्रकृति के मन्त्री को राज्य के विनाश का कारण बताते हैं—

ओछो मन्त्री राजै नासै ताल बिनासै काई।
सान साहिबी फूट बिनासै घग्घा पैर बिवाई ॥[3]

इस प्रकार मन्त्री को भी राजा की भाँति ही सर्वगुणसम्पन्न होना चाहिए।

केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' मे चार प्रकार के मन्त्री कहे हैं। एक तो राज्य के कार्य का ही प्रधान रूप से ध्यान रखता है और उसके लिए अपने स्वार्थो की भी चिन्ता नहीं करता। एक का ध्यान प्रधानत अपने स्वार्थो पर ही होता है, अतएव वह अपने कार्य के आगे राज्य के कार्य की चिन्ता नहीं करता। एक अपना और राज्य दोनो का ही बराबर ध्यान रख दोनो का भला करता है और अन्तिम और निकृष्ट प्रकार का मन्त्री वह है जो अपना और अपने राज्य दोनो ही का बुरा करता है।

एक राज के काज हतैं, निज कारज काजे।
जैसे सुरथ निकारि सबै मन्त्री सुख साजे।
एक राज के काज आपने काज बिगारत।
जैसे लोचन हानि मही कवि बलिहि निवारत।
इक प्रभु समेत अपनो भलो करत दासरथि दूत ज्यो।
इक अपनो अरु प्रभु को बुरो करत रावरो पूत ज्यो ॥[4]

कहना न होगा कि राज्य की दृष्टि से वही मन्त्री श्रेष्ठ है जो राज्य के कार्यो को ही प्रधानता देता है और उनके आगे अपने स्वार्थो तक की चिन्ता नही करता।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।
२ सिपसागर पत्वनावा।
३ घाघ, ४४।
४ रामचन्द्रिका, पृ० ३६२।

मन्त्री की भाँति ही मन्त्री की मन्त्रणा भी चार प्रकार की होती है। केशवदास कहते है—

मन्त्र जु चारि प्रकार के मन्त्रिन के जे प्रमान।
विष से, दाडिम वीज से, गुड से नीव समान।[1]

आशय यह है कि एक मन्त्रणा तो विष (खाने में वुरा और प्रभाव भी वुरा) के समान अर्थात् श्रवण और परिणाम दोनो मे ही वुरी होती है। एक अनार के दाने (खाने और प्रभाव दोनो मे अच्छा) के समान दोनो मे अच्छी, एक गुड, (खाने में अच्छा पर प्रभाव मे गर्म अर्थात् वुरा) के समान सुनने मे अच्छी पर परिणाम मे वुरी और एक नीव (खाने मे वुरी पर प्रभाव मे अच्छी) के समान अर्थात् सुनने मे वुरी पर अच्छे परिणाम देनेवाली होती है। इनमे अनार के दाने सी मन्त्रणा सवसे अच्छी है तो विप सी सवसे वुरी।

मन्त्री अच्छा वुरा चाहे जैसा भी मिले, राजा का कर्तव्य है कि उसे पूर्ण स्वतन्त्र न छोडे। छोडने से राज्य के राजा के हाथ मे निकल जाने का भय रहता है। विश्वनाथ सिह कहते हैं—

.... मन्त्री स्वतन्त्र वनावै।
... .कुछ काल मे भूप सुराज गँवावै।[2]

पर साथ ही उसे दवा कर रखने का यह भी अर्थ नही कि वह राजा से इतना भयभीत रहे कि राजा की रुचि का ध्यान रख उचित मन्त्रणा दे ही नही। ऐसा करने मे भी राज्य का नाश हो जाता है। तुलसी ने लिखा है—

सचिव वैद गुरु तीन जो, प्रिय वोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ वेगिही नास।[3]

दूत—दूत के विषय मे हिन्दी नीति-काव्य मे प्रधान रूप से दो वातो के उल्लेख मिलते है। एक तो यह कि वहुत ही चतुर व्यक्ति को अपना दूत वनाना चाहिए।

अचतुर दूत है काल सम,[4]

और दूसरे, यदि शत्रु का भी दूत आवे तो उसे मारना नही चाहिए। तुलसी ने लिखा है—

नीति विरोध न मारिय दूता।[5]

---

१ रामचन्द्रिका, पृ० ३६२।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४७२।
३ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३६२।
४ नीति छन्द०।
५ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३६२।

राजा के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें—राजा के सम्बन्ध में हिन्दी नीति-काव्य मे कुछ विचित्र बातें भी कही गई हैं। तुलसी कहते हैं—

उरग तुरग नारी नृपति नर नीचो हथियार।
तुलसी परखत रहब नित इनहिं न पलटत बार ॥[1]

आशय यह है कि राजा को एक बात या सिद्धान्त छोड दूसरे पर जाते देर नही लगती। इसी स्वर मे भर्तृहरि ने भी राजा की राजनीति के लिए कहा है कि वह वेश्या की भाँति किसी समय सत्यवादिनी, किसी समय असत्यवादिनी, किसी समय कठोर और किसी समय प्रिय वचन बोलने वाली, कभी दयालु और कभी हिंस्र तथा कभी धन लुटाने वाली तो कभी धन सचय करने वाली हुआ करती है।

सत्यानृता न परुषा प्रियवादिनी च,
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुर नित्य धनागमाच
वारागनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥[2]

राजा किसी के वश में नही होते। तुलसी कहते हैं—

शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।
भूप सुसोभित बस नहिं लेखिय।
राखिय नारि जदपि उर माही।
जुवति शास्त्र नृपती बश नाही ॥[3]

राजा किसी के सच्चे मित्र भी नही होते। इसीलिए हिन्दी नीति-काव्य मे उनसे मैत्री करने का विरोध है—

कीजै नही नरनाह से यारी ॥[4]

इस प्रकार राजा बहुत दृष्टियो मे नारी की भाँति ही चचल तथा अविश्वसनीय कहा गया है।

(घ) नारी—

नारी पुरुष के लिए सर्वदा से कुतूहल और आकर्षण की वस्तु रही है, इसी कारण वह उसके सम्बन्ध में पर्याप्त सोचता-समझता और अपने विचार प्रकट करता आया है। विश्व के किसी भी साहित्य को ले लिया जाय नारी के विषय मे अन्य

---

१ तुलसी सत०, पृ० २३१।
२ भर्तृहरि शतक, पृ० ४६।
३ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३६१।
४ नीति छन्द०।

आवश्यक विपयो से कम नही लिखा गया है। पर, कुछ अपवादो को छोडकर जो कुछ भी लिखा गया है, प्राय वह पूर्णत नारी-विरोधी है।

भारतीय समाज और साहित्य के इतिहास मे यदि नारी के स्थान पर दृष्टिपात करे तो वैदिक युग मे उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण दिखलाई पडता है। इसके प्रधान रूप से दो कारण हैं। एक तो उस युग मे युद्धाधिक्य के कारण वलवान लडको की अत्यन्त आवश्यकता थी। आर्यो को आर्येतर जातियो से प्राय: लोहा लेना पडता था। अत वीर पुत्रो को उत्पन्न करने वाली वीरप्रसूता जननी के रूप में नारी का अपना एकान्त महत्व था। इसके अतिरिक्त आर्यो के दैनिक जीवन मे भी नारी का अपना एक क्षेत्र था। वह विद्या, वुद्धि मे भी पुरुपो से वहुत पीछे नही थी। भगवत शरण उपाध्याय की पुस्तक 'वीमेन इन ऋग्वेद' तथा अल्टेकर की पुस्तक 'पोजीशन आव् वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन' मे नारी के सामाजिक, आर्थिक तथा ज्ञान के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान की एक अच्छी झलक मिलती है। वैदिक युग के वाद भारतीय जीवन मे ज्यो-ज्यो तथाकथित धार्मिकता, अध्यात्मवाद एव कृत्रिमता वढ़ती गई नारी का विराट और भव्य रूप सिमटता गया। वौद्ध और जैनो की निवृत्तिमूलक परम्परा ने नारी-भावना के पतन मे और भी कार्य किया। अन्त मे पूरे मध्य युग मे नारी प्राय रूप और योनि मात्र ही समझी जाने लगी। नारी का रमणी रूप उभर आया। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा आधुनिक भापाओ का वर्तमान युग[1] से पूर्व का साहित्य इसका साक्षी है। यहाँ स्त्रियो को छल, धूर्तता, माया, वासना तथा अविश्वास आदि अवगुणो का एक प्रतीक मात्र माना गया है। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

स्वभाव एप नारीणा नराणामिह दूपणम्।[2]—मनु

(पुरुपो को भ्रष्ट करना स्त्रियो का स्वभाव है।)

---

१ वर्तमान युग में भी कुछ ही कवि ऐसे हैं, जिन्होने नारी का उचित मूल्य आँका है। डा० शैलकुमारी ने अपने थीसिस 'आधुनिक काव्य में नारी भावना' में एक प्रकार की भावना को 'क्षयी रोमांसवादी भावना' ठीक ही कहा है। इस प्रकार की भावना वाले आधुनिक कवि भी मध्ययुगीन भावनाओ का परित्याग नहीं कर पाए हैं। अचल लिखते हैं—

किन्तु नारी सिर्फ नारी हो तुम्हे मैं जानता हूँ।
तुम प्रणय की हो खेलाड़िन मैं तुम्हें पहचानता हूँ।
तुम वही हो गा जगाती जो हृदय की कोपलों को।
जानता हूँ मैं तुम्हारे इन नशीले चोचलों को।

२ मनु० २।२१३.

आहारो द्विगुण स्त्रीणां लज्जा चापि चतुर्गुणा ।
साहस षड्गुण चैव कामश्चाष्टगुण स्मृत ॥[१]— (चाणक्य)

(पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो का आहार दुगुना, लज्जा चौगुनी, साहस (बुरे काम करने की हिम्मत) छ गुना तथा वासना अठगुनी होती है। स्मृतियो मे ऐसा कहा गया है।)

अन्तो-विस-भरियाओ मणहर रूवाओ वज्झ वित्तीए।
गु जा फल सरिसाओ होंति सभावेण महिलाओ ॥[२] —स्फुट

(स्त्रियाँ स्वभाव से ही गुंजाफल के समान ऊपर से देखने मे मनोहर और भीतर से विष से भरी होती है।)

त्रिया न साति वैद न रोगी रसायणी अर जाचि षाय ।[3] —(गोरखनाथ)

(स्त्री के साथ रहने से शान्ति नही रह सकती, वैद्य रोगी नही रह सकता तथा रसायनी (रसायन या कीमियागीरी द्वारा सोना बनाने वाला) को मांग कर खाने की आवश्यकता नही ।)

नारी की झाई परत अधा होत भुजग।
कबीर तिनकी कौन गति नित नारी के सग ॥[४] —(कबीर)

नारी नागिन एक स्वभाइ ।
नागिन के काटे विष होइ । नारी चितवन नर रहे मोहि ।
नारी सग प्रीति जो करै । नारी ताहि तुरत परिहरै ।[५] —(सूर)

काम क्रोध लोभादि मद प्रवल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥[६]

तथा

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुप मनोहर निरखत नारी ।
होइ विकल सक मनहि न रोकी । जिमि रविमनि द्रव रविहि विलोकी ॥[७]–(तुलसी)

या भव पारावार कौं उलघि पार को जाइ ।
तिय छवि छाया-ग्राहिनी ग्रहै बीच ही आइ ॥[८] —(विहारी)

---

१ चाणक्य, १.१७ ।
२ प्राकृत सु०, १०२ ।
३ गोरख०, पृ० ६६ ।
४ प्राचीन भारतीय सस्कृति मे नारी का स्थान, पृ० ७ ।
५ वही, पृ० ७ ।
६ मानस० ३.४३ ।
७ मानस०, ३. १७. ३ ।
८ विहारी सत०, ४३३ ।

इस प्रकार भारतीय समाज मे बहुत पहले से नारी का मानवी रूप प्रायः समाप्त हो चुका था और वह दुर्गुणो की मूर्ति मात्र मानी जाने लगी थी। हिन्दी-साहित्य मे भी नारी का सामान्यत. यही रूप है। यद्यपि रामचरितमानस की सीता, अनुसूया, प्रियप्रवास की राधा तथा कामायनी की श्रद्धा आदि के रूप मे नारी का प्रेम, उत्सर्ग एवं अन्य मानवोचित गुणो तथा उच्चतम आदर्शों के प्रतीक रूप मे चित्र है तथा स्फुट काव्यो मे भी नारी की गरिमा के अनुकूल स्थल यत्र-तत्र मिल जाते हैं—

जमला ऐसी प्रीति कर जैसी हिंदू जोय।
पूत पराए कारने जल बल कोयला होय ॥[1] —(जमाल)
सम्मन ऐसी प्रीति कर ज्यो हिंदू की जोय।
जीतां जी तो सग रहे मरे पैं सत्ती होय ॥[2] —(सम्मन)
नारी निंदा मत करो नारि स्वर्ग की खान।
नारी ही ते होत है ध्रुव प्रहलाद समान ॥[3]
क्या कर नही सकती भला यदि शिक्षिता हो नारियाँ।
रणरग राज्य सुधर्म रक्षा कर चुकी सुकुमारियाँ ॥[4]—(मैथिलीशरण गुप्त)
....
नारी है सद्रत्न ध्यान से देखिए।
वीरावा है उसे शक्तिमय लेखिए ॥[5] —(रामचरित उपाध्याय)
योनि नही है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित ॥[6] —(पन्त)
पियूष मोहिनी के घट से सहसा थोडा सा छलक पड़ा।
वह मर्त्य लोक मे गिरा, स्वर्ग रह गया देखता खड़ा खडा ॥
हो गया सुधा का विधि गति से नारी-स्वरूप मे परिवर्तन।[7] (मोहनलाल महतो)

पर एक तो ऐसे स्थल बहुत कम है और दूसरे यदि है भी तो अधिकतर

---

१ जमाल दोहा०, पृ० ६।

२ वही, पृ० ६।

३ यह किसी अज्ञात कवि की रचना है। इसके उत्तर में भी किसी ने कहा है—

नारी निंदा नित करो नारि नरक की खान।
नारी ही ते होत हैं रावण कस समान।

४ भारत भारती, वर्तमान खण्ड।

५ सरस्वती, भाग १८, संख्या ६।

६ ग्राम्या, नारी।

७ नारी, विश्वामित्र, नवम्बर १९४३।

आधुनिक कविताओं में। शेष सारा साहित्य नारी विरोधी भावनाओं से ही ओत-प्रोत है। नीति-काव्य की भी यही दशा है।

नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण का कारण—नारी प्रकृति की विभूति है, वह विश्व की शोभा है तथा पुरुष की सुख-दुःख की सगिनी है, फिर भी पुरुष का सामान्य दृष्टिकोण उसके प्रति क्यो इतना विकृत है, यह विषय विचारणीय है।

नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण के मूल मे दो बातें दिखाई पडती हैं। एक तो है नारी का स्वभाव और दूसरी पुरुष की उसके प्रति दृष्टि। जहाँ तक स्वभाव का प्रश्न है नारी के स्वभाव मे कोमलता, उत्सर्गशीलता तथा स्नेहसिक्तता आदि गुण हैं, पर साथ ही उसमे सबसे बडा अवगुण है आवश्यक सन्तुलन की कमी। वह स्वभावत हृदय प्रधान है अत भावप्रवण है। विवेक और धैर्य के साथ जीवन की समस्याओ एव सघर्षो का वह सामना नही कर सकती। तनिक सी बात मे पिघलना और फिर तनिक सी बात मे कठोर हो जाना उसके स्वभाव की सबसे बडी विशेषता है। वह प्राय भावातिरेक मे बहती रहती है। इस मानसिक असन्तुलन के कारण ही किसी भी समस्या मे उसकी प्रतिक्रिया के विषय मे कोई निश्चय नही, और यही कारण है कि उसे अविश्वसनीय तथा दुर्बोध आदि कहा गया है।

पुरुष की नारी के प्रति दृष्टि के दो पक्ष हैं। उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नारी के आकर्षण से प्रभावित है और उस आकर्षण के प्रति पुरुष की दुर्बलता है। इस अपनी दुर्बलता या हीनग्रन्थि को वह नारी पर आरोपित कर सन्तोष की साँस लेना चाहता है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से नारी न केवल अनभीष्ट है अपितु बाधक भी है, सन्तो ने इसी कारण नारी की विविध रूपो मे भर्त्सना की है। इन सारी बातो ने मिलकर नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण का निर्माण किया है जो साहित्य मे प्रतिफलित हुआ है।

नारी के विषय मे नीतिकारों की सामान्य भावना—हिन्दी के अन्य कवियो की भाँति नीति के कवियो की भावना भी प्राय उपर्युक्त कारणो से नारी के प्रतिकूल ही रही है। यदि इसके कुछ अपवाद हैं तो आधुनिक कवि। नारी के विषय मे नीतिकारो की सामान्य भावना के सिंहावलोकन के लिए कवियो को तीन श्रेणियो मे रखा जा सकता है। पहली श्रेणी मे वे कवि आते हैं, जिन्होने नारी की आलोचना सामाजिक एव व्यावहारिक दृष्टिकोण से की है। इन लोगो ने भारतीय साहित्य मे नारी पर किए गए परम्परागत आरोपो को ही अपने छन्दो मे बाँधा है। इस श्रेणी मे कवियो द्वारा गिनाए गए नारी के अवगुणो मे प्रधान चचलता[1],

---

१ उरग तुरग नारी नृपति नीच जाति हथियार।
रहिमन इन्हें सभारिए पलटत लगे न बार।—रहीम (रहीम दो०,१५)

अविश्वसनीयता,[1] बुद्धिहीनता,[2] मायाविनी होना, निर्दयता, अपवित्रता,[3] रहस्य की बा को न छिपा सकने वाली होना,[4] प्राय. नीचो से प्रेम करना[5] ऐसे चरित्र तथा मा का होना जिसका जानना असम्भव है,[6] एव अपने हृयद को छिपाने वाली[7] होना आ हैं। घाघ[8] इन्ही अवगुणो के कारण स्त्री से कोई भी राय न लेने के पक्ष मे है।

---

१ काहू कियो न कीजिये तिय-जिय को विस्वास।
गौरि धरी अर्द्धंग हर, हरि घर-घर में वास। —वृन्द (वृन्द सत०, १६६)

२ ओछी मति युवतीन की कहैं विवेक भुलाय। —वृन्द (वृन्द सत०, ६७५)

३ नारि सुभाऊ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया।
—तुलसी (मानस ६. १६, १-२)

४ नारिन सौं लरिकान सौं भेद कहौ जिन कोइ।
वे दुराइ जानत नहीं निहचै परगट होइ। —जान (पन्दनावा)

५ नेह करति तिय नीच सो, धन किरपिन घर माँहि।
बरसे मेह पहाड़ पै कै ऊसर बरसाँहि। —वृन्द (वृन्द सत० ५१७)

६ सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिम्बु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई।
—तुलसी (मानस २. ४७. ४)

विधि-गति, तिय-मति, सूम-वित, नृप अरु कुजन विचार।
जो जन जानै ताहि की, महिमा गही अपार॥
—रामचरित उपाध्याय (व्रज सत०, १३७)

सस्कृत मे भी कहा गया है—

स्त्री चरित्र पुरुषस्य भाग्य देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।

प्राकृत का भी एक छन्द है, जिसमे कहा गया है, कि ग्रह, देवता, तारा, चराचर और विश्व की सारी बातों के विषय में जाना जा सकता है पर स्त्री-चरित्र के विषय में नही—

गह चरियं देव चरिय तारा चरिय चराचरे चरियं।
जाणति सयल चरिय महिला चरियं न याणति।

७ सती कीन्ह चह तँहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाउ प्रभाऊ।
—तुलसी (मानस १. ५३. ३)

८ जेहि घर साला सारथी तिरिया की हो सीख।
सावन में बिन हल सबे, तीनो माँगें भीख।
बगड़ बिराने जो रहे, मानै त्रिया की सीख।
तीनो योंही जायगें पाही बोवे ईख। —घाघ

दूसरी श्रेणी मे वे कवि हैं, जिनका प्रधान ध्यान समाज एव व्यवहार पर न होकर धर्म एव आध्यात्मिक उन्नति सम्बन्धी साधना पर था, अत इन्होने इसी दृष्टिकोण से नारी का तिरस्कार किया है। इस श्रेणी मे प्रधान रूप से सन्त कवि आते हैं।

धर्म की दृष्टि से नारी को देखने वालो का ध्यान सर्वाधिक उसके सौन्दर्य की ओर गया है। नारी का सबसे बडा आकर्षण है उसका सौन्दर्य। सन्तो की विचार-सारिणि कुछ इस प्रकार है कि सौन्दर्य के कारण ही व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित होता है, जिस कारण उसका पतन होता है। अत नारी का सौन्दर्य सबसे अधिक भयावह है। इसीलिए सुन्दरदास ने नारी सौन्दर्य का बडा विकर्षक और भयावह रूप चित्रित किया है—

कामिनी कौ देह मानो कहिए सघन बन,
उहाँ कोउ जाइ सु तो भूलि कै परतु है।
कुजर है गति, कटि केहरि को भय जामे,
बेनी काली नागनीऊ फन कौं धरतु है।
कुच है पहार जहाँ कामचोर रहै तहाँ,
साधिकै कटाक्ष बान प्रान को हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
राक्षस बदन षाऊ पाऊ ही करतु है।[1]

बिहारी[2] ने भी इस ससार रूपी समुद्र को पार करने अर्थात् मुक्ति पाने मे नारी के सौन्दर्य को ही सबसे बडा बाधक माना है। दादू उसके सौन्दर्य की ओर ही लक्ष्य करके उसे दीपक की सुन्दर शिखा कहते है, जिस पर पतग की भाँति ससार जल कर नष्ट हो जाता है।[3]

धर्म पर दृष्टि रखने वालो ने मुक्ति मे बाधक होने के कारण नारी को माया कहा है। तुलसी कहते हैं—

---

१ सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ४३७।

२ या भव पारावर को, उलघि पार को जाय।
तिय-छवि छाया ग्राहिनी ग्रहै बीच ही आय॥
—बिहारी (बिहारी सत०, ६८४)

३ काल कनक अरु कामिनी परिहरि इनका संग।
दादू सब जग जलि मुवा ज्यों दीपक जोति पतग।
—दादू (दादू बानी, पृ० १२३)

काम क्रोध लोभादि मद प्रवल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ॥[1]

तुलसी ने तो "रूपी" कहा है पर दादू तो उसे साक्षात् माया मानते हैं—

माया सांपणि सब डसै कनक कामिणी होइ।
ब्रह्मा विस्नु महेश सौ, दादू बचे न कोइ ॥[2]

कबीर भी कहते हैं—

माया की झल जग जल्या, कनक कामिणी लागि।
कहु धौं किहि विधि राखिए रुई पलेटी आगि ॥[3]

इसके अतिरिक्त इस श्रेणी के कवियो के अनुसार नारी काल का अस्त्र,[4] भक्ति, मुक्ति और ज्ञान को नष्ट करने वाली,[5] अमल की घूँटी[6] बुद्धि और विवेक हरने वाली,[7] शत्रु से भी भयावह[8] तथा देखने मे ही आग की तरह जलाने वाली है।[9]

---

१ तुलसी दोहा०, २६६।

२ दादू बानी, पृ० १३१।

३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३५।

४ काल कहता है—

ऊभा मारूँ, बैठा मारूँ, मारूँ जागत सूता।
तीनि लोक भग जाल पसारया कहाँ जायगो पूता ॥

—गोरख, (गोरख बानी, पृ० ९९)

५ नारि नसावै तीनि सुख जा नर पासैं होय।
भगति मुकति निज ग्यान में पैसि न सकई कोय ॥

—कबीर, (कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४०)

६ नारी घोटी अमल की अमली सब ससार।
कोई सूफी ना मिला जो सञ्ज उतारै पार ॥

—मलूकदास, (मलूकबानी, पृ० ३६)

७ नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबहीं हरै। —कबीर (कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३९)

८ व्यास कनक और कामिनी ये हैं करुई बेलि।
बैरी मारे दांव दे ये मारैं हँसि खेलि ॥

—व्यास, (कविता कौमुदी, पृ० ५२३)

९ एक कनक अरु कामिनी दोऊ अगनि की झाल।
देखेही तन प्रजलै परस्याँ ह्वै पैमाल ॥

—कबीर, (कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४०)

इसी प्रकार किसी ने उसे नागिन, तो किसी ने बाघिन[1] और किसी ने नरक का कुण्ड तो किसी ने विष का फल कहा है।[2]

दादू इन सभी से आगे हैं। वे तो नारी की छाया से भी जैसे डरते हैं तथा देखने और स्पर्श करने को कौन कहे नारी का नाम भी लेना या सुनना नही चाहते—

नारी नैन न देखिए, मुख सूं नांव न लेइ।
कानो कामणि जिनि सुणै, यहु मण जाण न देइ।।[3]

तीसरी श्रेणी नीति के आधुनिक कवियो की है। आधुनिक युग मे सास्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों एव पश्चिमी सस्कृति के सम्पर्क मे आने के कारण जब सुधारवादी लहर चली तो अन्य अनेकानेक विषयो के साथ नारी के सम्बन्ध मे भी भारतीय दृष्टिकोण कुछ परिवर्तित हुआ, जिसके फलस्वरूप कुछ पुरानी परम्परा के कवियो को छोडकर अन्य कवियो के काव्य मे नारी, ममता, दया, करुणा, कोमलता तथा उत्सर्ग आदि की मूर्ति तथा सहधर्मिणी, गृहलक्ष्मी, एव देवी मानी जाने लगी तथा उसके गुणो से शून्य रहने के लिए पुरुषो को ही दोषी ठहराया गया। गुप्त जी ने लिखा है—

क्या दोष उनका किन्तु जो उनमे गुणो की है कमी।
हा क्या करें वे जबकि उनको मूर्ख रखते हैं हमी।।[4]

यह बात बहुत अशो में ठीक भी है। पर आधुनिक युग के पूर्व किसी भी कवि ने इस तथ्य की ओर सकेत नही किया है। रत्नावली ही एक अकेली है जिसने सम्भवतः नारी होने के कारण नारी की अवनति के मूल को परखा है और ठीक गुप्त जी की ही बात को कहा है—

सस्त्र सास्त्र बीना तुरग बचन लुगाई लोग।
पुरुष विशेषहिं पाइ जे बनत सुजोग अजोग।।[5]

कहना न होगा कि पुरुषो द्वारा नारी पर लगाए गए सारे आरोपो का बड़ा ही स्त्रियोचित शिष्ट एवं विनम्र उत्तर है।

गुप्त जी के अतिरिक्त आधुनिक काल के रामचरित उपाध्याय, हरिऔध, प्र

---

१ दादू बानी, पृ० १३१।
२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४०।
३ दादू बानी, पृ० १३१।
४ भारत भारती, वर्तमान खण्ड।
५ रत्नावली दोहा०, ६२।

जनार्दन झा, सनेही, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, वियोगी, तथा गोपाल शरण सिंह आदि ने भी नारी की प्रशसा की है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

दुख मे मित्र समान अरु गृह मे गृहिणी होत।
जीवन की सहचारिणी रमणी रस की सोत ॥[1]

सुलक्षणी और कुलक्षणी नारियो के लक्षण—

नारी गृह की विभूति है, पर सभी नारियाँ ऐसी नही होती। कुछ तो सुलक्षणी होती है जिससे गृह स्वर्गतुल्य बना रहता है, पर दूसरी ओर कुछ नारियाँ कुलक्षणी भी होती हैं जिनसे घर नरक हो जाता है। यहाँ नीति-काव्य मे वर्णित उनके लक्षण दिए जा रहे है।

सुलक्षणी के लक्षण—पीछे नारी के स्वभाव मे पाए जाने वाले अवगुणो पर प्रकाश डाला गया है। यो तो इन अवगुणो का न होना या इनके विरोधी गुणो का होना सुलक्षणी स्त्री के लक्षण कहे जा सकते है, पर इसके अतिरिक्त भी नीति-काव्य मे कुछ लक्षण विशेष रूप से दिए गए हैं। गिरिधर दास कहते हैं—

रूपवती लज्जावती, सीलवती मृदु बैन।
तिय कुलीन उत्तम सोइ गरिमाधर गुन ऐन ॥[2]

अर्थात् रूपवान, लज्जावती, सुशील, मीठी बातें बोलने वाली, कुलीन, गरिमा वाली तथा गुणज्ञा नारी ही उत्तम है।

लज्जा का भारत मे विशेष महत्त्व रहा है। अभी कुछ समय पहले तक या कुछ स्थानो पर तो अब भी जो वधू जितनी ही अधिक लजीली होती है तथा आंख ऊपर तक नही उठाती वह उतनी ही सुलक्षणी मानी जाती है। ऐसी स्त्रियाँ घर छोडकर आँगन मे भी नही आती हैं। द्विवेदी युग के एक कवि ने "नारी रत्न" की परिभाषा देते हुए लिखा है—

कबौ आगन हूँ मे न पांय धरै घर ही मे सदा अनुरागी रहै।
या
नैन निज नीचो सदा ऊँचो न करति है ॥[3]

पतिव्रता होना भी सुलक्षणी का प्रधान लक्षण है। नरहरि कहते हैं—

नारि पतिव्रता न घर घर।[4]
अच्छे लोग संसार मे बहुत नही होते।

---

१ जयशङ्कर प्रसाद, चित्राधार, पृ० ६२।

२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४६४।

३ दामोदर सहाय सिंह . सुधा सरोवर, पृ० ५०।

४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२६।

घाघ ने भी पतिव्रता और अच्छे स्वभाव वाली स्त्री को अपार सुख देने वाली कहा है—

तिरिया सतवन्ती नीक सुभाइ ।
....
कहैं घाघ ई सुक्ख अपार ।[१]

साथ ही सुलक्षणी को पति की आज्ञा की प्रतीक्षा करने वाली तथा तदनुरूप चलने वाली,

पिय मुख नित जोहति सुमुखि करति वचन अनुहारि ।
पर पति-मति-गति परति ना, परम चातुरी नारि ।।[२]

विचारवान,

तिरिया भाई रखे विचार ।
... .
बड़े भाग से दे करतार ।।[३]

तथा गृह कार्य को उचित ढङ्ग से करने वाली भी होना चाहिए। नरहरि कहते हैं कि कुलीन ललनाओ मे ये गुण जन्मजात ही होते हैं। उन्हे इन्हे सिखाने की आवश्यकता नही ।

को सिखवत कुलबधू लाज गृहकाज रङ्ग रति ।
हसन को सिक्खवत करन पय पान भिन्न गति ।।[४]

सुलक्षणी को सास, ननद, जेठानी, देवरानी, सखी, नौकर, पडौसियो तथा अन्य छोटो-बडो का भी उचित ध्यान रखने वाली होना चाहिए । दामोदर सहाय सिंह कहते हैं—

रैनि दिन लागी रहै सासु अनुसासन मे ।[५]
तथा
ननद जिठानी अनुचरी द्योरानी पुर बाम ।
पति गुरुजन सखियान हित सुखदायक अभिराम ।।[६]

---

१ घाघ, पृ० ८६ ।
२ दामोदर सहाय सिंह सुधा सरोवर, पृ० ५० ।
३ घाघ, पृ० ८७ ।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७ ।
५ सुधा सरोवर, पृ० ५० ।
६ वही, पृ० ५६ ।

इन सबके अतिरिक्त स्वच्छता भी सुलक्षणी का प्रधान गुण है। यह स्वच्छता शरीर, मन, गृह तथा गृह की वस्तुओ आदि की हो सकती है। रत्नावली कहती है—

तन मन अन भाजन वसन भोजन भवन पुनीत।
जो रापति रत्नावली तेहि गावत सुर गीत ॥[1]

नीचे कुलक्षणियो के लक्षण कहे गए हैं। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है उनके उलटे लक्षण (बात न काटने वाली, शान्त, गम्भीर तथा कलह से दूर रहने वाली आदि) भी सुलक्षणियो के लिए आवश्यक है।

कुलक्षणी के लक्षण—कुलक्षणी स्त्री की निन्दा बहुत से नीति के कवियों ने की है। बीरबल ने कहा है—

पूत कपूत कुलच्छन नारि लराक परोस लजाय न मारो।
. ....
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र मे डारो ॥[2]

गग ने भी कहा है—

बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई।[3]

घाघ भी कहते हैं—

ताका भैंसा गादर बैल
नारि कुलच्छनि बालक छैल।
इनसे बाँचे चातुर लोग,
राज छाडि के साधै जोग ॥[4]

अपने कुल की मर्यादाओ को न मानना कुलक्षणी का सबसे बडा लक्षण है। नरहरि ने ऐसी स्त्रियो को मूर्ख कहा है—

नारि मरजाद न मानै।
... .
ये जग मे मूरख विदित ॥[5]

चचलता—

बेताल कहै विक्रम सुनो चचल तिरिया अति बुरी।[6]

---

१ रत्नावली दोहा०, ७०।
२ रत्नावली दो०, ७०।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २४०।
४ वही, पृ० २७८।
५ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७।
६ वही, पृ० ४००।

घाघ ने भी पतिव्रता और अच्छे स्वभाव वाली स्त्री को अपार सुख देने वाली कहा है—

तिरिया सतवन्ती नीक सुभाइ ।
....
कहैं घाघ ई सुक्ख अपार ।[१]

साथ ही सुलक्षणी को पति की आज्ञा की प्रतीक्षा करने वाली तथा तदनुरूप चलने वाली,

पिय मुख नित जोहति सुमुखि करति बचन अनुहारि ।
पर पति-मति-गति परति ना, परम चातुरी नारि ।।[२]

विचारवान,

तिरिया भाई रखे विचार ।
.. ....
बडे भाग से दे करतार ।।[३]

तथा गृह कार्य को उचित ढङ्ग से करने वाली भी होना चाहिए। नरहरि कहते हैं कि कुलीन ललनाओ मे ये गुण जन्मजात ही होते हैं। उन्हे इन्हें सिखाने की आवश्यकता नही।

को सिखवत कुलबधू लाज गृहकाज रङ्ग रति ।
हसन को सिक्खवत करन पय पान भिन्न गति ।।[४]

सुलक्षणी को सास, ननद, जेठानी, देवरानी, सखी, नौकर, पडौसियो तथा अन्य छोटो-बडों का भी उचित ध्यान रखने वाली होना चाहिए। दामोदर सहाय सिह कहते हैं—

रैनि दिन लागी रहै सासु अनुसासन मे ।[५]
तथा
ननद जिठानी अनुचरी औरानी पुर बाम ।
पति गुरुजन सखियान हित सुखदायक अभिराम ।।[६]

---

१ घाघ, पृ० ८६।

२ दामोदर सहाय सिह . सुधा सरोवर, पृ० ५०।

३ घाघ, पृ० ८७।

४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७।

५ सुधा सरोवर, पृ० ५०।

६ वही, पृ० ५६।

इन सबके अतिरिक्त स्वच्छता भी सुलक्षणी का प्रधान गुण है। यह स्वच्छता शरीर, मन, गृह तथा गृह की वस्तुओ आदि की हो सकती है। रत्नावली कहती है—

तन मन अन भाजन वसन भोजन भवन पुनीत।
जो रापति रत्नावली तेहि गावत सुर गीत ॥[1]

नीचे कुलक्षणियो के लक्षण कहे गए हैं। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है उनके उलटे लक्षण (बात न काटने वाली, शान्त, गम्भीर तथा कलह से दूर रहने वाली आदि) भी सुलक्षणियो के लिए आवश्यक है।

कुलक्षणी के लक्षण—कुलक्षणी स्त्री की निन्दा बहुत से नीति के कवियो ने की है। बीरबल ने कहा है—

पूत कपूत कुलच्छन नारि लराक परोस लजाय न मारो।
....
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र मे डारो ॥[2]

गग ने भी कहा है—

बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई।[3]

घाघ भी कहते हैं—

ताका भैसा गादर बैल
नारि कुलच्छनि बालक छैल।
इनसे बाँचै चातुर लोग,
राज छाडि के साधै जोग ॥[4]

अपने कुल की मर्यादाओं को न मानना कुलक्षणी का सबसे बडा लक्षण है। नरहरि ने ऐसी स्त्रियो को मूर्ख कहा है—

नारि मरजाद न मानै।
... .
ये जग मे मूरख विदित ॥[5]

चचलता—

बैताल कहै विक्रम सुनो चचल तिरिया अति बुरी।[6]

---

१ रत्नावली दोहा०, ७०।
२ रत्नावली दो०, ७०।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २४०।
४ वही, पृ० २७८।
५ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७।
६ वही, पृ० ४००।

घाघ ने भी पतिव्रता और अच्छे स्वभाव वाली स्त्री को अपार सुख देने वाली कहा है—

तिरिया सतवन्ती नीक सुभाइ।
....
कहैं घाघ ई सुक्ख अपार।[१]

साथ ही सुलक्षणी को पति की आज्ञा की प्रतीक्षा करने वाली तथा तदनुरूप चलने वाली,

पिय मुख नित जोहति सुमुखि करति बचन अनुहारि।
पर पति-मति-गति परति ना, परम चातुरी नारि॥[२]

विचारवान,

तिरिया भाई रखे विचार।
... ...
बड़े भाग से दे करतार॥[३]

तथा गृह कार्य को उचित ढङ्ग से करने वाली भी होना चाहिए। नरहरि कहते हैं कि कुलीन ललनाओ मे ये गुण जन्मजात ही होते हैं। उन्हें इन्हे सिखाने की आवश्यकता नही।

को सिखवत कुलवधू लाज गृहकाज रङ्ग रति।
हसन को सिक्खवत करन पय पान भिन्न गति॥[४]

सुलक्षणी को सास, ननद, जेठानी, देवरानी, सखी, नौकर, पडौसियो तथा अन्य छोटो-बडो का भी उचित ध्यान रखने वाली होना चाहिए। दामोदर सहाय सिंह कहते हैं—

रैनि दिन लागी रहै सासु अनुसासन मे।[५]
तथा
ननद जिठानी अनुचरी धोरानी पुर वाम।
पति गुरुजन सखियान हित सुखदायक अभिराम॥[६]

---

१ घाघ, पृ० ८६।

२ दामोदर सहाय सिंह . सुधा सरोवर, पृ० ५०।

३ घाघ, पृ० ८७।

४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७।

५ सुधा सरोवर, पृ० ५०।

६ वही, पृ० ५६।

इन सबके अतिरिक्त स्वच्छता भी सुलक्षणी का प्रधान गुण है। यह स्वच्छता शरीर, मन, गृह तथा गृह की वस्तुओ आदि की हो सकती है। रत्नावली कहती है—

तन मन अन भाजन बसन भोजन भवन पुनीत।
जो राखति रत्नावली तेहि गावत सुर गीत ॥[1]

नीचे कुलक्षणियो के लक्षण कहे गए है। जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है उनके उलटे लक्षण (बात न काटने वाली, शान्त, गम्भीर तथा कलह से दूर रहने वाली आदि) भी सुलक्षणियो के लिए आवश्यक है।

कुलक्षणी के लक्षण—कुलक्षणी स्त्री की निन्दा बहुत से नीति के कवियों ने की है। बीरबल ने कहा है—

पूत कपूत कुलच्छन नारि लराक परोस लजाय न सारो।
....
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहो बाँधि समुद्र मे डारो ॥[2]

गंग ने भी कहा है—

बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई।[3]

घाघ भी कहते है—

ताका भैंसा गादर बैल
नारि कुलच्छनि बालक छैल।
इनसे बाँचैं चातुर लोग,
राज छाडि के साधै जोग ॥[4]

अपने कुल की मर्यादाओ को न मानना कुलक्षणी का सबसे बडा लक्षण है। नरहरि ने ऐसी स्त्रियो को मूर्ख कहा है—

नारि मरजाद न मानै।
. ...
ये जग मे मूरख विदित ॥[5]

चचलता—

बैताल कहै विक्रम सुनो चचल तिरिया अति बुरी।[6]

---

१ रत्नावली दोहा०, ७०।

२ रत्नावली दो०, ७०।

३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २४०।

४ वही, पृ० २७८।

५ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२७।

६ वही, पृ० ४००।

कलहप्रियता तथा कर्कशा होना भी कुलक्षणियों के लक्षण हैं—

तिरिया कलही करकस होई

.

घाघ कहै ये बिपति अपार ।[1]

बैताल कहते हैं कि इनके मरने पर रोना नहीं चाहिए—

मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू ।

... .

बैताल कहै विक्रम सुनो एते मरे न रोइए ।[2]

गिरिधर दास ने कुलक्षणियों को पाना पूर्व जन्म का पाप माना है—

अति चचल नित कलह रुचि पति सो नाहि मिलाप ।
सो अधमा तिय जानिए पाइय पूरब पाप ।।[3]

इनके अतिरिक्त छिनारपन तथा लम्पटता—[4]

झिलगा खटिया बातल देह ।
तिरिया लम्पट हाटे गेह ।
बेगा बिगरि कै मुदइ मिलन्त ।
घाघ कहैं ये बिपति के अन्त ।।[5]

बात बीच मे काटना—

नसखट पनही बतकट जोय ।
जो पहिलौठी बिटिया होय ।
पातरि कृषी बौरहा भाय ।
घाघ कहैं दुख कहाँ समाय ।।[6]

---

१ घाघ, पृ० ६६ ।

२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३६६ ।

३ वही, पृ० ५६४ ।

४ घाघ ने छिनार का लक्षण दिया है—

परमुख देखि अपन मुख गावै ।
चूरी कंकन बेसरि टोवै ।।
आँचर टारि के पेट दिखावै ।
अब छिनार का डंका बजावै ।।

५ घाघ, पृ० ६८ ।

६ घाघ, पृ० २७ ।

बहुत चटक-मटक से रहना,

बैल चौकना जोत मे,
औ चमकीली नार।
ये बैरी है जान के,
कुसल करै करतार।[1]

शाम होते ही सो जाना, बरतन-भाडे इधर-उधर पडा रहने देना तथा घर-आँगन गन्दा रखना—

साँझै से परि रहती खाट।
पडी भडेहर बारह बाट।
घरु आँगन सब घिन घिन होय।
घग्घा गहिरे देव डुबोय।[2]

आदि भी कुलक्षणियो के लक्षण हैं। ऊपर सुलक्षणियो के लक्षण दिए गए हैं। उनके उलटे लक्षण भी कुलक्षणियो के लक्षण माने जा सकते है।

स्त्री के विविध रूप—

(अ) कन्या—स्त्री का प्रथम रूप कन्या है। हिन्दी के नीतिकार कवियो का ध्यान युवतियो की ओर तो बहुत गया है, पर कन्या या लडकियो की ओर उतना अधिक नही। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यवस्थित रूप से उन्होने मानव जीवन के सभी अगो की ओर ध्यान नही दिया है, बल्कि परम्परागत बातो को ही अपने नीति-छन्दो मे अधिक रखा है। पर, इसका रत्नावली अपवाद हैं। स्त्री होने के कारण उसका ध्यान इधर भी गया है। रत्नावली ने कन्या के लिए सारी आवश्यक बातो को अपने दोहो मे सक्षेप मे रखा है। रत्नावली के अतिरिक्त हरदीन त्रिपाठी तथा रामप्रसाद तिवारी भी ऐसे नीतिकार कवि है, जिन्होने इधर ध्यान दिया है। विशेषत. रामप्रसाद तिवारी ने तो "सुता प्रबोध" नाम की स्वतन्त्र पुस्तक ही लिखी है जिसमे केवल कन्याओ के लिए ही उपदेश है।

कन्या का सम्पर्क विशेषत मात-पिता तथा भाइयो से होता है। रत्नावली कहती है कि माता-पिता के कडवे वचन, कडवी दवा के समान हितकारी होते हैं।[3] अर्थात् माता-पिता के कडवे वचन को भी कन्या को विचारपूर्वक सुनना चाहिए और

---

१ घाघ, पृ० ६६।
२ वही, पृ० ८२।
३ रत्नावली दोहा०, ६६।

उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। कन्या को माता, पिता, भाई तथा अपनी सखी आदि का यथोचित आदर करना चाहिए।[1]

रत्नावली इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अवगत थी कि लड़कपन के अभ्यास ही प्राय जीवन के अन्त तक बने रहते हैं। इसी कारण वे कन्याओ को बचपन से ही दया, धर्म तथा कुलमर्यादा की ओर ध्यान देने की शिक्षा देती हैं—

बाल बैस ही सो धरो दया धरम कुल कानि।
बडे भये रत्नावली कठिन परैगी बानि॥[2]

इसका उत्तरदायित्व कन्या के साथ-साथ उसके माता-पिता पर भी है। इसी बात को ध्यान मे रखकर रत्नावली आगे कहती है—

बारेपन सो मातु पितु जैसी डारति बानि।
सो न छुटाए पुनि छूटत रतन भयेहुँ सयानि॥[3]

शृङ्गार-प्रसाधन तथा उत्तेजक व्यसनो से कन्या के पथ-भ्रष्ट हो जाने का भय रहता है। रत्नावली इसीलिए कहती है—

नाच विषय रस गीत गँधि भूषन भ्रमर विचारु।
अगराग आलस रतन कन्यहि हित न सिंगारु॥[4]

अर्थात्, नाचना, विषयो से पूर्ण भद्दे गीत गाना, सुगन्धित चीजें लगा कर तथा आभूषण पहन कर घूमना एव अङ्गराग (आलक्तक, अधरराग, कपोलराग तथा नखराग आदि) लगाना कन्या का शृङ्गार नही, अर्थात् उसके लिए उचित नही।

कन्याओ को आलस्य न करने की भी शिक्षा दी गई है। पहले कहा जा चुका है कि बचपन के अभ्यास आजीवन पडे रहते हैं। अत जो कन्या आलसी होगी वह आजीवन इस बुरी आदत को नहीं छोड सकती। कन्या को लडको के साथ खेलना, हँसना, तथा एकान्त मे बैठना भी उचित नहीं है। इससे उनके चरित्र में कलङ्क लगता है—

लरकनि सग खेलनि हँसनि बैठनि रतन इकत।
मलिन करन कन्या चरित हरन सील कहँ सत॥[5]

नीति के कवियो ने कन्याओ की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया है। स्त्री जाति घर पर ही शिक्षा पाने की अधिकारिणी मानी गई है—

---

१ रत्नावली दोहा०, ६२।
२ वही, १३७।
३ वही, १३८।
४ वही, १३९।
५ वही, १४०।

शिक्षा दीजै नारि को अपने मदिर माहि।
कबहूँ नही स्वतत्र सो गेह पराए जाहि ॥[१]

रत्नावली ने भी स्पष्ट कहा है कि माता-पिता और बडा भाई या यदि विवाह हो गया हो तो पति, बस इन चार से ही स्त्री को शिक्षा लेनी चाहिए—

जननि जनक भ्राता बड़ो होइ जु निज भरतार।
पढइ नारि इन चारि सो रतन नारि हित सार ॥[२]

आधुनिक युग मे शिक्षा के सम्बन्ध मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि बहुत से प्रसिद्ध कवियो ने लिखा है और नारी को शिक्षित बनाने का उपदेश दिया है।

भारतेन्दु—

जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष या मे कछू न विभक्ति।
सीता अनुसूया सती अरुधती अनुहारि।
शील लाज विद्यादि गुण तहाँ सकल जग नारि ॥
वीर प्रसविनी बुध वधू होय हीनता खोय।
नारी नर अरधग की साचेहि स्वामिनि होय ॥[३]

मैथिलीशरण गुप्त—

विद्या हमारी भी न तब तक काम मे कुछ आयगी।
अर्द्धांगिनी को भी सुशिक्षा दी न जब तक जायगी।[४]

पर, नारी की शिक्षा किस ढग की हो, इस सम्बन्ध मे इन लोगो ने कुछ नही कहा है। हरदीन त्रिपाठी तथा रामप्रसाद तिवारी ने अवश्य इस पर कुछ प्रकाश डाला है। त्रिपाठी जी के अनुसार कन्या को केवल अपने धर्म-कर्म की शिक्षा मिलनी चाहिए—

दीन कहै निज धर्म कर्म मे लेहु परीक्षा।[५]

अर्थात् साधारण पढने-लिखने के अतिरिक्त उसे अपने धर्म एव कर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए। धर्म मे स्त्रियो का सामान्य धर्म तथा कर्म मे गृह-कर्म की शिक्षा

---

१ सामान्य नीति काव्य, पृ० ४६।
२ रत्नावली दोहा०, ५५।
३ बाल बोधिनी।
४ भारत भारती, भविष्य खण्ड।
५ सामान्य नीति काव्य, पृ० ४६।

निहित है, जिसे आज के शब्दो मे "गृह विज्ञान" कह सकते हैं। रामप्रसाद तिवारी ने कन्या के लिए जब तक माता के घर रहना है विद्या तथा गुणादि सीखने की सलाह दी है—

बेटी रहहु मात घर जब लौं। गुन विद्या ढग सीखो तब लौं।[१]

ऊपर के छन्द मे विद्या, गुण और ढग ये तीनो शब्द विचारणीय हैं। विद्या का अर्थ पढना-लिखना है। रामप्रसाद तिवारी ने उन पुस्तको का पढ़ना अनुचित कहा है जिनमे अनुचित बातें हो—

जाहि ग्रन्थ मे अनुचित बाता। सो पुस्तक भ्रम सशय दाता।
ताके पढे होत दुख कैसे। मदिरा पिये होत मद जैसे।[२]

गुण से तिवारी जी का आशय सिलाई, कटाई तथा कढाई आदि से है—

पुत्री सीखहु कर्म सिलाई। .... . . ।
सूची कर्म जानि गुन भारी। . .. .. ।
जानि जाउ जब कर्म सिलाई। कतर ब्योंत सीखो मन लाई।
बूटा, बेल, कसीदा काढह।[३]

ढग का आशय 'रहने का ढग' है। इसमे तिवारी जी ने बडो का आदर,[४] उनकी बातें मानना,[५] चचल न होना,[६] दूसरे के घर व्यर्थ न जाना,[७] दूसरे के खाते समय बार-बार न देखना,[८] शीलयुक्त और सरल स्वभाव का होना तथा मीठी बात बोलना आदि बातें समाविष्ट की है।

भारत में वैदिक काल से ही भावज और ननद के झगडो के उल्लेख मिलते हैं। आगे "गृहिणी" पर विचार करते समय हम देखेंगे कि नीतिकारो ने भावज को अपनी ननद के साथ अच्छा व्यवहार रखने को कहा है। कन्याओ को उपदेश देते समय रामप्रसाद तिवारी इस बात को भी नही भूल सके हैं। इसीलिए उन्होंने माता, पिता तथा बडे भाई के साथ भावज की भी गणना कर दी है—

---

१ सुता प्रबोध, पृ० ८।
२ वही, पृ० ३।
३ वही, पृ० ४।
४ मात पिता भावज बड भ्राता।
जो कछु उचित सिखावैं बाता।। —सुता प्रबोध, पृ० ३।
५ सुता प्रबोध, पृ० ३।
६ वही, पृ० ८।
७ वही, पृ० ६।
८ वही, पृ० ६।

मात पिता भावज बड भ्राता ।[1]

सक्षेप मे हिन्दी के नीतिकार कवियो ने गृहिणी के लिए आवश्यक गुणो एव अभ्यासो को ध्यान मे रखकर उचित ढंग से कन्या को अपने व्यक्तित्व का सर्वोन्मुखी विकास करने का निर्देश किया है ।

(आ) गृहिणी—स्त्री का सुन्दरतम और शिवतम रूप "गृहिणी" है । पुरुषो के जीवन—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—मे जो महत्वपूर्ण स्थान गृहस्थावस्था का है नारी-जीवन मे वही महत्वपूर्ण स्थान उसके गृहिणी रूप का है । कन्या विवाहित होकर अपने पति के घर आकर गृहिणी बनती है । यहाँ उसे यथार्थ जीवन मे प्रवेश करना पडता है । कहना अनुचित न होगा कि ससार के पूरे वाह्य कार्य यदि गृहस्थो पर है, तो पूरे गृह कार्य गृहिणियो पर है । इसीलिए गृहिणी का महत्व साहित्य और लोक साहित्य[2] दोनो मे ही गाया गया है । घाघ कहते हैं—

विन बैलन खेती करै विन भैयन के रार ।
विन मेहराऊ घर करै चौदह साख लवार ।।[3]

उदयमरिण ने भी लिखा है—

घर मलीन विन घरनि, वरनि विन नृपति मलीनो ।
मुख मलीन विन पान, मान विन मानुष हीनो ।।[4]

विभिन्न स्वजनो से गृहिणी के सम्पर्को तथा उसके कार्य-क्षेत्र की विस्तृतता के कारण उसके कई रूप हो जाते हैं । गृहिणी के क्षेत्र मे प्रवेश करते ही नारी का प्रथम रूप 'रमरणी' का दिखाई पडता है, जहाँ वह पति-भोग्या होती है । इसी के साथ उसके सेविका रूप का भी विकास होता है । वह पति के अतिरिक्त सास, ससुर, ननद तथा जेठानी आदि की सेवा करती है । भोग्या और सेविका रूपो का सामूहिक विकास उसके माता रूप मे होता है और गृहिणी 'माता' वन जाती है । यहाँ पहुँचकर उसका भोग्या रूप वहुत सिमट जाता है या फीका पड जाता है और वह उत्सर्ग एव सेवा की प्रतिमूर्ति वनकर सन्तान और पति की सरक्षिका एवं नि स्वार्थ सेविका वन जाती है । गृहिणी के माता रूप मे ही आगे विकास होता है तो वह "सास" वनती है, जव उसकी पुत्रवधू घर आती है । यहाँ उसके स्नेह की परिधि मे पति और सन्तान के अतिरिक्त पतोहू भी आ जाती है । इसी के साथ यदि उसकी

१ सुता प्रवोध, पृ० ३ ।
२ लोकोक्ति है—"विन घरनी घर भूत का डेरा" ।
३ घाघ, पृ० १२ ।
४ भंड़ौआ संग्रह, भाग ४, पृ० १३ ।

पुत्री का भी विवाह हुआ तो उसे एक दूसरे रूप मे "सास" बनना पडता है। यहाँ उसके स्नेह की परिधि मे एक चौथा व्यक्ति "दामाद" भी आ जाता है, यद्यपि सर्वदा दूर रहने के कारण पति, सन्तान तथा पुत्रवधू जैसा स्नेह प्राय वह उसे नही प्रदान कर पाती। दुर्भाग्य से यदि इसी बीच उसके पति का देहान्त हो गया तो उसे विधवा की सज्ञा मिलती है। इस रूप मे उसका उत्तरदायित्व और भी बढ जाता है, साथ ही उसे ससार के प्राय सभी आकर्पणो, मनोरजनो, स्वाद, वैभव तथा प्रसाधन आदि से विरक्त होना पडता है।

इन रूपो के साथ ही उसके दो-तीन और भी रूप देखने मे आते है। यदि घर मे नौकर रहे तो उसके साथ उसके व्यक्तित्व का एक और पक्ष दिखाई पडता है। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धियो तथा पडोसियो से उसके सम्पर्क मे उसके व्यक्तित्व का दूसरा और अपरिचितो (भिखारी, दुकानदार, फेरीवाले तथा साधु-सन्यासी आदि) के सम्पर्क मे तीसरा पक्ष दृष्टिगत होता है।

इन सबके अतिरिक्त गृहिणी को अपने स्वास्थ्य तथा सुख-दु ख आदि का भी ध्यान रखना पडता है और साथ ही उसे अपनी गृहस्थी को सँभालने मे भोजन, सामान, व्यय तथा सफाई आदि पर भी दृष्टि रखनी पडती है।

गृहिणी के उपर्युक्त रूपो को हिन्दी नीति-काव्य मे देखने के लिए निम्नाकित शीर्षकों को लिया जा सकता है।

(क) पति—

पति के सम्पर्क मे स्त्री विवाह के बाद आती है। शास्त्रो मे विवाह आठ प्रकार के माने गये हैं।[1] इसका आशय यह है कि ससार मे कभी सभी प्रकार के विवाह—मान्य-अमान्य, नैतिक-अनैतिक—प्रचलित थे, पर जैसा कि स्मृतियो मे मिलता है, इनमे ब्राह्म विवाह ही श्रेष्ठ माना गया है। नीति साहित्य मे भी इसी विवाह को मान्यता दी गई है और इसी प्रकार के विवाह से प्राप्त पति गृहिणी का उचित पति माना गया है। रत्नावली ने लिखा है—

जाके कर मे कर दयो मात पिता वा भ्रात।
रत्नावली सह वेद-विधि सोइ कह्यो पति जात॥[2]

भारत मे, विशेपत हिन्दू नारियो के जीवन मे, पति का बहुत बडा स्थान है।

---

१ ब्राह्मो देवस्तथैवार्ष प्राजापत्यस्थासुर।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधम.॥ —मनु० ३ २१।

२ रत्नावली दोहा०, २६।

वह पत्नी के लिए सब कुछ समझा जाता है। नीति काव्य मे नारी के लिए पति के महत्व को विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है।

स्त्रियो के जीवन मे शृङ्गार का बहुत बडा महत्व है पर, रत्नावली कहती है कि अन्य शृङ्गार तो मिथ्या है, पति ही पत्नी के लिए यथार्थ शृङ्गार है—

पिय सांचो सिंगार तिय सब झूठे सिंगार।[1]

धन भी जीवन के लिए अत्यावश्यक है पर, पत्नी के लिए सबसे बड़ा धन पति ही है—

सज्जन को सतोष-धन, नृप धन सैन महान।
तिय को धन पिय जगत मे, धन धन वैस्य प्रमान ॥[2]

आजकल पत्नियाँ दूसरो को गुरु बनाती है पर नीति साहित्य मे पत्नी का गुरु पति ही कहा गया है। उसके रहते किसी भी अन्य गुरु की आवश्यकता नही—

तीन बरन को विप्र गुरु, द्विज गुरु अग्नि प्रमान।
कामिनि को गुरु कत है जग गुरु अतिथि सुजान ॥[3]

इतना ही नही, अपितु पति एक ही साथ पत्नी के लिए देवता, गुरु, पूज्य, मित्र, बन्धु, धन तथा ससार मे सार पदार्थ है—

पति गति, पति वित, मीत पति, पति सुर गुर भरतार।
रत्नावली सरबस पतिहि बधु बंधु जगसार ॥[4]

वही पत्नी की जीवन-नैया का कर्णधार है—

रतनावलि भवसिंधु मधि, तिय जीवन की नाव।
पिय केवट बिनु कौन जग, खेइ किनारे लाव ॥[5]

भारतीयो के लिए जीवन की सबसे बडी प्राप्ति ब्रह्मानन्द या मुक्ति है। इसी के लिए तीर्थ, व्रत, उपासना, यज्ञ तथा तप आदि कठिन से कठिन साधनाएँ की जाती है। हमारे स्मृतिकारो की भाँति ही नीतिकारो की दृष्टि मे भी पत्नी के लिए पति की सेवा का महत्व इन सारी साधनाओ से कम नही है।

मत सगति उपवास जप तप मख जोग विवेक।
पति सेवा मन वच करम रतनावलि इक एक ॥[6]

---

१ रत्नावली दोहा०, १४।
२ भँडौआ सग्रह, भाग ४, पृ० ५८।
३ वही, पृ० ५६।
४ रत्नावली दोहा०, ३०।
५ वही, ३३।
६ वही, ४८।

और यदि पति-सेवा मे पत्नी तत्पर नहीं है सो उसका यह सब करना व्यर्थ है—

उद्यापन, तीरथ, बरत, जोग, जग्य, जप, दान ।
रतनावलि पति सेव बिन सबहि अकारथ जान ।।[1]

रत्नावली ने तो यहाँ तक कहा है कि पति सेवा के आगे ये सब व्यर्थ हैं और बिना इनके किए ही पति-सेविका पत्नी स्वर्ग पा जाती है—

रतनावलि पति सो अलग कह्यो न बरत उपास ।
पति सेवत तिय सकल सुप पावत सुरपुर वास ।।[2]

रामचन्द्रिका मे राम कौशल्या से कहते हैं—

जोग जाग व्रत आदि जु कीजै ।
न्हान गान गुन दान जु दीजै ।
धर्म कर्म सब निष्फल देवा ।
होहि एक फल कै पति सेवा ।।[3]

पति पत्नी के लिए साक्षात स्वर्ग की सीढी है

पति देवत कहि नार कहँ और आसरो नाहिं ।
सर्ग सिढी जानहु यही वेद पुरान कहांहि ।।[4]

और वह भगवान भी है। उसे अपमानित करना भगवान का अपमान करना है।

अपमानित पति के भए अपमानित भगवान ।[5]

इस प्रकार, नीतिकारो ने पति को एकान्त महत्ता दी है। कुछ ने तो इस महत्ता को और ऊपर उठाते हुए यहाँ तक कहा है कि पति के बिना पत्नी का जीवन शून्य है—

वैताल कहै विक्रम सुनो पति विनु सूनी कामिनी ।[6]

रत्नावली ने इस बात को और भी सुन्दर ढग से कहा है—

नर अधार विनु नारि तिमि जिमि स्वर बिन हल होत ।[7]

---

१ रत्नावली दो०, ३८ ।
२ वही, २६ ।
३ रामचन्द्रिका, पृ० १६ ।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४६५ ।
५ रत्नावली दो०, ३६ ।
६ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०१ ।
७ रत्नावली दोहा०, १७२ ।

अर्थात् पति के विना पत्नी उसी प्रकार है जैसे स्वर के विना व्यजन । टोडर-मल ने भी प्राय यही बात कही है—

तार विन जत्र जैसे स्याने बिन मत्र जैसे पुर्ष विनु नारि जैसे पुत्र विन् घर है ।
टोडर सुकवि तैसे मन मे विचार देखो धर्म विन धन जैसे पच्छी विन पर है ॥[1]

तुलसी मे भी इस भाव की पराकाष्ठा है—

जिय विन देह नदी बिन बारी । तैसिअ नाथ पुरुष विन नारी ।[2]

पति के महत्व को इतना वढा-चढा कर कहने का एक मात्र यही अर्थ है कि पत्नी को पति मे एकान्त प्रेम रखना चाहिए तथा उसकी सेवा करनी चाहिए । यदि पति सुन्दर, धनी, योग्य, स्वस्थ तथा आकर्षक है तो पत्नी स्वभावत. उसकी ओर आकर्षित रहेगी तथा उससे प्रेम और उसकी सेवा करेगी, पर यदि पति इसके विरुद्ध अयोग्य, असुन्दर, दीन तथा अवगुणी हुआ तो स्वभावत. उसकी ओर से पत्नी कुछ पराड्मुख सी रहेगी । नीतिकारो ने इस असगति को रोकने के लिए ऐसा नियम बनाया है कि पति कितना भी बुरा क्यो न हो पत्नी का यह धर्म है कि उसे ही वह सबसे सुन्दर, धनी, योग्य तथा आकर्षक समझ कर उससे प्रेम तथा उसकी सेवा करे।

इस प्रकार की भावनाओ का बीज बहुत पहले से मिलता है । मनु ने ऐसा विधान किया है कि यदि कोई पत्नी जुआ आदि खेलो मे व्यस्त रहने वाले तथा रोग पीडित पति की सेवा न करे अर्थात् उसका अनादर करे तो उसको उसका पति तीन मास के लिए त्याग दे तथा उससे वस्त्राभूषण आदि छीन ले ।[3]

हिन्दी मे बहुत से कवियो ने इस प्रकार की बाते कही है । मानस मे अनुसूया सीता से कहती है—

वृद्ध रोग वस जड धन हीना ।
अध वधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना ।
नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥[4]

रामचन्द्रिका मे राम कौशल्या को उपदेश देते है—

पति देइ जो अति दुख ।
मन मानि लीजै सुक्ख ॥

---

१ भड़ौआ सग्रह, भाग १, पृ० १२ ।
२ मानस २, ६६. ४ ।
३ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा ।
सात्रीन्मान्परित्याज्या, विभूषण परिच्छदा ॥ —मनु० ६ ७८ ॥
४ मानस ३. ५. ४—५ ।

सब जगत जान अमित्र ।
पति जान केवल मित्र ।।
नारि तजै ना आपनो सपनेहू भरतार ।
पगु गु ग बौरा बधिर अध अनाथ अपार ।
अध अनाथ अपार वृद्ध बावन अतिरोगी ।
बालक पडु कुरूप सदा कुबचन जड जोगी।
कलही कोढी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी ।
अध अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी ।।[१]

रत्नावली ने नारी होते हुए भी इन्ही बातो का समर्थन किया है—

अध पगु रोगी बधिर सुतहि न त्यागति माय ।
तिमि कुरूप दुरगुन पतिहि रतन न सती बिहाय ।।[२]

वे एक अन्य स्थान पर भी कहती हैं—

नेह सील गुन बिन रहित कामी हू पति होय ।
रत्नावलि भलि नारि हित पूज्यदेव सम सोय ।।[३]

इस प्रकार पति चाहे कितना भी अयोग्य, कुरूप और बुरा आदि क्यो न हो, नीतिकार कवियो के अनुसार पत्नी को उसे देवता समझ कर उसका आदर करना चाहिए । कहना न होगा कि ये बातें आज के युग के लिए व्यर्थ हैं । यदि ये सत्य हैं तो पति के लिए भी और नही तो किसी के लिए नहीं ।

पति का स्नेह—जिसकी इतनी महत्ता प्रदर्शित की गई है, उस पति का पत्नी के प्रति प्रेम, पत्नी के लिए कितना बहुमूल्य है कहने की आवश्यकता नही । जिस स्त्री का अपने पति का प्रेम या पति का सुख प्राप्त है, उसे ससार के सारे सुख प्राप्त हैं और वह अनेक कष्ट मे रहती हुई भी बहुत सुखी है ।

धन सुष जन सुष बधु सुष सुत सुष सबहि सराहि ।
पै रत्नावलि सफल सुख पिय सुप पटतर नाहि ।।[४]

जिसे स्त्री को पति के प्रेम का आनन्द प्राप्त है उसे ब्रह्मानन्द की भी आवश्यकता नही, क्योकि सम्पूर्ण ब्रह्मानन्द पति-प्रेमानन्द के एक बूंद के समान भी नही है—

---

१ रामचन्द्रिका, पृ० १६ ।

२ रत्नावली दोहा०, १३३ ।

३ वही, २१ ।

४ वही, ६७ ।

मत्र रस रम इक ब्रह्म रस रतन कहत बुध लोय ।
पै तिय कहँ पिय प्रेम रस विन्दु सरिस नहिं सोय ।।[1]

इसके विरुद्ध जिस स्त्री को अपने पति का स्नेह प्राप्त नही है, उसका जीवन उस भाजी के समान फीका या व्यर्थ है जिसमे नमक न हो ।

तिय जीवन तेमन सरिस तौ लौ कछुक रुचै न ।
पिय सनेह रस राम रस जौ लौ रतन मिलै न ।।[2]

पतिव्रता—पतिव्रता स्त्री की नीतिकारो ने बड़ी प्रशसा की है । दयाशकर मिश्र "पतिव्रता" की परिभाषा मे देते है—

पति तजि दूसर देव कहँ नहिं आराधै जौन ।
ईस सरिस स्वामी गुनै पतिवरता है तौन ।।[3]

आशय यह है कि वही स्त्री पतिव्रता है जो अपने पति को ईश्वर (अर्थात् संसार मे सभी बातो मे सब मे बडा) माने और केवल उसी की आराधना करे । उसका किसी अन्य पुरुष के प्रति प्रेम आदि न हो ।

गुणी या अच्छो की संसार मे कमी रहती है । वही दशा पतिव्रता स्त्रियो के विषय मे भी है । वे घर-घर नही होती । नरहरि ने लिखा है—

सर सर हस न होत वाजि गजराज न दर दर ।
तर तर सुफर न होत नारि पतिव्रता न घर घर ।।[4]

किसी भी काम का बनना कठिन है, पर विगडना सरल । उसी प्रकार पतिव्रता बनना भी बडा कठिन है, और इस बनने मे पूरी आयु व्यतीत हो जाती है, पर नष्ट होने मे देर नही लगती—

सती बनत जीवन लगै असती बनत न देर ।
गिरत देर लागै कहा चढिबो कठिन सुमेर ।।[5]

पतिव्रता सती स्त्रियाँ पति की आज्ञाकारिता, सेवा तथा उसके प्रति एकान्त प्रेम मे अपने व्यक्तित्व को इतना ऊपर उठा लेती हैं कि अपनी आत्मशक्ति से असम्भव को भी सम्भव कर लेती है । सावित्री की कथा इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है जिसने अपने मृत पति सत्यवान को पुनर्जीवित कर लिया । ऐसा भी नीति के कवियो ने कहा है—

---

१ रत्नावली दोहा०, १३१ ।
२ वही, १३२ ।
३ सदाचार सोपान, ३६ ।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२६ ।
५ रत्नावली दोहा०, १२६ ।

रतनावलि जिय जानि तिय पतिव्रत सकति महान ।
मृत पति हू जीवित कर्यो सावित्री सतिवान ।।[1]

पतिव्रता स्त्रियो की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए रत्नावली ने अपने एक दोहे मे एक विचित्र बात कही है । ब्रह्म को कान्त मान कर कान्तासक्ति भक्ति मे विश्वास रखने वाले भक्त ससार की सभी आत्माओ को स्त्री तथा केवल ब्रह्म को पुरुष मानते हैं । रत्नावली ने पतिव्रताओ मे श्रेष्ठ की भी मनोदशा इसी प्रकार की मानी है—

तन मन पति सेवा निरत हुलसे पति लपि जोय ।
इक पति कह पूरष गनै सती सिरोमनि सोय ।।[2]

अर्थात् सतियो या पतिव्रताओ की शिरोमणि वही स्त्री है जो तन मन से अपने पति की सेवा मे लगी रहती है, उसे देख प्रसन्न होती है तथा एकमात्र उसे ही पुरुष मानती है । अर्थात् उसके लिए ससार में केवल उसका पति ही पुरुष है शेष सभी स्त्रियाँ हैं । ये बातें सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से कही गई है । अन्यथा होने पर अव्यवस्था तथा अनाचार का राज्य हो जायगा । पर, पुरुष मे भी इसी प्रकार के भाव अपनी स्त्री के प्रति आवश्यक हैं ।

पतिव्रता चार प्रकार की होती है । तुलसी ने अनसूया के मुँह से कहलाया है-

जग पतिव्रता चारि बिधि अहही ।
बेद पुरान सन्त सब कहही ।
उत्तम के अस वस मन माही ।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाही ।
मध्या पर पति देखइ कैसे ।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।
धर्म विचारि समुझि कुल रहई ।
सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ।
बिनु अवसर भय तें रह जोई ।
जानेहु अधम नारि जग सोई ।।[3]

कहना न होगा कि इनमे यथार्थ पतिव्रता प्रथम प्रकार की ही हैं ।

रक्षिका एव पथ-प्रदर्शिका—ऊपर पति को पत्नी का ईश्वर, देवता, पूज्य गुरु, रक्षक, मित्र तथा धन आदि बहुत कुछ कहा जा चुका है पर दूसरी ओर

---

१ रत्नावली दोहा०, ५८ ।
२ वही, ६१ ।
३ मानस, ३. ५. ६—८ ।

पति के लिए पत्नी भी कुछ इसी प्रकार है। पत्नी पति के स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखने तथा उसका पालन-पोषण करने के कारण उसकी रक्षिका तथा माता, उसे यथावसर उचित सलाह देने के कारण गुरु, दुःख मे उसका साथ देने के कारण मित्र, आपत्ति मे पथ-प्रदर्शन करने के कारण पथ-प्रदर्शक तथा साक्षात् गृहलक्ष्मी होने के कारण, धन की भांति सम्मान्य है। मनु ने इसी कारण कहा है कि जहां नारियो की पूजा होती है उस घर मे देवता वास करते है और जहां इसके विरुद्ध होता है सारा कर्म निष्फल होता है।[1] नीति के कवियो ने स्त्रियो के विषय मे जहां भी लिखा है प्राय या तो उसकी पानी पी-पी कर निन्दा की है या उसके रमणी रूप पर कुछ प्रकाश डाला है या फिर पति के प्रति उसके कर्तव्यो को बढा-चढा कर वर्णन किया है। किसी का भी इस तथ्य की ओर ध्यान नही गया है कि यदि पत्नी के लिए पति पूज्य और रक्षक आदि है तो उसी प्रकार पति के लिए पत्नी भी है। नारी होने के कारण रत्नावली का ध्यान इधर अवश्य गया है। वह अच्छी और पतिव्रता स्त्री को सेविका होने के साथ-साथ पति का मित्र तथा उसकी माता भी मानती है—

देति मन्त्र सुठि मीत सम, नेहिनि मातु समान।
सेवति पति दासी सरिस, रतन सुतिय धनि जान॥[2]

मित्र की भांति सुलक्षणी स्त्री पति को मन्त्रणा देती है और माता की भांति उसे अपने स्नेह से सिक्त रखती है, इसीलिए रत्नावली पत्नी को सिखाती है—

अनाचार धन-नास रत निज पति रतन लपाइ।
लहि औसर समुचित वचन रहसि बोधियै ताइ॥[3]

तुलसी के मानस मे राम बालि को डांटते हैं—

मूढ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करेसि न काना॥

महाभारतकार ने कुछ इन्ही भावनाओ का अनुभव कर स्त्री को पुरुषो के सभी दुखो की एकमात्र औषधि माना है।[4]

परीक्षा—यो तो पूरा जीवन—उसका पग-पग और क्षण-क्षण—परीक्षा है,

---

१ यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया॥ —मनु० २।५६।

२ रत्नावली दो०, १६६।

३ वही, १६३।

४ न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजामतम्।
औषधं सर्व दुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि॥ —वनपर्व ६१।२६।

रतनावलि जिय जानि तिय पतिव्रत सकति महान ।
मृत पति हू जीवित कर्यो सावित्री सतिवान ॥[१]

पतिव्रता स्त्रियो की मनोवैज्ञानिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए रत्नावली ने अपने एक दोहे मे एक विचित्र बात कही है। ब्रह्म को कान्त मान कर कान्तासक्ति भक्ति मे विश्वास रखने वाले भक्त ससार की सभी आत्माओ को स्त्री तथा केवल ब्रह्म को पुरुष मानते हैं। रत्नावली ने पतिव्रताओ मे श्रेष्ठ की भी मनोदशा इसी प्रकार की मानी है—

तन मन पति सेवा निरत हुलसे पति लपि जोय ।
इक पति कह पूरष गनै सती सिरोमनि सोय ॥[२]

अर्थात् सतियो या पतिव्रताओ की शिरोमणि वही स्त्री है जो तन मन से अपने पति की सेवा मे लगी रहती है, उसे देख प्रसन्न होती है तथा एकमात्र उसे ही पुरुष मानती है। अर्थात् उसके लिए ससार में केवल उसका पति ही पुरुष है शेष सभी स्त्रियाँ हैं। ये बातें सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से कही गई है। अन्यथा होने पर अव्यवस्था तथा अनाचार का राज्य हो जायगा। पर, पुरुष मे भी इसी प्रकार के भाव अपनी स्त्री के प्रति आवश्यक हैं।

पतिव्रता चार प्रकार की होती है। तुलसी ने अनसूया के मुँह से कहलाया है-

जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं।
बेद पुरान सन्त सब कहही।
उत्तम के अस बस मन माही।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाही।
मध्या पर पति देखइ कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।
धर्म विचारि समुझि कुल रहई।
सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।
विनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥[3]

कहना न होगा कि इनमे यथार्थ पतिव्रता प्रथम प्रकार की ही हैं।

रक्षिका एव पथ-प्रदर्शिका—ऊपर पति को पत्नी का ईश्वर, देवता, पूज्य गुरु, रक्षक, मित्र तथा धन आदि बहुत कुछ कहा जा चुका है पर दूसरी ओर

---

१ रत्नावली दोहा०, ५८।
२ वही, ६१।
३ मानस, ३. ५. ६—८।

सभी कुछ पति है, इसी कारण उसके वियोग या महा-वियोग का दुख पत्नी के लिए सबसे बडा है।

पिय वियोग सम दुख जग नाही।[1]

यह तो एक पुरुष के लेखनी से उद्भूत पंक्ति है। पुरुष स्त्री-हृदय की भाव-तरङ्गो या चिन्ताधाराओ का अनुमान लगा सकता है, उनका अनुभव नही कर सकता। इस सम्बन्ध मे तुलसी की चिरवियोगिनी प्रिया रत्नावली का एक दोहा देखने योग्य है। यदि रत्नावली तथा तुलसी के वियोग की घटना को सत्य माने तो उसे अपने ही कुछ शब्दो के कारण पति का वियोग सहना पडा था और वह वियोग सीता या दमयन्ती की भाँति कुछ वर्षो का न होकर पूरे जीवन का था। प्रिय-वियोग के दुख के क्षेत्र में रत्नावली पौराणिक या ऐतिहासिक दोनो ही ससार मे अद्वितीय है। उसका दुख पति से मिलते ही विधवा होने वाली या अक्षतयोनि विधवा से भी अधिक है। यह वह विधुरा थी जो सधवा होते हुए भी विधवा जीवन बिताने को बाध्य थी, क्योकि उसी के शब्दो मे जिस स्त्री का पति विदेश मे हो उसे भी विधवा की भाँति मनोरञ्जन, रागरङ्ग, वैभव तथा सुख आदि को तिलाजलि दे देनी चाहिए।[2] उसने अपनी व्यथा को छन्द मे बाँधने का प्रयास किया है—

असन बसन भूषन भवन पिय बिन कछु न सुहाय।
भार रूप जीवन भयो छिन छिन जिय अकुलाय॥[2]

रत्नावली पति वियोग के दुख के विषय मे लिखती है—

को जानै रत्नावली पिय वियोग की बात।
पिय बिछुरन दुख जानती सीय दमती मात॥[3]

वह यह नही कहती कि यह बहुत बडा दुख है, वह यह भी नही कहती कि इतना बडा दुख ससार मे है ही नही। वह कहती है कि इस दुख को कौन जान सकता है? यह जानने की चीज नही। केवल अनुभव किया जा सकता है। इसी कारण सीता दमयन्ती आदि भुक्त भोगी नारियाँ ही इसे जान सकती है। सचमुच स्त्री के लिये पति वियोग या पति की मृत्यु ही सबसे बडा दुख है।

रमणी—गृहणी का रमणी रूप प्राय भौतिक है। किसी भी व्यक्ति मे उत्तमता दो प्रकार की होती है। बाह्य और आन्तरिक। रमणी मे बाह्य उत्तमता की ओर प्रधान ध्यान जाता है। नारी के रमणी रूप का विवेचन कामशास्त्र की पुस्तको मे अधिक सागोपाग और व्यवस्थित रूप मे मिलता है। हिन्दी नीति-काव्य

---

१ मानस, पृ० १३२।
१ रत्नावली दोहा०, १३।
२ वही, ३२।

पर प्रत्येक व्यक्ति की उमकी स्थिति और योग्यता के अनुसार विशिष्ट अवसरो पर विशेष परीक्षा होती है ।

तुलसी लिखते है—

धीरजु धरम मित्र अरु नारी ।
आपदकाल परखियहु चारी ॥[1]

अर्थात् दुख मे अपने धैर्य, धर्म, स्त्री और मित्र की परीक्षा होती है। रहीम ने भी कहा है। दुख एक दृष्टिकोण से अच्छा है यदि थोडे दिन के लिए या अस्थायी हो। इममे स्वजनो तथा अन्यो की यथार्थ पहिचान हो जाती है।[2] सचमुच ही और किसी की हो या न हो पर आपत्ति या निर्धनता आने पर स्त्री और मित्र की परीक्षा तो हो ही जाती है। चाणक्य ने भी इसका समर्थन किया है।[3]

जब व्यक्ति धन-धान्य मे पूर्ण और सुख मे रहते हैं तो सुख के आकर्षण से बुरी या अच्छी सभी स्त्रियाँ साथ रहती है और अपना असीम प्रेम दिखलाती हैं, पर चिन्ता या निर्धनता मे प्राय कम स्त्रियो का प्रेम और अपनत्व पूर्ववत् रहता है। जिनका ऐसे मे भी पूर्ववत् भाव रहे उन्हे ही पतिव्रता और स्त्री-रत्न समझना चाहिए। ऊपर दु ख के परीक्षा-काल के सम्बन्ध मे रहीम की सामान्य सूक्ति का उल्लेख किया जा चुका है। उन्होने स्त्रियो के विषय मे भी कहा है—

चिन्ता बुद्धि परेखिए टोटे परख त्रियाहि ।
सगे कुवेला परखिए ठाकुर गुनो कि आहि ॥[4]

गिरिधर दास ने भी इन्ही बातो को दोहराया है—

सत्य सुमति धीरज धरम बन्धु मित्र सुत नारि ।
आपत मे परखिय इनहिं गिरिधरदास बिचारि ॥[5]

इस प्रकार तुलसी और गिरिधरदास के शब्दो मे आपत्तिकाल तथा रहीम के शब्दो मे निर्धनता के समय नारी की परीक्षा होती है।

दु ख—यो तो ससार मे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दु ख हैं पर स्त्रियो के लिये पुत्र-मृत्यु तथा पति से वियोग या महावियोग (मृत्यु) सब से बडे है। पीछे गृहिणी मे 'पति' शीर्षक के अन्तर्गत विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि पत्नी के लिए ईश्वर, देवता, गुरु, पूज्य, मित्र, धन, सुख तथा मोक्ष

---

१ मानस, पृ० ११० ।

२ रहीम दोहा०, २३६ ।

३ मित्रं चापत्ति काले तु भार्या च विभवक्षयं । —चाणक्य०, पृ० २ ।

४ रहीम दोहा०, ५७ ।

५ भँड़ौआ सग्रह, भाग ४, पृ० ५५ ।

तेल तजि खेल तजि खाट तज सोवही।
मीत जल न्हाय नहिं उष्णजल जोवही॥
खाय मधुरान्न नहिं पाय पनही धरै।
काय मन वाच सब धर्म करिबो करै॥
कृच्छ उपवास सब इन्द्रियन जीतही।
पुत्र सिख लीन तन जौं लगि अतीतही॥[1]

विधवा का पति तो नही रहता पर उसे पति को अपने लिए जीवित समझ कर उसकी इच्छा के प्रतिकूल जो कर्म हो कभी नही करने चाहिए—

पति के जीवत निधन हूँ पति अनरूचत काम।
करति न सो जग जस लहति पावति गति अभिराम॥[2]

इन निषेध वाक्यो के अतिरिक्त विधवाओ के लिए कुछ विधिवाक्य भी नीतिकारो ने दिए हैं। उन्हे शाक, मूल, फल आदि ऐसे सादे और सात्विक भोजन करने चाहिए जो पौष्टिक या उत्तेजक न हो। इसमे ब्रह्मचर्य व्रत के पालन मे सहायता मिलती है। साथ ही उन्हे अपने मृत पति तथा भगवान का स्मरण भी करना चाहिए।

बिनु पति पति जगपति सुमिरि साक मूल फल पाइ।
बिरमचरज व्रत धारि तिय जीवन रतन बनाइ॥[3]

मृत पति के कल्याण या उसकी आत्मा की शान्ति के लिए विधवा को जप तप आदि भी करना चाहिए।

जीवत पति मामन गहै सेवहि ताहि सप्रेम।
गए सती व्रत अनुमरै पति हित जप तप नेम॥[4]

वृहत्संहिता तथा स्कन्द पुराण आदि ग्रन्थो मे कहा गया है कि पति यदि पापी हो और उसकी पत्नी पतिव्रत धर्म के नियम से रहे तथा पति की मृत्यूपरान्त भी शुद्ध जीवन बिताते हुए उसके कल्याण की कामना करे तो उसके सारे पाप कट जाते हैं।[5] सम्भवत इसी आधार पर उपर्युक्त विधान है।

विधवाओ के आचार-विचार-विषयक नियम सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ही बनाए गए हैं। इस प्रकार रहने पर उनके पथ-भ्रष्ट होने तथा दूसरो को पथ-भ्रष्ट

---

१ रामचन्द्रिका।
२ रत्नावली दोहा०, २५।
३ वही, ४२।
४ वही, ५२।
५ प्राचीन भारतीय सस्कृति में नारी का स्थान, पृ० ७०-३०।

रमणी के लिए लोमवती तथा रोगी होना भी बहुत बडा दूषण है। उसके लोमवती होने से शारीरिक कान्ति तथा कोमलता मे बाधा पडती है और रोगी होने से सम्पर्क रखने वाला रोगी हो जाता है।

लोमवती सुख नहि लहै पाएहु पीव महीप।
नरहू रोगी होत है रोगी नारि समीप ॥[१]

स्वास्थ्यशास्त्र, शृङ्गार या नायिका भेद विषयक ग्रन्थो में इस विषय की और भी बातें मिल सकती हैं, पर वे नीति-काव्य के अन्तर्गत नही आते, अत यहाँ उनको नही लिया जा रहा है।

विधवा—यो तो वैधव्यावस्था सौभाग्यवती स्त्री से दूर की चीज है, पर पति की मृत्यु से उद्भूत होने के कारण सीधे पति से सम्बन्धित है, अत इस पर भी यही विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। दु.ख शीर्षक मे कहा जा चुका है कि पति का वियोग ही स्त्री के लिए सबसे बडा दु.ख है। यह वियोग प्रवास-जनित और मृत्यु-जनित दो प्रकार का हो सकता है। प्रवास-जनित वियोग के दुख की तुलना मे मृत्यु जनित वैधव्य का दु ख बहुत बडा है, क्योकि प्रथम मे तो पुनर्मिलन की आशा रहती है पर दूसरे मे नही। यो दार्शनिको की भाँति आशा को सबसे बडा दुख मान ले तो बात उलट भी सकती है।

हिन्दी के नीतिकारो मे विधवा के सम्बन्ध मे जो बातें मिलती हैं, उन्हे तीन वर्गो मे रखा जा सकता है—

(क) विधवा का आचार
(ख) सती
(ग) विधवा-विवाह

विधवा का आचार—विधवा के लिए अच्छे कपडे-लत्ते या आभूषण आदि पहनने, हास-परिहास करने, दूसरे के घर जाने, प्रसाधन करने, अच्छे या पौष्टिक भोजन करने, खेल-तमाशे देखने तथा उत्सव आदि मे जाने का निषेध है। रत्नावली कहती है—

रतन हास पर घर गमन पेल देह सिगार।
तज उतसवन विलोकिवो लहि वियोग भरतार ॥[२]—

रामचन्द्रिका मे राम ने विधवा-धर्म का वर्णन किया है।

गान विन मान विन हास विन जीवही।
तप्त नहि खाय जल सीत नहि पीवही ॥

---

१ सदाचार सोपान, पृ० ५।
२ रत्नावली दोहा०, १५८।

ग्रामकुन्द गुप्त ने भी इसका विरोध किया है—

भला हम विधवा माँ का व्याह करें।[1]

पर भारतेन्दु ने विधवा-विवाह का कारण दिखलाते हुए समर्थन किया है।

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन मांहि घुसाए।
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो ॥[2]

आधुनिक युग के अन्य बहुत से, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक तथा हरिऔध आदि, कवियो ने भी इसका समर्थन किया है। हरिऔध व्यगात्मक शैली मे कहते है—

मर्द चाहे माल चावा ही करे, औरतें पीती रहेगी माड ही।
क्यो न रंडुए व्याह कर ले वीसियो, पर रहेगी राड सब दिन राड ही ॥[3]

नीति-काव्य मे अधिकतर बातें जब सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से ही कही गई है तो निश्चय ही विधवा-विवाह का भी निषेध नही होना चाहिए। भारतेन्दु ने ठीक ही कहा है कि इस निषेध से व्यभिचार बढता है।[4]

रक्षा—हमारे शास्त्रकारो तथा धर्माध्यक्षो को नारी का व्यक्तित्व बडा ही क्षीण और अस्थिर सा लगता रहा है, इसी कारण नारी के लिए सर्वदा किसी के अधीन रहने का विधान किया गया है। मनु का वह श्लोक प्रसिद्ध है, जिसमे उन्होंने शैशव में पिता के, यौवन मे पति के तथा वृद्धावस्था मे पुत्र के अधीन रहने का नारी के लिए विधान किया है।[5] यहां बुढापे मे पुत्र के अधीन रहने का अर्थ शायद यह है कि वृद्धा को विधवा होने पर या पति के न रहने पर पुत्र के अधीन रहना चाहिए क्योकि यदि स्त्री सधवा है या पति पास है तो पति के जीते उसे किसी और (पुत्रादि) के अधिकार मे जाने की भला क्या आवश्यकता ? इस प्रकार विधवा को अपनी एव अपने आचरण की रक्षा के लिए पुत्र के अधीन रहना चाहिए। रत्नावली ने कहा है—

बिनु पति सुत आधीन रहि पतित होति स्वाधीन।[6]

---

१ स्फुट कविता, विधवा विवाह।
२ आधुनिक काव्यधारा, पृ० ७६।
३ चुभते चौपदे, पृ० १६१।
४ आधुनिक काव्यधारा, पृ० ७६।
५ पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थावरे पुत्रान स्त्री स्वातंत्रमर्हति ॥ —मनु०, ९ ३।
६ रत्नावली दोहा० ३७।

करने का भय नही रहेगा। नही तो यो उनका विचलित हो जाना स्वाभाविक ही है। घाघ ने कहा है—

रॉड मेहरिया अनाथ भैसा।
जब विचलै तब होवें कैसा।[१]

सती—विधवा के लिए सती हो जाना तो पवित्र जीवन विताने से भी अधिक फलप्रद कहा गया है। इससे उस स्त्री और उसके पति दोनो ही का कल्याण होता है। स्कन्द पुराण के अनुसार तो जो नारी अपने मृत पति के साथ सती होने के लिए श्मशान की ओर जाती है वह पद-पद पर अश्वमेघ यज्ञ का फल प्राप्त करती है।[२] हिन्दी नीति काव्य मे इस विषय मे वहुत कम लिखा गया है। रत्नावली कहती है—

धनि तिय सो रत्नावली पति सग दाहै देह।
जौं लौं पति जीवत जियै मरत मरे पति नेह।।[३]

सचमुच पातिव्रत धर्म तथा प्रेम की यह सीमा है कि जब तक पति जीवित रहे पत्नी जिए और उसके मरते ही अपना जीवन भी समाप्त कर दे। जमाल[४] आदि मुसलमान कवियो ने भी इसकी प्रशसा की है। परम्परागत धर्म की दृष्टि से सती हो जाने को जो भी महत्व दिया जाय पर यो यह अमानुषिक है और इसे उचित नही कहा जा सकता।

विधवा-विवाह—मनु ने विधवा-विवाह के सम्बन्ध मे कही स्पष्ट तो विधि-निषेध रूप मे नही लिखा है, पर कुछ निन्दात्मक बातें अवश्य कही हैं। यो एक स्थान पर उन्होने कहा है कि नि सन्तान विधवा किसी अन्य (सगोत्र) से सम्भोग (नियोग) कर एक सन्तान उत्पन्न कर सकती है।[५] अन्यत्र उन्होने कहा है कि एक सन्तान सन्तान नही है। विधवा स्त्री एक और सन्तान उत्पन्न कर सकती है।[६] हिन्दी नीति काव्य मे प्राचीन सभी कवियो ने इसका विरोध किया है। रत्नावली कहती हैं—

एक हु जगदाधार तिमि एकु हि तिय भरतार।[७]

---

१ घाघ, ३२।

२ अनु व्रजती भर्तारं गृहात् पितृवन मुदा।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फल प्राप्नोत्यसशयम्।
—प्रा० भा० सस्कृति मे नारी का स्थान, पृ० ८८ पर उदधृत।

३ रत्नावली दो०, ५३।

४ जमला ऐसी प्रीति करि जैसी हिन्दू जोय।
पूत पराये कारणें जल वल कोयला होय।। जमाल दो०, ३२।

५ मनु०, ९, ६५-६६।

६ मनु०, ९।६१।

७ रत्नावली दो०, १६०।

इसके अतिरिक्त माता का महत्व एक और कारण से भी है, जैसा कि कहा भी गया है। उसका सम्बन्ध ससार के सभी सम्बन्धो का मूल है।

चित्त समादर सहित है करता सदा कबूल।
माता नाता है सकल नाताओ का मूल ॥[1]

इस प्रकार माता होना किसी स्त्री के लिए बड़े सौभाग्य तथा गर्व का विषय है। कुछ स्त्रियां इसी लालच मे अपने पति से अपने को पुत्रवती होते न देख साधु और सन्तो का आश्रय ग्रहण करती है। नीति साहित्य मे इस बात की निन्दा की गई है। रत्नावली कहती है—

जो तिय सतति लोभ वस करति अपर नर भोग।
रत्नावलि नरकहि परति जग निदरत सब लोग ॥[2]

यहाँ एक और बात भी विचारणीय है। माता केवल माता होने के कारण ही महत्वशालिनी नही होती। उसके पुत्र या पुत्रो या सन्तान का योग्य होना भी आवश्यक है। यह योग्यता कई प्रकार की हो सकती है। वैदिक काल मे उन माताओ का विशेष आदर होता था जिनकी सन्तान बलिष्ट, वीर्यशाली तथा रणबांकुरी होती थी। इसका कारण यह था कि उस समय युद्ध आए दिन होते थे और इस प्रकार बल वीर्य का विशेष महत्व था। कबीर आदि सन्त कवियो की दृष्टि मे बल वीर्य वाला पुत्र विशेष महत्व नही रखता। वे तो भक्त पुत्र का ही अधिक महत्व मानते हैं। इसी कारण सन्त कवियो ने नारी की निन्दा करते हुए भी उन माताओ का गुणगान किया है, जिनकी कोख मे से ज्ञानी, भक्त या वैष्णव पुत्र का जन्म होता है, पर दूसरी ओर उन माताओ को धिक्कार है, जो अभक्त या शाक्त पुत्र को जन्म देती है। कबीर कहते हैं—

जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी।
ताकी विधवा काहे न गई महतारी ॥[3]

कबीर फिर कहते हैं—

कबीर धनि ते सुन्दरी जिनि जाया वैसनो पूत।[4]

तुलसी का भी लगभग यही स्वर है, जब वे उस माता के नाश होने की कामना करते हैं जो पुत्र के भक्ति पथ मे बाधक हो—

---

१ दिव्य दोहा०, पृ० ६३।
२ रत्नावली दोहा०, ६०।
३ आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना, पृ० ८ पर उद्धृत।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५३।

(ख) सन्तान—

सन्तान के सन्दर्भ मे गृहिणी को माता की सज्ञा दी गई है। स्त्रियो के व्यक्तित्व का मातृपक्ष कुछ दष्टियो से सबमे अधिक महत्वपूर्ण, सबल तथा सुन्दर है। प्राचीन भारत मे स्त्रियो के अत्यधिक आदर का प्रधान कारण यही था।[१] यही नही जो स्त्री जितने अधिक पुत्रों की माता होती थी उसका महत्व उतना ही अधिक था। ऋग्वेद में इन्द्राणी ने मनुसुना परशु की एक बार मे २० सन्तान पैदा करने के लिए बडी प्रशसा की है।[२] प्राचीन साहित्य मे स्त्री का पर्याय क्षेत्र (खेत) मिलता है यह भी उसके और्वर्य की ओर ही सकेत करता है। वैदिक और लौकिक सस्कृत के पूरे साहित्य मे सन्तानवती नारी या माता की बडी प्रशसा की गई है।

नारी के लिए पुत्रवती या सन्तानवती होना आवश्यक माना गया है। असन्तानवती या वन्ध्या स्त्रियाँ घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं और किसी शुभ कार्य मे उनका आना या सामने पडना अच्छा नही माना जाता। इस प्रकार नारी का माता न बनना अशुभ है। अन्य गुणों के साथ पुत्रिणी नारी दुर्लभ कही गई है। रामचरित उपाध्याय लिखते हैं—

पतिबरता अरु पुत्रिणी पाक प्रवीन पवित्र।
रूपवती पण्डित तिया दुरलभ रामचरित्र ॥[३]

माता की महिमा कई कारणो से है। सबसे बडी बात तो यह है कि वही किसी जाति या राष्ट्र को जीवित रखने वाली है। उसी के आधार पर पीढी के बाद पीढी आती है। इस प्रकार विश्व की सारी उन्नति, उसकी सारी आशाएँ योग्य माताओ पर ही आधारित हैं। इसके अतिरिक्त, माता का व्यक्तित्व बहुत ही महान् है। वह प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, करुणा, सौहार्द्र, ममता तथा उत्सर्ग आदि की प्रतिमूर्ति है। हरिऔध ने अपनी "दिव्य दोहावली" मे माता की महिमा और गरिमा के सम्बन्ध मे दो दोहे कहे हैं जो इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं—

उसकी महिमा कथन मे मति होती है मौन।
जग में जीवनदायिनी माता सम है कौन॥
उसका जीवन स्नेह परिपूरित चित है धन्य।
माता सी त्राता न है अवनीतल मे अन्य॥[४]

---

1 The mother outlived the wife The latter reached the climax of her power and importance when she become a mother
(*Women in Rigveda*, पृ० १४४)

२ वही, पृ० १४४।

३ ब्रज सत०, पृ० ३६।

४ दिव्य दोहा०, पृ० ६३।

इसके अतिरिक्त माता का महत्व एक और कारण से भी है, जैसा कि कहा भी गया है। उसका सम्बन्ध ससार के सभी सम्बन्धो का मूल है।

चित्त समादर सहित है करता सदा कबूल।
माता नाता है सकल नाताओ का मूल ॥[1]

इस प्रकार माता होना किसी स्त्री के लिए बडे सौभाग्य तथा गर्व का विषय है। कुछ स्त्रियाँ इसी लालच मे अपने पति से अपने को पुत्रवती होते न देख साधु और सन्तो का आश्रय ग्रहण करती है। नीति साहित्य मे इस बात की निन्दा की गई है। रत्नावली कहती है—

जो तिय सतति लोभ बस करति अपर नर भोग।
रत्नावलि नरकहि परति जग निदरत सब लोग ॥[2]

यहाँ एक और बात भी विचारणीय है। माता केवल माता होने के कारण ही महत्वशालिनी नही होती। उसके पुत्र या पुत्रो या सन्तान का योग्य होना भी आवश्यक है। यह योग्यता कई प्रकार की हो सकती है। वैदिक काल मे उन माताओ का विशेष आदर होता था जिनकी सन्तान बलिष्ट, वीर्यशाली तथा रणबांकुरी होती थी। इसका कारण यह था कि उस समय युद्ध आए दिन होते थे और इस प्रकार बल वीर्य का विशेष महत्व था। कबीर आदि सन्त कवियो की दृष्टि मे बल वीर्य वाला पुत्र विशेष महत्व नही रखता। वे तो भक्त पुत्र का ही अधिक महत्व मानते हैं। इसी कारण सन्त कवियो ने नारी की निन्दा करते हुए भी उन माताओ का गुणगान किया है, जिनकी कोख मे से ज्ञानी, भक्त या वैष्णव पुत्र का जन्म होता है, पर दूसरी ओर उन माताओ को धिक्कार है, जो अभक्त या शाक्त पुत्र को जन्म देती है। कबीर कहते हैं—

जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी।
ताकी विधवा काहे न गई महतारी ॥[3]

कबीर फिर कहते है—

कबीर धनि ते सुन्दरी जिनि जाया बैसनो पूत।[4]

तुलसी का भी लगभग यही स्वर है जब वे उस माता के नाश होने की कामना करते हैं जो पुत्र के भक्ति पथ मे बाधक हो—

---

१ दिव्य दोहा०, पृ० ६३।
२ रत्नावली दोहा०, ६०।
३ आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना, पृ० ८ पर उद्धृत।
४ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५३।

जरउ सु सम्पति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहज सहाइ ॥[१]

आधुनिक युग मे माता के महत्व की यह भावना परिवर्तित हो गई । प्राचीन भावना भक्ति काव्य के अनुकूल थी । इधर परतन्त्र भारत मे जब चेतना आने लगी तो देश मे भक्ति के स्थान पर वीरता का सचार होने लगा ।

भारतेन्दु ने सच्ची स्वामिनी की परिभाषा दी है—

वीर प्रसविनी बुध बधू का होय दीनता खोय ।[२]

वीर सतसई मे वियोगी हरि उस माता की प्रशसा करते हैं जो—

पाठु पढावति मातु नित लै उछग निज लाल ।
ललन वीर व्रत धारियो धरि पछारियौ काल ॥[3]

इस प्रकार हिन्दी नीति साहित्य मे मिलने वाले ये दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं, जिनसे माता के महत्व को आका गया है । रत्नावली ने उन सारी बातो मे सामजस्य स्थापित करते हुए कहा है कि वही माता धन्य है जिसने सपूत पैदा किया । सौ पुत्र पैदा करने वाली माँ से तो बाझ अच्छी है यदि वे पुत्र कुपुत्र हैं—

रतन बाझ रहिबो भलौ भले न सौउ कपूत ।
बाझ रहै तिय एक दुप पाइ कपूत अपूत ॥[४]

माता का पुत्र पर अतुलित प्रेम होता है । वह अपने अधे, लँगडे या बीमार पुत्र का भी परित्याग नही करती—

अन्ध-पगु रोगी बधिर सुतहि न त्यागति माय ।[५]

इसी कारण कहा जाता है कि मनुष्य ससार मे सब के ऋण से उऋण हो जाय पर माता से नही हो सकता। उस पर माता के आभार की सीमा नही ।

रतन जनक धन ऋन उऋन बहु जग जन गन होइ ।
पै जननी ऋण सो उऋन होइ विरलजन कोइ ॥[६]

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है कि पुत्र कुपुत्र हो जाय पर माता कुमाता नही हो सकती ।[७] आशय यह है कि पुत्र अयोग्य सिद्ध होकर भले ही माँ के

---

१ तुलसी दोहा०, १३६ ।
२ आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना, पृ० १२ पर उद्धृत ।
३ वीर सत०, पृ० २६ ।
४ रत्नावली दो०, १८५ ।
५ वही, १३३ ।
६ वही, १८६ ।
७ कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति । —शकराचार्य ।

प्रति अपने कर्तव्यो का पालन न करे पर उसकी माता उसके प्रति कुमाता होकर अपने कर्तव्य नही भूल सकती। नारी के माता के रूप की यही महानता है।

कर्तव्य—माता का सवसे वडा कर्तव्य सन्तान का उचित ढग से पालन-पोषण करना है। वच्चे गीली मिट्टी हैं। उन्हे जैसा भी हम वनाना चाहे सरलता से वना सकते हैं। इसी कारण वचपन की आदतें और संस्कार मृत्यु-पर्यन्त साथ रहते है।

वारेपन सों मातु पितु जैसी डारति वानि।
सो न छुटाए पुनि छुटत रतन भयेहु सयानि ॥[1]

इसी कारण माता का उत्तरदायित्व वहुत अधिक है। वही शिशु या वालक के प्रत्यक्ष सम्पर्क मे रहती है। उसे शिशु का लालन-पालन इस ढग से करना चाहिए कि वह अवगुणी न वन जाय।

वालहि लालहु अस रतन सो न औगुनी होय।[2]

सच्चा लालन-पालन वही है, जिससे वच्चा दिनोदिन अधिकाधिक गुण ग्रहण करता रहे—

दिन दिन गुन गुरुता गहै साँचो लालन सोइ।[3]

रत्नावली ने ठीक ही कहा है कि माता को अपनी सन्तान को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि लोग देखकर सराहना करें।

वालहि सीप सिपाय अस लपि लपि लोग सिहाँय।
आसिप दें हरपें रतन नेह करें पुलकाँय ॥[4]

इसके विरुद्ध जो माताएँ अपनी सन्तान को इस प्रकार की शिक्षा नही देती वे उसकी शत्रु है।

जनक शत्रु जननी अरिहि जे न सिखायो वाल।
असि सन्तति नहिं सोहही काग ज्यो मध्य मराल ॥[5]

टोना-टोटका—कुछ माताएँ अपने वच्चो के स्वास्थ्य आदि के लिए टोने टोटके का सहारा लेती हैं। टोने-टोटके की परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। अथर्ववेद मे भी इस तरह की वहुत सी चीजे मिलती है। अव सभ्य लोगो मे तो इसका प्रचार नही है पर अशिक्षित तथा ग्रामीणो मे अव भी इसका वोलवाला है। हिन्दी नीति-काव्य मे इसका विरोध किया गया है।

---

१ रत्नावली दो०, १३८।
२ वही, १८७।
३ रत्नावली दोहा०, १८७।
४ रत्नावली दोहा०, १८८।
५ नीति छन्द०।

जादू टोना है लग्यो जानहिं मूरख नारि।
बालक ले के नीच से कहै दीजिये झारि ॥
कहैं दीजिए झारि देइ सो मुख से फूंका।
होवै भ्रष्टाचार पडै मुख ऊपर थूका ॥
दीन कहे तब अधिक सुखी हो बालक लोना।
जब माता गुणवती न मानै जादू टोना ॥[१]

(ग) अन्य परिचित—

ससुराल या अपने घर मे पति तथा सन्तान के अतिरिक्त और भी बहुत से लोगों के सम्पर्क मे स्त्री को आना पडता है। इन लोगो मे ससुर, सास, ननद, जेठ, जेठानी, देवर, देवरानी, सखी, पडोसी, सौत तथा नौकर आदि प्रधान है। इन लोगो को तीन वर्गों मे रखा जा सकता है प्रथम वर्ग अपने बडो या गुरुजनो का है। इसमे ससुर-सास, जेठ तथा जेठानी आदि है। दूसरा वर्ग प्राय अपने बराबर के लोगो का है। इसमे ननद, सखी, पडोसी, तथा सौत आदि है। तीसरा वर्ग अपने से छोटो का है। इसमे देवर, देवरानी, नौकर तथा नौकरानी आदि है।

(क) बड़े—बडो के प्रति स्त्री को श्रद्धाभाव रखना चाहिये। बडो मे नीति काव्य मे ससुर, सास, और जेठानी इन तीन ही का प्राय नाम मिलता है। ससुर तो स्पष्टत पिता के समान है। सास और जेठानी माता के समान है। रत्नावली ने कहा है-

सासु जिठानी जननि सम।[२]

इन तीनो मे भी सास और ससुर का स्थान तो और भी ऊँचा है। तुलसी ने तो लिखा है कि स्त्री के लिए सास और ससुर की सादर पद पूजा से बडा कोई धर्म नही है—

एहि तें अधिक धरमु नहि दूजा।
सादर सास ससुर पद पूजा ॥[३]

रत्नावली ने भी कहा है कि कुलीन स्त्री के लिए सास, ससुर तथा पति के चरण ही तीर्थ और चारो धाम है। इनकी सेवा से लोक और परलोक दोनो बनता है—

सास ससुर पति पद रतन कुल तिय तीरथ धाम।
सेवइ तिय जग जस लहै पुनि पति लोक ललाम ॥[४]

---

१ सामान्य नीति काव्य, पृ० ४८।
२ रत्नावली दो०, ७४।
३ मानस, पृ० २७।
४ रत्नावली दो०, १५५।

स्त्री को नित्य प्रति प्रात इनके चरणो को प्रणाम करना चाहिए ।[१] उसे इनकी आज्ञाओ का आँख मूंद कर पालन करना चाहिए । यदि कभी ये कडवी बात कहे तो वैद्य की कडवी दवा की भाँति अपने लिए हितकारी जानकर उसका स्वागत करना चाहिए—

मात पिता सासू ससुर ननद नाथ कटु बैन ।
भेषज सम रत्नावली पचत करत तनु चैन ॥[२]

(ख) बराबर—बराबर के लोगो मे ननद, सखी, पडोसी तथा सौत आदि प्रमुख है । वय आदि के आधार पर इनमे कुछ लोग छोटे-बडे भी होते है पर प्राय इन्हे बराबर ही समझा जाता है—

ननद को अपनी बहिन समझना चाहिए ।

रत्नावली ने लिखा है—

ननदहि भगिनि समान ।[3]

ननद के साथ भी स्नेह-बरताव रखने तथा उसका हित चिन्तन करने का आदेश है ।[४] रत्नावली ने ननद के कडवे वचन को भी वैद्य की कडवी औषधि की भाँति हितकर बतलाया है ।[५]

ननद और भावज का वैमनस्य भारतीय साहित्य मे प्राचीन काल से ही मिलता है । लोक गीतो मे इस प्रकार के बहुत से गीत हैं, जिनमे इस वैमनस्य का चित्रण है । हिन्दी साहित्य मे भी इसके यत्र-तत्र चित्र मिल जाते है । मीराबाई और ऊदाबाई की बात प्रसिद्ध ही है । इस विरोध का कारण सम्भवत यह है कि भावज के आने के पूर्व भाई का अतुलित प्रेम बहिन पर रहता है । पर भावज के आने पर वह उधर खिच जाने के कारण कम हो जाता है, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप भावज ननद के कोप का भाजन बनती है ।

नीति-काव्य मे स्त्री को अपनी ननद को बहन के समान समझने का आदेश देने मे घर के वातावरण को व्यवस्थित रखने की ओर ही कदाचित नीतिकारो का ध्यान है ।

पडोसी स्त्रियो से भी दिन-रात का सम्पर्क रहता है । पडोस ही समय-असमय, घटे-बढे अपने काम आता है । बहुत से नीतिकारो ने इस सम्बन्ध मे स्नेह भाव रखने

---

१ रत्नावली दोहा०, १५४ ।
२ वही, ६६ ।
३ वही, ७४ ।
४ सुधा सरोवर, पृ० ५१ ।
५ रत्नावली दोहा०, ६६ ।

पातरवाली प्रीत मीठी लागे प्रथम मन ।
मद हुआ धन मीत हुवे विरस कडवी हुवे ।।[१]

यथार्थत पैसे लेने के लिए ही वह यह प्रेम दिखलाती है ।[२]

लज्जा को नारी का भूषण कहा गया है । नीति का एक छन्द है—

कुल तिय मडन लाज वचन मडन प्रसन्न मुख ।
मति मडन कवि कर्म साधु मडन समाधि सुख ।।[३]

पर इसके विरुद्ध निर्लज्जता ही वेश्या के लिए उचित कही है । लजाने वाली वेश्या दुखद कही गई है—

पति मूरख वेस्या सलज अविनय सुत सठ मित्र ।
सूम स्वामि सेवक बधिर सुखद न राम चरित्र ।।[४]

वेश्या के लिए सौन्दर्य तथा शारीरिक स्वच्छता का बहुत महत्व है, इसीलिए घाघ ने कहा है—

वनिय क सखरज ठकुर क हीन ।
वैद क पूत व्याधि नहिं चीन ।
पडित चुप चुप वेस्वा मइल ।
कहैं घाघ पाँचो घर गहल ।।[५]

तथा

आलस नीद किसानै नासै ।
चोरै नासै खाँसी ।
अँखिया लीवर वेसवै नासै ।
वावे नासै दासी ।।[६]

निर्लज्जता, स्वच्छता तथा सौन्दर्य के साथ ही वेश्या का अवस्था में कम होना भी अच्छा कहा गया है । इसीलिए वेश्याएँ अपनी अवस्था कम बतलाती हैं—

वेस्या वरस घटावही जोगी वरस बढाय ।[७]

---

१ बांकीदास ग्रन्थ०, भाग २, पृ० ४ ।

२ बार वधू ही हरण वित नेह जणावे नेण । —बांकीदास ग्रन्थ०, भाग १, पृ० ६५ ।

३ सभा विलास, पृ० ६८ ।

४ ब्रज सतसई०, पृ० ३६ ।

५ घाघ, २६ ।

६ वही, ४१ ।

७ सभा विलास, पृ० ६ ।

वेश्याएँ ठगने मे बहुत प्रवीण होती है ।

गनिका कुटिल कटाक्ष खल केहि न ठगत सहास ।[1]

इसीलिए रामचरित उपाध्याय ने उन्हे धूर्तता सम्बन्धित कलाओ का पण्डित माना है—

ह्वै निलज्ज मन मोहिवो मृखा नेह धन लैन ।
विनु गनिका कोऊ इन्हे अपर सिखाइ सके न ।।

वेश्या के सम्बन्ध मे नीति-काव्य मे कही गई बातो के आधार पर कहा जा सकता है कि नीति के कवियो ने वेश्याओ को अनेकानेक दुर्गुणो का घर माना है तथा उनसे दूर रहने का आदेश दिया है। साथ ही उनके कथन से यह भी ध्वनि निकलती है कि इस वृत्ति का जितना ही जल्दी उन्मूलन हो सके उतना ही अच्छा है।

(ड) स्वास्थ्य—

शरीर ही हमारे सभी कर्मो का आधार है। यद्यपि सन्त कवियो ने शरीर को नश्वर तथा पाप का घर माना है और इसीलिए उसकी सेवा की बडी निन्दा की है[2] पर बिना इसके धर्म भी तो नही किया जा सकता। सस्कृत की लोकोक्ति है—

शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्

दुलारेलाल भार्गव भी कहते हैं—

सबै सुखन को सोत, सतत निरोग शरीर है।
जगत जलधि को पोत, परमारथ पथ रथ यहै ।।[3]

अत जब बिना उचित स्वास्थ्य के मनुष्य कुछ कर ही नही सकता तो निश्चय ही उसका पहला कर्तव्य यह है कि वह शरीर को स्वस्थ रखे। हिन्दी नीति-काव्य मे भी इस बात का अनुभव किया गया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

शरीर ही से पुरुषार्थ चार।
शरीर की है महिमा अपार ।।
शरीर रक्षा पर ध्यान दीजै।
शरीर सेवा सब छोड कीजै ।।[4]

स्वास्थ्य विज्ञान मूलत वैद्यक या चिकित्सा शास्त्र के अन्तर्गत आता है, इसी

---

१ कन्हैयालाल पोद्दार, क० कौ०, भाग २, पृ० २६१।

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० २२. १६, सहजो बाई, पृ० १८ ७; सुन्दर ग्रन्थ०, पृ० ७२०. ७ ८। दे० पीछे 'धर्म और आचार नीति' अध्याय में "शरीर" शीर्षक।

३ दुलारे दो०, ३५।

४ द्विवेदी काव्यमाला, पृ० ४१४।

कारण हिन्दी नीति-काव्य मे इसके सागोपाग और व्यवस्थित विवेचन की आशा नहीं की जा सकती। इसमे स्वास्थ्य-विषयक कुछ प्रधान बातें ही चलते ढङ्ग से कह दी गई है।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे सब से आवश्यक यह है कि मनुष्य सयम से रहे, अर्थात् जिस समय जो (शयन, भोजन, पान, व्यायाम, विश्राम, स्नान तथा सम्भोग आदि) जिस मात्रा मे करना उचित हो करे। छत्रसाल ने कहा है—

सयम सी न औषधि, न विद्या सो अटूट धन,
नेह सो न बन्धु औ दया सो पुन्य कौन सो ॥[1]

सयम विषयक कुछ बातो के सम्बन्ध मे निश्चित निर्देश भी नीति-काव्य मे मिलते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। रामचरित उपाध्याय प्रात कालीन सम्भोग को बहुत ही अस्वास्थ्यकर बतलाते हैं—

मरनो हो तो ठानि लै वहै सुनै यह बात।
कै विष खैयै मीचि दृग के करु विषय प्रभात ॥[2]

घाघ के अनुसार अधिक मात्रा मे खाना हानिकर है। जो अपनी भूख से कुछ कम खाते हैं, उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है—

रहै निरोगी जो कम खाय।[3]

दिन का सोना प्राय बुरा कहा जाता है, पर घाघ कहते हैं कि जेठ मे दिन मे सोना लाभकर है। जो ऐसा करता है उसे बरसात मे होने वाला ज्वर नही होता—

जेठ मास जो दिन में सोवै।
ओकर जर असाढ मे रोवै ॥[4]

घाघ ने ऋतुओ के अनुसार कुछ चीजें खाना या कुछ कार्य करना लाभकर तथा कुछ हानिकर बतलाया है। यहाँ दोनो सूचियाँ देखी जा सकती हैं—

लाभकर—

सावन हर्रे भादो चीत। क्वार मास गुड खायउ मीत।
कातिक मूली अगहन तेल। पूस मे करै दूध से मेल ॥
माघ मास घिउ खीचरि खाय। फागुन उठि के प्रात नहाय।
चैत मास में नीम बेसहनी। बेसाखै मे खाय जडहनी ॥[5]

---

१ छत्रसाल ग्रन्थ०, पृ० १२।
२ ब्रज सत०, पृ० ४६।
३ घाघ, ८६।
४ वही, २१। प्रयोग की कसौटी पर यह बात कितनी सच उतरेगी, कहना कठिन है।
५ वही, २१।

हानिकर—

चैतै गुड़ वैसाखै तेल। जेठ क पथ असाढ़ क बेल।
सावन साग न भादों दही। क्वार करैला कातिक मही।
अगहन जीरा पूसै धना। माघे मिश्री फागुन चना।।[१]

कुछ खाद्य पदार्थ ऐसे भी होते हैं, जो एक साथ खाने पर हानि पहुँचाते हैं। नीति-काव्य मे कुछ इनके निर्देश भी है। घाघ कहते है कि अरवी की तरकारी के साथ पूरी खाना प्राण को लेने वाला है—

जाको मारा चाहिए बिन मारै बिन घाव।
वाको यही बताइए घुइयाँ पूरी खाव।।[२]

दही और मूली एक साथ खाना भी अस्वास्थ्यकर है—

मूरी दही न खाइए उपजै तन मे पीर।[३]

फल खाने के बाद पानी पीना भी अस्वास्थ्यकर कहा गया है।

पानी पीउ न फल मुल खाय।[४]

भोजन ताजा करना चाहिए। बासी भोजन अस्वास्थ्यकर तथा बुद्धि-नाशक है।

घग्घा उनकी बुद्धि बिनासै, खाँय जो रोटी बासी।[५]

खाने के बाद पेशाब करना और फिर कुछ देर बाएँ करवट लेटना आवश्यक कहा गया है। घाघ लिखते है—

खाइ कै मूतै सूतै बाउँ। काहे के बैद बसावै गाउँ।[६]

खाने की भाँति पानी पीने के बारे मे भी विधि-निषेध है।

गुरु कीजै जान कर। पानी पीजै छान कर।

प्रसिद्ध कहावत है। घाघ के अनुसार सबेरे उठते ही पानी पीना बड़ा लाभकर है।

प्रात काल खटिया ते उठि के पिअइ तुरन्तै पानी।
कबहूँ घर मे बैद न अइहैं बात घाघ कै जानी।।[७]

---

१ घाघ, २०।
२ वही, ८०।
३ नीति छन्द०।
४ वही।
५ घाघ, ३६।
६ वही, ८५।
७ घाघ, ८७।

स्वास्थ्य के लिए सांस की गति के आधार पर काम करने के भी सकेत हिन्दी नीति साहित्य मे मिलते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ चरनदास लिखित "ज्ञान स्वरोदय" है। यह पूरी पुस्तक इसी विषय पर है कि नाक के किस पुरवे से सास आते समय क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

बाईं करवट सोइये जल बाएँ स्वर पीव।
दहिने स्वर भोजन करे तो सुख पावै जीव।।[1]

पर इसके विरुद्ध—

बाएँ स्वर भोजन करै, दहिने पीवै नीर।
दस दिन भूला यो करै, पावै रोग सरीर।।[2]

लघुशका और शौच के सम्वन्ध मे चरनदास कहते हैं—

दहिने स्वर झाडै फिरै बाएँ लघुशकाय।[3]

इसी प्रकार की और बातें भी इसमे वर्णित हैं।

ये सब बातें स्वस्थ व्यक्ति को दृष्टि में रखकर कही गई हैं। अस्वस्थ व्यक्ति के लिए भी नीति काव्य में उचित परामर्श है। रोग चाहे कितना भी छोटा हो उसे छोटा नही समझना चाहिए। तुलसी ने लिखा है—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।[4]

आशय यह है कि रोग होते ही, चाहे वह छोटा हो या बडा उसका उचित उपचार होना चाहिए।

चिकित्सक का पुराना होना अच्छा कहा गया है।

नव घृत अरु तरुनी नवल पर वर वैद्य पुरान।[5]

स्वास्थ्य-विषयक कुछ अन्य फुटकर बातें भी नीति-काव्य मे कही गई हैं। जैसे, कसरत करने, नहाने और सोने के विषय मे घाघ कहते है—

अतरे खोतरे डडे करै।
तालु नहाय ओस मा परै।
दैव न मारै अपुवइ मरै।[6]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४२०।
२ वही।
३ वही।
४ तुलसी सूक्ति सुधा, पृ० ३६१।
५ नीति छन्द०।
६ घाघ, ५,४।

आशय यह है कि कसरत लगातार करनी चाहिए। कभी करने और कभी न करने से स्वास्थ्य का नाश हो जाता है। ताल में नहाना और ओस मे सोना भी हानिकर है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्वास्थ्य के विषय मे हिन्दी नीति काव्य मे सामान्य व्यावहारिक बातो का अच्छा निर्देश किया गया है, और व्यक्ति यदि इनका ध्यान रखे तो उसके अस्वस्थ होने की सम्भावनाएँ कम हो सकती हैं।

(च) खेती—

कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत मे खेती जीविकार्थ किए गए सभी कामो मे श्रेष्ठ मानी गयी है। लोकोक्ति है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी भीख निदान॥

दामोदरसहाय सिंह ने अपनी "सुधा सरोवर" पुस्तक के नीति-निचय भाग मे इसे अपने शब्दो मे कहा है—

उत्तम खेती जानिये मध्यम है व्यापार।
अधम नौकरी अधमतम भीख कहावत सार॥[1]

साथ ही मनुष्य की सबसे प्रधान समस्या पेट का भी समाधान इसी कारण होता है, अतएव इस दृष्टि से भी इसे सर्वोत्तम मानना अन्यथा नही कहा जा सकता।

---

१ सुधा सरोवर पृ० ४०।

पराशर मुनि खेती की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे कहते हैं—

अवस्त्रत्व निरन्नत्व कृषितो नैव जायते।
अनातिथ्यञ्च दुःखित्व दुर्मनो न कदाचन॥

(खेती करने वाले व्यक्ति को अन्न और वस्त्र का कष्ट नहीं होता। अतिथि सेवा मे असमर्थता एव अन्य दुखो से भी उसका मन कभी दुखी नहीं होता।)

सुवर्ण रौप्यमाणिक्य वसनैरपिपूरिताः।
तथापि प्रार्थयन्त्येव कृषकान् भक्त तृष्णया।

(सोना, चांदी, मणिक और वस्त्र आदि के सम्पन्न लोगो को भी खाद्य पदार्थ की इच्छा से किसानो से ही प्रार्थना करनी पड़ती है।)

अन्न तु धान्य सम्भूतं धान्य कृष्या विना न च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य कृषि यत्नेन कारयेत्।

(अन्न से भोजन बनता है और वह खेती से उत्पन्न होता है, अतएव दूसरे काम छोड़कर सर्व प्रथम खेती करनी चाहिए।)—ग्राम साहित्य, पृ० ८३-८४।

मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है—

कृषि कर्म की उत्कर्षता सर्वत्र विश्रुत है सही।[१]

पर आज भारत मे कृषको को इतना कष्ट है कि यहाँ कृषि कर्म आदर की दृष्टि से नही देखा जा रहा है। गुप्त जी ने लिखा है—

पर देख अपने कर्षको को चित्त मे आता यही।
हा देव क्या जीते हुए आजन्म मरना था उन्हें।।
भिक्षुक बनाते पर विधे ! कर्षक न करना था उन्हें।[२]

और उस पुरानी कहावत[३] के स्थान पर—

खेती निपन गवार कर, चतुर चाकरी लोग।[४]

का प्रचार है। इसका प्रधान कारण यह है कि पढे-लिखे लोग इधर नही झुक रहे हैं, अतएव नवीन वैज्ञानिक ढङ्गो का इसमे प्रयोग नही हो रहा है।

हिन्दी नीति-काव्य मे खेती और खेतिहारो से सम्बद्ध इन सामान्य बातो के अतिरिक्त कृषि विज्ञान से सम्बन्धित विशिष्ट बातें भी वर्णित हैं। इस दृष्टि से विशेष सम्पन्न घाघ तथा भड्डरी हैं। यो कुछ सामग्री तुलसी तथा दामोदरसहाय सिह आदि मे भी मिल जाती है। यहाँ निम्नाकित प्रधान विषयो पर नीति-काव्य मे कही गई प्रमुख बातें दी जा रही है—

(१) किसान	(२) बैल
(३) खेत	(४) खाद
(५) जोताई	(६) बीज
(७) बोआई	(८) खोटाई
(९) सिंचाई	(१०) निराई
(११) कटाई	(१२) वर्षा
(१३) ओला	(१४) पाला
(१५) अकाल और सुकाल	

किसान—खेती या किसानी मे बडे परिश्रम की अपेक्षा होती है, अतएव किसान को बहुत कर्मठ होना चाहिए। घाघ कहते हैं—

---

१ भारत भारती, पृ० ९२।

२ वही, पृ० ९२।

३ उत्तम खेती मध्यम बान। निकृष्ट चाकरी भीख निदान।।

४ सुधा सरोवर, पृ० ४०।

बाढ़ै पूत पिता के धर्मा ।
खेती उपजै अपने कर्मा ।।[1]

खेती अपने ही कर्म से उपजती है । जो किसान बहुत आलसी या बहुत सोने वाला होता है उसकी खेती चौपट हो जाती है ।

आलस नीद किसानै नासै ।[2]

घाघ ने किसानो के तीन भेद किए हैं । एक तो वे हैं जो स्वय हल चलाते हैं अर्थात् अपने बल पर खेती करते है, दूसरे वे हैं जो स्वय कुछ न करके नौकरो से कराते हैं पर स्वयं उनके साथ सदा रहते हैं और तीसरे वे है जिनके सारे काम नौकर करते हैं और वे स्वय कोई दिलचस्पी नही लेते । ये क्रम से उत्तम, मध्यम, और अधम हैं—

उत्तम खेती जो हर गहा ।
मध्यम खेती जो सग रहा ।।
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ ।
बीज बूड़िगे तिनके तहाँ ।।[3]

घाघ ने अन्यत्र भी कहा है कि सन्देशे से खेती नही होती—

परहथ बनिज सदेसे खेती ।
. ...
ये चारो मिलि पीटैं छाती ।।[4]

अतएव अपने नौकर-चाकर कितने ही क्यो न हो, स्वय किए बिना खेती अच्छी नही होती—

खेती पाती बीनती और घोडे की तग ।
अपने हाथ सँवारिये लाख लोग हो सग ।।[5]

इस प्रकार उत्तम किसान वही है, जो परिश्रमी तथा अपने ही हाथ से खेती करने वाला हो ।

बैल—आज मशीन के युग की बात तो नही कही जा सकती पर इसके पूर्व खेती के लिए बैलो का होना अत्यावश्यक था । घाघ ने बिना बैल खेती करने वाले को चौदह पुश्तो का लबार या झूठा कहा है—

---

१ घाघ, ५८ ।
२ वही, ६ ।
३ वही, १ ।
४ वही, ३२ ।
५ वही, १६ ।

बिन बैलन खेती करै बिन भैयन के रार।
बिन मेहरारू घर करै चौदह साख लबार ॥[१]

खेती के लिए जवान बैल अच्छे होते हैं। कम अवस्था के

बाछा बैल बहुरिया जोय।
ना घर रहै न खेती होय ॥[२]

या

खेत बे पानी बूढ़ा बैल।
सो गृहस्त साझे गहै गैल ॥[३]

बूढ़ै बैल से खेती अच्छी नही होती।

खेती के लिए कम से कम दो हलों की आवश्यकता घाघ ने बतलाई है। एक हल से केवल शाक-तरकारी की खेती की जा सकती है अन्न की नही। और एक बैल रखकर तो कुछ करना ही व्यर्थ है। उससे अच्छी तो कुदाली कही कई है—

दुइ हर खेती यक हर बारी।
एक बैल से भली कुदारी ॥[४]

चौंकने वाला बैल बहुत बुरा होता है।[५] साथ ही बैल का नाटा (बहुत छोटे कद का), डगमग डोलने वाला, बड़ी सीग वाला, गादर (चलते समय बैठ जाने वाला गरियार), सुस्त, मरकन (मारने वाला), तरकन (भडकने वाला), खैर (कत्थई रग का, यह अशुभ माना जाता है), नासू (जिसकी पसलियाँ बराबर हो, यह भी अशुभ है), कुबडा, काले रग और सात दन्त का उदत (यह भी अशुभ है) या मसुरिहा (जिसका डील लटका हो, यह भी अशुभ है) आदि होना बुरा कहा गया है।[६] अच्छे कद के बगौधा (पालतू, सीधा) मुडी सीग वाले, छोटी सीग और छोटी पूंछ वाले, कजरे (काली आंख के), गुच्छेदार पूंछ के, हिरनमुतान (जिसकी मूत्र-नलिका हिरन की तरह पेट मे चिपकी हो), काले, सुनहरे, लाल, मिश्रनी तथा मेवाती नस्ल के या नीले कधे तथा बैंगनी खुरो के बैल अच्छे होते है।[७]

---

१ घाघ, ७५।
२ वही, ३।
३ वही, २६८।
४ वही, ८२।
५ वही, २०।
६ वही, २१७, २१८, २२२, २८८, २६२, २६४ तथा २६५ आदि।
७ वही, २१६, २१६, २२३, २२८, तथा २२७ आदि।

सभी बैल सभी काम के योग्य नही होते—

जोतै क पुरबी लादै क दमोय ।
हेगा क काम दे जो देवहा होय ॥[१]

अर्थात् जोतने के लिए पूर्वी, लादने के लिए दमोय और हेगा के लिए देवहा बैल अच्छे होते है ।

बैलो को स्वस्थ और अधिक दिनो तक पुष्ट रखने के लिए चौरस जमीन जोतना, चराना, बरसात मे खाने को भूसा देना, तथा भादो मे सूखे घर मे रखना आदि आवश्यक कहा गया है—

समथर जोतै पूत चरावै ।
लगते जेठ भुसौला छावै ।
भादो मास उठै जो गरदा ।
बीस बरस तक जोतो बरदा ।[२]

खेत—खेती का आधार खेत ही है । इसके सम्बन्ध मे तुलसी और घाघ ने सक्षेप मे विचार किया है ।

तुलसी घर से बहुत दूर के तथा रास्ते पर के खेत को बुरा कहते है ।

पाही खेती लगन बढि ऋण कुव्याज मग खेत ।[३]

घर से दूर के खेत की ठीक से रक्षा नही हो पाती और यदि उसी की रक्षा पर आदमी पूर्णत मुस्तैद हो तो घर की रक्षा नही हो पाती । इसीलिए उसे बुरा कहा गया है । रास्ते पर का खेत भी बुरा है । आते-जाते आदमियो तथा पशुओ से उसमे बोई गई फसल का रास्ते के समीप का भाग नष्ट हो जाता है ।

खेत के सम्बन्ध मे तीन अन्य बातो का ध्यान भी आवश्यक माना गया है । खेत समथल होना चाहिए । इससे जोतने-बोने मे सरलता होती है तथा बैल पर बहुत भार नही पडता[४] । बहुत छोटे खेत बैल की दृष्टि से अच्छे नही होते । घाघ के शब्दो मे बैल कहता है—

ना मोहि नाधो उलिया कुलिया ।[५]

---

१ घाघ, २२६ ।
२ वही, २२० ।
३ तुलसी सत०, ७. ११६ ।
४ घाघ, २२० ।
५ वही, २२१ ।

साथ ही खेत का ऊँची मेढ तथा अपने पानी को न बहने देने वाला भी होन अत्यावश्यक है। इससे खेत की शक्ति बहकर व्यर्थ नही जाने पाती—

खेत बेपनिया बूढा बैल।
सो किसान साँझै गहै गैल ॥[1]

खाद—खाद ही खेती की जान है। बिना उसके खेती व्यर्थ है—

खाद परै तो खेत।
नही त कूडा रेत ॥[2]

एक कहावत मे तो यहाँ तक कहा गया है कि भाग्य का लिखा टल सकता पर खाद डालना निष्फल नही जा सकता।

खादै कूडा ना टरै करम लिखा टरि जाय।

खाद कई प्रकार की होती है, जिसमे प्रधान गोबर, मैला, नीम की खली

गोबर मैला नीम की खली।
याते खेती दूनी फली ॥[3]

खेत मे पानी का सडना,

गोबर मैला पानी सडे।
तब खेती मे दाना पडे ॥[4]

चोकर तथा चकवड और अडूसे की पत्ती,

गोबर चोकर चकवड रूसा।
इनके छोडे होय न भूसा ॥[5]

नील का डठल,

अव्वर खेत जो जुट्टी खाय।
सडै बहुत तो बहुत मोटाय ॥[6]

सनई,

सन के डठल खेत छिटावै।
तिनके लाभ चौगुना पावै ॥[7]

---

१ घाघ, २६८।
२ वही, ६४।
३ वही, ६५।
४ वही, ६६।
५ वही, ६८।
६ वही, १०७।
७ अज्ञात।

तथा हड्डी का चूर्ण,

वही किसानी मे है पूरा ।
जो छोड़ै हड्डी का चूरा ।।

आदि हैं। खाद ऐसे समय मे डालनी चाहिए जब उसके बह जाने का भय न रहे इसीलिए खाद देने के पूर्व खेत के डाँड को ऊँचा कर लेना उचित है ।

जोताई—जोताई का प्रथम गुर यह है कि यह खूब गहरी होनी चाहिए । कहावत है—

जेतना गहिरा जोतै खेत ।
बीज परै फल अच्छा देत ।।[1]

पर सबके लिए यह बात नही है । यदि खेत मे धान बोना हो तो गहरा जोतने की कोई आवश्यकता नही—

गहिर न जोतै बोवै धान ।
सो घर कोठिला भरै किसान ।।[2]

जोतने मे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि खेत की घास अच्छी तरह उखड जाय ।

जोतै खेत घास ना टूटै ।
तेकर भाग साँझ ही फूटै ।।[3]

जोताई मे गहराई के साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह बीटर अर्थात् दूर-दूर न हो ।

बिड़रे जोत पुराने बिया ।
ताकी खेती छिया बिया ।।[4]

कच्चे खेत मे अच्छी जोताई भी हानिकर सिद्ध होती है । कच्चे खेत से आशय उस खेत से है जिसका पानी अच्छी तरह सूखा न हो ।

कच्चा खेत न जोतै कोई ।
नाही बीज न अँकुरै कोई ।।[5]

चने के खेत को जोतने के बाद हेंगाना नही चाहिए और जोतना भी इस

---

१ घाघ, ४८ ।
२ वही, ४१ ।
३ वही, ४० ।
४ वही, १०२ ।
५ वही, ७६ ।

प्रकार चाहिए कि खेत मे मिट्टी भुरभुरी न हो जाय अपितु ढेले हो, क्योंकि ढेले वाले खेत मे ही इसकी पैदावार अच्छी होती है—

जब सेल खटाखट बाजै।
तब चना खूब ही गाजै॥[1]

जोतो की सख्या सभी अन्नो के लिए अलग अलग है। चना के लिए एक-दो जोत पर्याप्त हैं। मटर के लिए कुछ इससे अधिक और जो के लिए कुछ और अधिक। पर गेहूँ के लिए तो खेत को १० से १६ बार तक जोतने की आवश्यकता होती है और ईख के खेत को बीस बार।

दस बाहों का मांडा।
बीस बाहो का गांडा॥[2]

ईख के खेत मे तो बोने के बाद भी एक प्रकार की जोताई होती है जिसे गोडाई कहते हैं। यह गोडाई प्राय १३ बार आवश्यक है—

तीन कियारी तैरह गोड।
तब देखो ऊखी के पीर॥[3]

बीज—बीज के सम्बन्ध मे जानने की प्रमुखत दो बाते हैं। एक तो यह कि बीज पुराना नही होना चाहिए—

बिडरै जोत पुराने बिया।
ताकी खेती छिया बिया॥[4]

दूसरे प्रत्येक अन्न उचित मात्रा मे बोया जाना चाहिए। उससे कम या अधिक बीज डालने पर खेती अच्छी नही होती। यहाँ सभी अनाजो के बीज की तोल देनी सम्भव नही। उदाहरण के लिए कुछ की मात्रा दी जा रही है—

जो गेहूँ बोवे पाँच पसेर।
मटर के बीघा तीसै सेर॥
बोवै चना पसेरी तीन।
तिन सैर बीघा जोन्हरी कीन॥[5]

---

१ घाघ, ३३।
२ वही, ४५।
३ वही, ५२।
४ वही, १०२।
५ वही, ११८।

अर्थात् जौ और गेहूँ के बीज बीघे मे पांच पसेरी, मटर के छ पसेरी, चना के तीन पसेरी और जोन्हरी के तीन सेर बोए जाने चाहिए।

बोआई—बोआई के समय का ध्यान रखना आवश्यक है। देर से बोने से फसल अच्छी नही होती—

आगे की खेती आगे आगे।
पाछे की खेती भागे जागे ॥[1]

या

अगाई, सो सवाई।[2]

बोने मे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि किस स्थिति के खेत मे क्या बोया जाय। उदाहरणार्थ किसी जङ्गल के पास यदि बाजरा बो दिया गया, तो फल यह होगा कि जङ्गल से आने वाली चिड़ियाँ सब खा जांयगी।

आस पास रबी बीच मे खरीफ।
नोन मिर्च डाल के खा गया हरीफ ॥[3]

बोआई के बारे मे दिनो के शुभाशुभ के विचार के सम्बन्ध मे भी नीति-काव्य मे कुछ बातें कही गई हैं।

बुध बउनी। सुक लउनी।[4]

अर्थात् बुद्ध को बोना और शुक्र को काटना चाहिए।

या

बुद्ध बृहस्पत दो भले, सुक्र न भले बखान।
रवि मगल बोउनी करैं, द्वार न आवैं धान ॥[5]

दिनो की ही भांति नक्षत्रो मे भी बोने का आदेश या निषेध है। धान के बारे मे कहा है—

अद्रा धान पुनर्वसु पैया।
गया किसान जो बोवै चिरैया ॥[6]

अर्थात् अद्रा नक्षत्र में धान बोना चाहिए। पुनर्वसु मे बोने से पैया (बहुत पतला जो व्यर्थ समझा जाता है) होगा और पुष्य मे बोने मे बिल्कुल नही होगा।

---

१ घाघ, २९२।
२ वही, ८५।
३ वही, ३१९।
४ वही, १०४।
५ वही, ९०।
६ वही, ७८।

कटाई के सम्बन्ध मे दो बातो का ध्यान रखा जाता है। एक तो यह कि कौन फसल किस महीने मे प्राय पकती है और दूसरी यह कि कौन फसल पूर्णत पक जाने पर काटी जाती है और कौन उसके पूर्व ही।

ईख के पकने का समय वसन्त है।

लाग वसन्त। ऊख पकन्त।[1]

धान स्वाति नक्षत्र के सात दिन बीतने पर पक जाता है—

सात सेवाती। धान उपाठ।[2]

या

कन्या धाने मीन जौ। जहाँ चाहै तहाँ लौ।[3]

अर्थात् कन्या राशि में धान और मीन मे जौ पक जाते हैं। इसके बाद उन्हे जब इच्छा हो काटा जा सकता है।

प्राय सभी अन्न पकने पर काटे जाते हैं पर चना अधपका काटा जाता है। गेहूँ के काटने का समय तब आता है जब उसकी बाल लटक जाय।

चना अधपका जौ पका काटै।
गेहूँ बाली लटका काटै॥[4]

मँड़ाई व दँवाई—खलिहान मे लाने पर कुछ सूख जाने के बाद गल्ले को बैलो से रौंदाया जाता है, यही मँड़ाई या दँवाई है। मँडाई के लिए पछुवाँ हवा बडी अच्छी होती है। यह खुश्क रहती है और इस कारण अनाज का डण्ठल जल्द टूटता है। पर दूसरी ओर पुरवैया मे नमी रहती है अत डण्ठल टूटने मे देर लगती है। कहा जाता है कि पछुवाँ से तीन गुना अधिक समय पुरुवा में दंवाई कराने मे लगता है—

दो दिन पछुवाँ छ पुरुवाई।
गेहूँ जौ को लेव दँवाई॥[5]

या

गेहूँ जौ जब पछुवाँ पावै।
तब जल्दी से दाया जावै॥[6]

---

१ घाघ, १२४।
२ वही, ३२०।
३ वही, ११०।
४ वही, १४६।
५ वही, १४८।
६ वही, १४५।

ओसाई—ओसाना भी पछुवाँ हवा मे ही उत्तम है। घाघ के अनुसार पछुवाँ के ओसाऐ अन्न मे घुन नही लगता।

पछुवा हवा ओसावै जोई।
घाघ कहे घुन कवहूँ ना होई ॥[१]

वर्षा—खेती के लिए वर्षा आवश्यक है। वर्षा वादल से होती है। वादल के रङ्ग और रूप से वर्षा होने और न होने का अनुमान लगाया जा सकता है। काले रग का वादल पानी से भरा समझा जाता है पर यथार्थत वह केवल डरावना होता है। अच्छा पानी भूरे रग के वादल से वरसता है।

करिया वादर जिउ डरवावै।
भूरे वदरै पानी आवै ॥[२]

यदि वदली आकाश मे तीतर के पख की भाँति लहरदार छाई हो तो पानी अवश्य वरसता है—

तीतर वरनी वादरी रहे गगन पर छाय।
कहै डक सुन भड्डरी विनु वरसे ना जाय ॥[३]

इसी प्रकार यदि वादल हवा के उलटे चढते दिखाई दें तो पानी अवश्य वरसता है—

उलटा वादर जो चढै विधवा खडी नहाय।
घाघ कहैं सुन भड्डरी यह वरसै वह जाय ॥[४]

इन्द्रधनुप से भी वर्षा का पता चलता है—

साँझे धनुप सकारे मोरा।
ये दोनो पानी के वौरा।[५]

अर्थात् यदि सायकाल इन्द्रधनुप हो और प्रात मोर वोले तो पानी वहुत वरसेगा।

आकाश भी वर्षा का ज्ञान कराता है—

आभा राता। मेह पाता ॥[६]

अर्थात् आकाश लाल हो तो वर्षा वहुत होगी।

---

१ घाघ, १४६।
२ वही, १९४।
३ वही, ११५।
४ वही, १९।
५ वही, २७।
६ भड्डरी, ६।

हवा थमी हो तो भी वर्षा का होना अवश्यम्भावी माना जाता है—

पवन थक्यो ・ ・・・ ・

वा दिन बरसे मेह ॥[१]

जानवरो, पक्षियो तथा अन्य चीजो से भी वर्षा का आगम जाना जाता है। कुछ उदाहरण हैं -

मट्ठे और मोर से—

बोले मोर महातुरी खाटी होय जु छाछ।
मेह मही पर परन को जानो काछे काछ॥[२]

अर्थात् मोर जल्दी-जल्दी बोले और मट्ठा खट्टा हो जाय तो पानी का आगम समझना चाहिए—

पानी, चिडिया और चीटी से—

कलसे पानी गरम हो, चिडिया न्हावै धूर।
अण्डा ले चीटी चलै तौ वरषा भरपूर॥[3]

मेढक से—

उतरै जेठ जो बोलै दादुर।
कहै भड्डरी बरसै बादर॥[४]

इसी प्रकार दिन, नक्षत्र, दिशाओ तथा गर्मी-सर्दी आदि से भी वर्षा का आगम जाना जाता है।

ओला—ओला फसल के लिए बडा हानिकर सिद्ध होता है। इसके भी गिरने का समय जाना जा सकता है—

माघ मे बादर लाल धरै।
तब जान्यो साँचो पथरा परै॥[५]

पाला—पाला भी खेती विशेषत आलू, मटर आदि के लिए बडा हानिकर है। इसके गिरने का अनुमान भी कुछ पहले से लगाया जा सकता है—

जै दिन भादो बहै पछार।
तै दिन पूस मे पडै तुसार॥[६]

---

१ भड्डरी, ११९।
२ वही, १२१।
३ वही, १२।
४ वही, ६९।
५ घाघ, १६२।
६ वही, १५३।

अकाल—अति-वृष्टि या अनावृष्टि के कारण जब खेती ठीक से नही हो पाती और अन्न का अत्यधिक अभाव हो जाता है, तो अकाल पडता है। अकाल का आगम जानने के विषय मे भी नीति-काव्य मे कुछ सामग्री मिलती है। इसके लिए कई युक्तियाँ हैं। कुछ प्रधान यहाँ दी जा रही हैं—

कौवे और सियार से—

रात्यौ बोलै कागलो दिन मे बोलै स्याल।
तो यो भाखै भड्डरी निहचै परै अकाल॥[1]

तारा से—

सावन सुक्र न दीसै निहचै पडै अकाल।[2]

अर्थात् सावन मे यदि शुक्र अस्त हो तो अवश्य अकाल पड़ेगा।

दिनो से—

माघ मास सनि पाँच हौं फागुन मगल पाँच।
काल पडैगो भड्डरी जोतिस को मत साँच॥[3]

अर्थात् माघ मे यदि ५ शनिवार और फागुन मे ५ मगलवार पडें तो अकाल पडेगा।

इसी प्रकार नक्षत्र, आकाश, पशु तथा और भी बहुत सी चीजो के आधार पर अकाल जानने का नियम है। अकाल की ही भाँति सुकाल की भी सूचना हिन्दी नीति-काव्य के अनुसार विभिन्न चीज़ो से मिलती है। एक उदाहरण लिया जा सकता है—

आसाढै धुर अष्टमी चन्द उगतो जोय।
कालो वै तो करवरो धोलो वै तो सुगाल॥[4]

असाढ वदी ८ का चन्द्रमा उगते समय यदि काले या सफेद बादलो मे हो तो सुकाल की सम्भावना रहती है।

नीति-काव्य मे खेती के लिए आवश्यक प्राय सभी बाते सामान्य ढङ्ग से दे दी गई हैं। ये बातें बीते युगो के अनुभवो पर आधारित हैं, और देहात मे किसान प्राय इनसे लाभान्वित होते हैं, अतएव कुछ अशो मे ये विश्वानीय भी हैं। हाँ सुकाल-अकाल, पाला तथा ओला आदि के विषय मे भविष्य के बातो के अनुमान के लिए जो आधार दिए गए हैं, उनके विषय मे निश्चय के साथ कुछ नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिको द्वारा परीक्षा अपेक्षित है।

---

१ भड्डरी, १३४।
२ घाघ, ३१७।
३ भड्डरी, १३।
४ वही, १८।

(छ) व्यापार—

जीविका के रूप में व्यापार का स्थान भारतीय समाज मे नौकरी से उच्च और खेती से निम्न रहा है। लोकोक्ति है—

उत्तम खेती मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी भीख निदान॥

सुधा-सरोवर मे भी कहा गया है—

उत्तम खेती जानिए, मध्यम है व्यापार।
अधम नौकरी अधमतम, भीख कहावत सार॥[1]

पर अब यह भावना बदल गई है, और व्यापार सर्वश्रेष्ठ कहा जाने लगा है। हरदीन त्रिपाठी लिखते हैं—

प्रथम कृषी उत्तम रही, अब उत्तम व्योपार।[2]

इस उत्तमता का कारण है व्यापार मे लाभ, स्वच्छन्दता और आराम का आधिक्य।

रोजगार बानिज्य को सुखप्रद अरु स्वच्छन्द।
जामे निज लछिमी बसति, देर करत मति मन्द॥[3]

व्यापार के सम्बन्ध मे हिन्दी नीति-काव्य मे अधिक नही कहा गया है। गुप्त जी देश के व्यापार के नष्ट होने पर दु ख प्रकट करते हैं और पुन व्यापार के क्षेत्र मे उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं—

वैश्यो सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं पार है क्या क्लेश का।
अब भी न यदि कर्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ।
तो पास हैं वे दिन कि जब भूखो मरोगे तुम यहाँ॥[4]

दामोदरसहाय सिंह कहते हैं कि व्यापार के लिए बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता नही है। जिसने भी दत्तचित्त होकर इसे आरम्भ किया देखते ही देखते वह धनिक हो गया।

जनि सोचहु धन बल नही, जनि सोचहु बुधि नाहिं।
लघु धन से प्रारम्भ करि, लाखपती बनि जाहिं॥[5]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ४०।
२ सामान्य नीति-काव्य, ३३।
३ सुधा सरोवर, पृ० ४७।
४ भारत भारती, पृ० १६८।
५ सुधा सरोवर, पृ० ४७।

वे आगे उदाहरण देते है—

लखहु मारवाडी वनिक सिर पर धरि दुइ थान ।
आज फिरत वेचत अधम कालिह सेठ परधान ॥[1]

इस प्रकार—

यहि विधि या व्यापार मे जिन जिन दीन्हो चित्त ।
तिन तिन थोडहि काल मे वहुत वटोरो वित्त ॥[2]

व्यापार के लिए सव मे आवश्यक है इस वात को जानना कि कहाँ कौन सी वस्तु अधिकता से होती है और कहां उसकी कमी है । इसका विचार करके व्यापार करने वाला शीघ्र सफल होता है । दामोदरसहाय सिंह ने—

कौन वस्तु की कहँ कमी, कौन कहाँ अधिकात ।[3]

द्वारा इसी ओर संकेत किया है ।

आजकल कई व्यक्ति मिलकर कम्पनी रूप मे यदि व्यापार करे तो अधिक सुविधा होती है । नीति-काव्य मे यह करने की भी सलाह दी गई है—

अलग अलग व्यापार मे वहु व्यय स्रम लघु आय ।
याते मिलि कर कम्पनी, कारज करहु वनाय ॥[4]

व्यापार पूर्णरूपेण लाभप्रद तव तक नही होता जव तक कि स्वय न किया जाय । घाघ ने कहा है कि दूसरे के भरोसे व्यापार करने वाले छाती पीटकर रोते हैं, अर्थात् उन्हे हानि होती है—

पर हथ वनिज सदेसे खेती ।
... ...
ये चारो मिलि पीटैं छाती ॥[5]

इस प्रकार व्यापार के सम्वन्ध मे कुछ मोटी-मोटी वातों का ही हिन्दी नीति-काव्य मे संक्षेप मे उल्लेख कर दिया गया है । अन्त मे एक अज्ञात कवि का दोहा उद्धृत किया जा सकता है, जिसमे व्यापार मे सफलता के मूल मन्त्र समाहित कर लिए गए है—

श्रम चातुरी एकाग्रता अरु सच्चा व्यवहार ।
समय ज्ञान अरु नम्रता मूल मन्त्र व्यापार ॥[6]

---

१ सुधा सरोवर, पृ० ४७ ।
२ वही, पृ० ४७ ।
३ वही, पृ० ४८ ।
४ वही, पृ० ४८ ।
५ घाघ, ३२ ।
६ नीति छन्द० ।

(ज) शकुन—

सस्कृत के नीति-ग्रन्थो मे शकुन के सम्बन्ध मे सामग्री प्राय नही मिलती, पर, हिन्दी मे कुछ मिल जाती है। इस दृष्टि से तुलसी, चरनदास, जायसी तथा भड्डरी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। शकुन यथार्थत ज्योतिष का एक अग है। इसका सम्बन्ध फलित ज्योतिष से है।

हिन्दी नीति-काव्य मे वर्णित शकुन मे प्रधान रूप से निम्नाकित कार्यों के लिए शकुन-विचार करने का विधान दिया गया है—

(क) यात्रा।

(ख) नवीन वस्त्रो का पहनना।

(ग) विवाह, शिक्षारम्भ तथा दान आदि शुभ कार्य।

(घ) लेन-देन या खेती का आरम्भ।

(ङ) अन्य।

इन विषयो पर शकुन विचारने के आधार निम्नाकित हैं—

(अ) दिन

(आ) नक्षत्र

(इ) तिथि

(ई) समय

(उ) विभिन्न प्रकार के मनुष्यो, पशुओ, पक्षियो, कीडो या वस्तुओ का मिलना, दिखाई पडना, कुछ क्रिया करना या गिरना आदि।

(ऊ) छींक

(ए) स्वर (नाक के दाएँ या बाएँ पुरवे से साँस निकालना)

इन सातो आधारो पर उपर्युक्त पाँच के विषय मे हिन्दी नीति-काव्य मे वर्णित शकुन-विचार यहाँ सक्षेप मे दिया जा रहा है।

यात्रा—जायसी "दिन विचार" को आधार मानते हुए यात्रा के विषय मे कहते हैं—

आदित सूक पछिउँ दिसि राहू।
बिहफै दखिन लक दिसि डाहू॥
सोम सनीचर पुरुब न चालू।
मगर बुद्ध उतर दिसि कालू॥[1]

---

१ पदुमावत, पृ० ४३३।

भड्डरी कहते है—

सोम सनीचर पुरब न चाल।
मगल बुद्ध उतर दिसि काल।
जो बिहफै को दक्खिन जाय।
बिना गुनाहै पनही खाय।
बुद्ध कहै मैं बडा सयाना।
मोरैं दिन जिन किह्यो पयाना ॥[१]

पर यदि ऐसे दिनो को किसी ऐसी दिशा मे जाना आवश्यक हो, जो शकुन के अनुसार वर्जित हैं तो कुछ टोटके किए जा सकते है। जायसी ने लिखा है—

अवसि चला चाहै जौं कोई।
ओखद कहौं रोग कहँ सोई।
मगल चलत मेलु मुख धना।
चलिअ सोम देखिय दरपना।
सूकहि चलत मेलु मुख राई।
बिहफै दखिन चलत गुर खाई।
आदित ही तम्बोर मुख मडिअ।
बावभिरंग सनीचर खडिअ।
बुद्धहि दधिकै चलिअ भोजना।
ओखद यहै और नहि खोजना।[२]

भड्डरी भी कहते है—

रवि तामूल सोम के दरसन।
भौमवार गुरु धनियां चरवन।
बुद्ध मिठाई बिहफै राई।
सुक्र कहै महि दही सुहाई।
सनी बाउबिरगी भावै।
इद्र जीति पुत्र घर आवै ॥[3]

शकुन और उपचार दोनो ही मे जायसी और भड्डरी के कथन बहुत मिलते-जुलते है। नही कहा जा सकता कि यथार्थत इनका रचयिता कौन है। यह भी

१ भड्डरी, १७८।
२ पदुमावत, पृ० ३७८।
३ भड्डरी, १७९।

असम्भव नही है कि 'लोक' मे इन बातों का प्रचार रहा हो और वही से दोनो ही ने ये बातें ली हो।

दिन के अतिरिक्त तिथि, नक्षत्र तथा विभिन्न जीवो और वस्तुओ या स्वर के आधार पर भी यात्रा के शकुन-विचार के सम्बन्ध मे तुलसी, जायसी, भड्डरी तथा चरनदास आदि ने बहुत सी बातें कही हैं। सक्षेप मे कुत्ते का कान फटफटाना, सामने से एक शूद्र, दो वैश्य, तीन ब्राह्मण और चार क्षत्रिय या नौ स्त्रियो का आना,[1] पाँच भैसे, छ कुत्ते, एक बैल, एक बकरा, तीन गाएँ या सात हाथी का मिलना,[2] रविवार को द्वादशी, मगल को एकादशी तथा बुद्ध को दशमी आदि का पडना[3] तथा दाहिने स्वर के चलने के समय दक्षिण या पश्चिम जाना[4] आदि अपशकुन हैं और नेवला मिलना, बायी ओर नीलकठ का चारा खाना, दाहिनी ओर कौआ दिखाई पडना[5], लोमडी का बार-बार दिखाई पडना, हरिन का बाएँ से दाहिने जाना सौभाग्यवती स्त्री का पानी से भरा घडा लाना, सामने दही, मछली, बछडा पिलाती गाय का मिलना[6], बाएँ स्वर के चलते समय बायाँ पैर आगे रखना[7], गोधूलि बेला के समय पूर्व मे, प्रात काल पश्चिम में, दोपहर को उत्तर मे और रात मे दक्खिन जाना शुभ है।[8]

यात्रा के लिए प्रस्थान रखने का भी नियम है। यदि किसी ऐसे दिन जाना आवश्यक हो जो यात्रा के योग्य न हो तो एक दिन पूर्व प्रस्थान (पायँत) रखा जाता है। प्रस्थान रखने के सम्बन्ध मे भड्डरी कहते हैं—

रविदिन वास चमार घर, ससि दिन नाई गेह।
मगल दिन काछी भवन, बुध दिन रजक सनेह॥
गुरु दिन ब्राह्मण के बसे भृगुदिन वैश्य मँझार।
सनि दिन वेस्वा के बसै भड्डर कहैं विचार॥[9]

अर्थात इन दिनो इनके यहाँ प्रस्थान रखना चाहिए।

---

१ भड्डरी, १८२।
२ वही, १८१।
३ तुलसी दोहा०, ४५८।
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४१९।
५ भड्डरी, १८३।
६ वही, १८७।
७ वही, १९३।
८ वही, १९३।
९ वही, १८८।

नवीन वस्त्र—नवीन वस्त्र के पहनने के सम्बन्ध में भड्डरी लिखते है—

कपड़ा पहिरै तीन बार।
बुद्ध वृहस्पत सुक्रवार ॥
हारे अबरे का इतवार।
भड्डर का है यही विचार ॥[1]

आशय यह है कि नवीन वस्त्र के लिए अच्छे दिन केवल तीन ही हैं। बुद्ध, वृहस्पत और शुक्रवार। बहुत आवश्यक होने पर रविवार को भी नवीन वस्त्र पहना जा सकता है, पर शेष सोमवार, मगल तथा शनि इस दृष्टि मे पूर्णत. वर्जित हैं।

शुभ कार्य—शुभ कार्यों के लिए रविवार की द्वादशी, सोमवार की एकादशी, मगल की दशमी, बुद्ध की तृतीया, गुरुवार की पष्ठी, शुक्र की द्वितीया तथा शनिवार, की सप्तमी अच्छी नही मानी गई हैं।[2]

स्वरो की दृष्टि मे शुभ कार्यों को आरम्भ करने के लिए वायाँ स्वर अच्छा माना गया है।[3]

दिन तथा तिथियो मे शुभ कार्यों के लिए कौन अच्छे हैं, इसका उल्लेख नीति-काव्य मे प्राय नही मिलता।

लेन-देन तथा खेती आदि—

श्रवण, धनिष्ठा, शतभिक्, हस्त, चित्रा, स्वाती, पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा अश्विनी, रेवती और अनुराधा नक्षत्र इनके लिए उपयुक्त हैं।[4] खेती की दृष्टि से भड्डरी कहते हैं—

इतवार करै धनवन्तरि होय।
सोम करै सेवा फल होय ॥
बुध विहफै सुक्र भरै बखार।
सनि मगल वीज न आवै द्वार ॥[5]

अन्य—अन्य शकुन-अपशकुन के विचार कितनी ही वातो के विषय मे दिए गए हैं। यहाँ उदाहरण के लिए कुछ देखे जा सकते हैं।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, १८१।
२ तुलसी दो०, ४५८।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ८।
४ तुलसी दो०, ४५६।
५ भड्डरी, १७६।

भरणी, विशाखा, कृत्तिका, आर्द्रा, मघा और मूल नक्षत्रों मे कुत्ते का काटना बुरा है।[1]

युद्ध करने यदि जाना हो तो दाएँ स्वर के चलने के समय चलना चाहिए। चरनदास कहते हैं—

युद्ध बाद रण जीते सोई।
दहिने स्वर मे चालै कोई॥[2]

छिपकली या गिरगिट के गिरने से भी शकुन का विचार होता है। इस सम्बन्ध में भड्डरी लिखते हैं—

सिर पर गिरै राज सुख पावै।
औ ललाट ऐश्वर्यहि पावै।
कठ मिलावै पिय को लाई।
कांधै पखे विजय दरसाई॥
जुगल कान औ जुगल भुजाहूँ।
गोधा गिरै होय धन लाहू॥
हाथन ऊपर जो कहुँ गिरई।
सम्पति सकल गेह मे धरई॥
निश्चय पीठ परै सुख पावै।
परै कांख पिय वन्धु मिलावै॥
कटि के परै वस्त्र बहु रगा।
गुदा परै मिल मित्र अभगा॥
जुगल जांघ पर आनि जो परई।
धन गन सकल मनोरथ भरई॥
परै जांघ पर होइ निरोगी।
परव परै तन जीव वियोगी॥
या विधि पल्ली सरट विचारा।
कहै भड्डरी जोतिस सारा॥[3]

छींक के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार लिखा है—

सनमुख छींक लडाई भाखै।
पीठ पाछिली सुख अभिलाखै॥

---

१ भड्डरी, १८०।
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४१८।
३ भड्डरी, १६०।

छींक दाहिनी धन को नासै ।
वाम छींक सुख सदा प्रकासै ।।
ऊंची छींक महा सुभकारी ।
नीची छींक महा भयकारी ।।
अपनी छींक महा दुखदाई ।
कह भड्डर जोसी समझाई ।।
अपनी छींक राम वन गयऊ ।
सीता हरन तुरते भयऊ ।।[1]

कहना न होगा कि आजकल ये मान्यताएँ प्राय अन्ध-विश्वास कही जाती हैं, और अब बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इनका ध्यान रखते हैं। वियोगी हरि ने इनका विरोध करते हुए अपनी वीर सतसई मे लिखा भी है—

अब पत्रा देखत कहा सोधत सुदिनु गँवार ।
परे कूदि रण कुंड वै रहै तोरि गढ द्वार ।।
....
चलत कबहुँ दिन सोधि तुम कबहूँ छींक बचाय ।
किन इन थोथे टोटकनु दई अनी बिचलाय ।।[2]



१ भड्डरी, १८९ ।
२ वीर सत०, पृ० ३० ।

: ६ :

नीति-काव्य का कला-पक्ष

(क) भाषा—

नीति-काव्य मे प्रयुक्त भाषाएँ—हिन्दी नीति-काव्य में प्रधान रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। रहीम, बीरबल, टोडरमल, रत्नावली, वृन्द, बिहारी, दीनदयाल गिरि, सुन्दरदास तथा छत्रसाल आदि प्राचीन एव दुलारेलाल, वियोगी हरि तथा रामचरित उपाध्याय (ब्रज सतसई) आदि आधुनिक कवियो के नीति-छन्द ब्रजभाषा मे ही हैं। तुलसी के भी कुछ नीति-छन्दो (दोहावली) की भाषा यही है। यो जन्म, निवास-स्थान या अन्य कारणो से इन कवियो की ब्रजभाषा में यत्र-तत्र कन्नौजी, बुन्देली, अवधी, बैसवाडी, राजस्थानी, खडीबोली या भोजपुरी के प्रभाव भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

तुलसी (दोहावली तथा मानस के कुछ नीति छन्द) नरहरि तथा गिरिधर कविराय आदि कुछ कवियो के नीति-छन्दो की भाषा अवधी है, पर साथ ही ब्रजभाषा के कवियो की भाँति ही इनकी भाषा मे भी ब्रज, बैसवाडी तथा खडीबोली आदि के कुछ रूप मिल जाते हैं।

अन्य बोलियो मे डिंगल तथा खडी बोली का भी हिन्दी नीति-काव्य मे प्रयोग हुआ है। डिंगल के लिए प्रधान रूप से बाँकीदास का, तथा खडी बोली के लिए राम-चरित उपाध्याय (सूक्तिशतक), महात्मा भगवानदीन एव दिनकर आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन पर भी ब्रज, अवधी या भोजपुरी का प्रभाव यत्र-तत्र मिल जाता है।

सन्त कवियो मे सुन्दरदास को छोडकर प्राय सभी के नीति-छन्दो की भाषा राजस्थानी, पजाबी, ब्रज, अवधी, खडीबोली तथा भोजपुरी आदि का मिश्रित रूप है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य मे प्रयुक्त प्राय सभी भाषाएँ न्यूनाधिक रूप से हिन्दी नीति-काव्य मे प्रयुक्त हुई हैं, यद्यपि प्रधान रूप से ब्रजभाषा का ही प्रयोग मिलता है।

शब्द-समूह—हिन्दी नीति-काव्य की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध है। बाँकीदास की डिंगल रचनाओ को छोडकर (जिनकी भाषा डिंगल है अतएव डिंगल शब्दो का प्रयोग अधिक है) हिन्दी के शेष नीति-काव्य मे नब्बे प्रतिशत से भी अधिक ऐसे प्रचलित और सरल शब्दो का प्रयोग है जो सामान्य हिन्दी पाठक के लिए बिल्कुल

अपरिचित नही हैं। यही कारण है कि नीति के छन्दो का सामान्य हिन्दी जनता मे अन्य छन्दो की अपेक्षा अधिक प्रचार है।

नीति-काव्य के शब्द-समूह पर संस्कृत, अरबी-फारसी-तुर्की तथा अन्य इन तीन उपशीर्षको के अन्तर्गत यहाँ विचार किया जा रहा है।

संस्कृत—हिन्दी साहित्य की अन्य धाराओ की भाँति उसकी नीति-धारा मे भी सस्कृत शब्दो की सख्या सबसे अधिक है। ये शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं। एक तो अपने शुद्ध रूप (तत्सम) मे जैसे न्याय, कुल, भेद, लोभ, चिन्ता, समय, उपकार, नारी आदि तथा दूसरे अपने विकसित रूप (तद्‌भव) मे जैसे गुन (गुण), विकार (विकार), सवद (शब्द), बिद्या (विद्या), परजा (प्रजा), असनान (स्नान), आस (आशा), तथा नेह (स्नेह) आदि।

तत्सम शब्द तीन प्रकार के है। एक तो वे हैं जो बहुत प्रचलित है और प्रतिदिन की भाषा मे भी जिनका प्रयोग प्राय होता है। उदाहरण के लिए सत्य, अत्याचार, आत्मा, रस, नर, पण्डित, मूर्ख, कुलीन, ज्ञान, सभा, कर्म, संग, जीव, सत्सग, कमल, मन, संसार, प्रेम, भूमि, कपट, अन्तर, पाप, धन, निन्दा, चिन्ता, अति, मन्दिर तीर्थ, भक्त, दान, सकट, उदय, पति, भक्ति, दुर्लभ, जन्म, छल, जन्तु, चातक, पृथ्वी, हृदय, धर्म, अधर्म, परोपकार, अगम, कुकर्म, पराधीन, कठिन, मृग, खल, लोभ तथा चिन्ता आदि। दूसरे प्रकार के तत्सम शब्द वे हैं, जिनका रोज की भाषा मे तो प्रयोग नही होता पर वे कठिन नही है। उदाहरण के लिए हेम, गगोदक, रद, मयंक, पवि, नयन, घृत, नृप, गज, कनक, नीर, गगन, निज, सुर, वध्या, अचल, क्लेश तथा रवि आदि लिए जा सकते है। तीसरे प्रकार के तत्सम शब्द वे है जो दुरूह है तथा जिन्हे साधारणतया लोग नही समझ सकते। इस प्रकार के शब्दो की सख्या नीति-काव्य मे बहुत ही कम है। हाटक, कोकनद, अमेध्य, श्येन, शाखी, श्वपच, मकरालय, अन्तोदक, कनक (धतूरा), दान (हाथी का मद), करंड, चलदल तथा वन (कपास) आदि इसी श्रेणी के है।

तद्‌भव शब्द तत्सम की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयुक्त हुए है। इन्हे भी तीन वर्गों मे रखा जा सकता है। पहला वर्ग ऐसे शब्दो का है जो प्राय: बोलचाल के हैं। हिन्दी नीति-काव्य मे ऐसे शब्द सख्या मे सबसे अधिक हैं। गुन, आतमा, विकार, सच, अचरज, सोच, निसोच, निहकरमी, आँख, दूध, थान, भरम, फूल, कोख, नेह, गरब, कुकरम, करम, पुन्य, मरजाद, अपजस, कीरति, दरपन, सोग, परजा, चरित्तर, तिरिया, कलेस, छीर, तिनका, बिद्या, बिख, बिरिध, पानी, बैराग, नांव, जम, परमेसर तथा सरनागत आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं। दूसरे प्रकार के वे तद्‌भव शब्द हैं जो उपर्युक्त शब्दो की भाँति सरल न होकर दुरूह हैं। उदाहरणार्थ **कच** (रत्न),

कुवत (निन्दा कुवार्ता), मदीठ (न देखने योग्य) कौंगा (कगाल), सोवन (स्वर्ण), जिह (धनुष की डोरी), गथ (दाम, पूँजी) व्यौरा (अन्तर), तथा सरावग (बौद्ध या जैन साधु), आदि लिए जा सकते है। तीसरे वर्ग के तद्भव शब्द ऐसे है जिन्हे तत्सम या तद्भव शब्दो के आधार पर कवियो ने छन्द की मात्रा या तुक आदि के लिए तोड़-मरोड़ कर बना लिया है। कबीर, दादू तुलसी, नरहरि, छत्रसाल, घाघ तथा गिरिधर कविराय आदि मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। बचन्न (वचन), जल्ला (जल), नीत (नीति), पल्ला (पाला), दाया (दया), चीन (चीन्हे, चिन्ह), साचा (साच, सच), कूची (कुञ्जी), अवा (आम), वानियाँ (वनियाँ), मीता (मीत, मित्र), उझी (उलझी), रतन्न (रत्न), दम्मा (दाम), मोरा (मोर), सगा (सग), तिनूका (तिनका), रीती (रीति), बैंकुण्ठा (बैकुण्ठ), धना (धनियाँ), सुसगू (सुसग), विपती (विपत्ति), मूला (मूल), मनन (मन), तथा विसेषी (विशेष) आदि इसी श्रेणी के शब्द हैं।

फारसी, अरबी तथा तुर्की—फारसी, अरबी तथा तुर्की के शब्दो का भी हिन्दी नीति साहित्य मे प्रयोग मिलता है। इन तीनो मे फारसी शब्द सबसे अधिक, अरबी शब्द उससे कम तथा तुर्की शब्द सबसे कम मिलते हैं।

सस्कृत के शब्दो की भाँति ही इन शब्दो को भी तत्सम और तद्भव दो वर्गो मे तथा तीन-तीन उपवर्गो मे रखा जा सकता है। नीचे सक्षेप मे ये वर्ग तथा उपवर्ग कुछ उदाहरणो के साथ दिए जा रहे है।

तत्सम—

अतिप्रचलित—आह, अगूर, अनार, दर्द, साहव, दर, इल्म, इन्सान, अल्लाह, गुलाव, अमीर, हलाल, हराम, हिम्मत, पीर, आमद, इलाज, कबूतर तथा किताब आदि।

अल्पप्रचलित—अ जाम, आदल, दरकार, आव, महवूव, गिला, दीदार तथा इमाम आदि।

अप्रचलित तथा दुरूह—अम्वोह (भीड़), हिमायत (वहादुर) तथा नर्द (चौसर की गोटी) आदि।

तद्भव—

अतिप्रचलित—सैतान, जमात, खवर, कागज, दुसमन, जोर, अरज, गैर, मौजि, फकीर, साहेव, चसमा, दरियाव, आसिक, करज, वदाम, वकील, गजव, गरीव, कीमत, कहर, इनसाफ, काजी तथा खरच आदि।

अप्रचलित—चिराक (चिराग), नकीव (भाट), औजूद (मौजूदगी), नफस (आतमा, वासना), मसलत (मसलहत), मौमर (मयस्सर), तथा कुमाच (कुमाश) आदि।

छन्द के लिए तोड़े-मरोड़े हुए शब्द—खोदाय (खुदा), किम्मत (कीमत), मसीति (मस्जिद), इताति (इताग्रत) तथा ग्रकव्वर (ग्रकवर) ग्रादि ।

ग्रन्य—ग्रन्य शब्द ग्रंग्रेजी तथा पुर्तगाली ग्रादि यूरोपीय भापाग्रो के है। इनका प्रयोग ग्राधुनिक युग के हरदीन त्रिपाठी, दामोदरसहाय सिंह 'कवि किंकर' तथा दुलारेलाल भार्गव ग्रादि कवियो ने किया है। इन यूरोपीय शब्दो की संख्या वहुत थोडी है ग्रौर उनमे भी दो एक को छोडकर प्राय सभी ग्रंग्रेजी के हैं। ये शब्द ग्रधिकतर ऐसे है जो ग्राज हिन्दी के ग्रपने हो गए हैं ग्रौर इनका सभी वर्गो के लोगो मे प्रचार है। उदाहरण के लिए फीस, कम्पनी, डिग्री, ग्राफिस, कोर्ट, ग्रफसर, वूट, टाई, स्टिक, हाकी, गोल, ग्रेजुएट तथा पुलिस ग्रादि शब्द लिए जा सकते है। इनमे स्टिक तथा टाई ग्रादि तो शब्द ग्रंग्रेजी तत्सम हैं, पर पुलिस, ग्रफसर, ग्राफिस तथा फीस ग्रादि तद्भव रूप है।

ग्रंग्रेजी के शब्दो के ग्रतिरिक्त 'ग्रंग्रेज' तथा 'तमाखू' ग्रादि कुछ ग्रन्य यूरोपीय शब्दो का भी प्रयोग ग्राधुनिक नीति-साहित्य मे हुग्रा है। ये दोनो ही शब्द पुर्तगाली है।[1]

सम्भव है नीति-काव्य मे मुण्डा, द्रविड, चीनी तथा देशज शब्द भी हो पर ग्रभी तक इस दृष्टि से हिन्दी के शब्द-समूह का पूर्ण प्रामाणिक ग्रध्ययन नही हो सका है, ग्रत. निश्चय के साथ कुछ कहना सम्भव नही है।

कुछ लोगो ने ग्रंग्रेजी शब्द का न प्रयोग कर उनके लिए नए शब्द भी गढे हैं। ऐसे दो उदाहरण यहाँ दिए जा रहे है।

'न्यूज पेपर' के लिए 'कागजखबर'

हाथ लिए कागजखबर रह जाते मुँह वाय। —कवि किंकर

'मनीग्रार्डर' के लिए 'वितग्रायुस'

लौटि दैनहारेइ ढिग वितग्रायसु लौं जाय। —राजेश

कहना न होगा कि शब्दो के ये ग्रनुवाद शाब्दिक दृष्टि से तो ठीक हैं पर न तो ये प्रचलित हैं ग्रौर न उसके योग्य ही। यह प्रवृत्ति हिन्दी नीति-काव्य मे ग्रधिक नही है।

मुहाविरे—मुहाविरो के प्रयोग से भापा मे सक्षेप मे सुन्दर ढंग से ग्रधिक भाव व्यक्त करने की शक्ति ग्रा जाती है। हिन्दी के प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्य मे मुहाविरो का प्रयोग मिलता तो है पर ग्रधिक नही। ग्राधुनिक युग के भी उन्ही कवियो की भापा मे इसका विशेप रूप से दर्शन होता है, जिन्होंने उर्दू से परहेज़ नही रखा है। हिन्दी नीति-काव्य के लिए भी यही वात सत्य है। पुराने कवियो मे

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा 'ग्रंग्रेज' शब्द को फ्रासीसी मानते हैं।—हिन्दी भापा का इतिहास, प्रयाग, १९४९, पृ० ७४।

इसका कही-कही दर्शन मात्र हो जाता है और आधुनिक मे भी कुछ ही लोगो ने इसका प्रयोग किया है और वह भी कही-कही। यहाँ हिन्दी नीति-काव्य की कुछ मुहाविरा-युक्त पंक्तियाँ उदाहरण के लिए दी जा रही हैं—

१.	जो रहीम पग तर परो रगरि नाक अरु सीस	रहीम
२	करहिं ते फोकट पचि मरहिं सपनहुँ सुख न सुबोध	तुलसी
३	चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिय	तुलसी
४.	जाके कर में कर दयो	रत्नावली
५	सब गुड माटी होय	मलूकदास
६	बात चलै जो सभा मे ताको राखहु कान	जान
७.	कूप खोदिबो है वृथा जरन लगे जब गेह	दीनदयाल गिरि
८	इन तेरह सो तरह दिए बनि आवै साई	गिरिधर
९	पहिले हाथ पसार के बहुरि पसारै पायँ	गिरिधर
१०	टाँग को अडा के कैसे मुँहकी न खाएँगे	रामचरित उपाध्याय
११	सुजन परार्थ से न मुख मोडता है कभी	रामचरित उपाध्याय
१२	चालें ऐसी क्यो चलें पडे चाटना थूक	हरिऔध
१३	इन सठ मठधारीनु पै तोहू गिरति न गाज	वियोगी हरि
१४	यह विकास दिन द्वैक को मिलिहै माटी माँहि	दुलारेलाल भार्गव
१५	गई चौकडी भूलि तो पागुरि छोडि खडे तृन दाबि के दाँतन मे।	पूर्ण
१६	हाथ लिए कागजखबरि रह जाते मुँह बाय	कविकिंकर

लोकोक्तियाँ—यो तो लोकोक्तियो का प्रयोग हिन्दी साहित्य की सभी धाराओ मे हुआ है पर नीति की धारा मे यह सबसे अधिक है। इसका प्रधान कारण है दोनो की प्रकृति का एक होना। प्राय बहुत सी लोकोक्तियो मे नीति की बातें रहती हैं और दूसरी ओर बहुत से नीति के छन्द पूर्णतया या अंशत लोकोक्ति होते हैं। श्री विश्वम्भरनाथ खत्री के प्रसिद्ध लोकोक्ति कोष मे तुलसी, रहीम तथा वृन्द के बहुत से नीति के दोहे ज्यो के त्यो या अंश रूप मे लोकोक्ति मानकर रख दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी भी बहुत सी लोकोक्तियाँ हैं जो यथार्थत लोकोक्ति न होकर किसी कवि के छन्द या छन्दांश है। 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता', 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे', 'वेस्या बरस घटावही जोगी बरस बढाय' तथा 'मोह न नारि नारि के रूपा' आदि ऐसी ही लोकोक्तियाँ है।

हिन्दी के नीतिकारो मे लोकोक्तियो का सबसे अधिक प्रयोग प० प्रताप नारायण मिश्र ने अपने नीति-ग्रन्थ 'लोकोक्ति शतक' मे किया है। इसमे सभी

छन्दो के अन्त मे एक-एक लोकोक्ति है। यहाँ उदाहरण के लिए उमसे दो छन्द दिए जा रहे हैं—

करत नही श्रम निज हित हेत।
काल कर्म कहँ दूपन देत।
वुद्धि आलसिन को गई बेढ।
नाचि न आवै आगन टेढ॥

तथा

दुरवल के नित होहु सहाय।
हरि तूठे जग जस ह्वै जाय।
ताहि सताए अमहु अकाथ।
बकुला मारै पखना हाथ॥[1]

अन्य नीतिकार कवियो मे तुलसी, सुन्दरदास, वृन्द तथा वियोगी हरि आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से लिए जा मकते है। यहाँ हिन्दी नीति-काव्य से कुछ ऐसी पक्तियाँ दी जा रही हैं, जिनमे लोकोक्तियो का प्रयोग हुआ है।

(१) तुलसी भेंडी की धँसनि जड-जनता-सनमान। —तुलसी
(२) लोक रीति फूटी सहै आँजी सहै न कोइ। —तुलसी
(३) दीप हाथ कत कूआँ परिहै। —जान
(४) बीछू मन्त्र न जानई साँप पिटारे हाथ। —वृन्द
(५) जैसे बस सागर विषै करत मगर सो बैर। —वृन्द
(६) जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाछहि फूँकि। —वृन्द
(७) सीधी अँगुरी घी जम्यो क्योहूँ निकरै नाहि। —वृन्द
(८) देखी कै काहू सुनी लगत साँच को आँच। —रसनिधि
(९) जो गुड खाय सु कान विधावै। —सुन्दरदास
(१०) स्वान पूँछ सुधरै नहि अन्त टेढ को टेढ। —मलूकदास
(११) पचनि त्यौ परमेसुर बोलै। —छत्रसाल
(१२) जिमि आँधर कर आरसी जिमि वानर कर बीन। —वियोगी हरि
(१३) आदी के सुस्वाद को न कपि पहचानेगा। —रामचरित उपाध्याय

गुण—हिन्दी नीति-काव्य की भाषा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है। इसके लिए कवियो ने प्रमुखत दो बातो का ध्यान रखा है। एक तो सरल और प्रचलित शब्दो का प्रयोग और दूसरे प्रयोग करते समय शब्दो के लाक्षणिक या व्यंजनामूलक अर्थ

---

१ ये छन्द 'लोकोक्ति शतक' के छोटे सस्करण 'अनूठी कहावतें' से लिए गए हैं।

की ओर ध्यान न देकर अभिधार्थ पर ही प्राय ध्यान। इसके विपरीत कुछ छन्द ऐसे भी अवश्य मिल जाते हैं, जिनमे कठिन एव अप्रचलित शब्दो का प्रयोग है या जिनमे कुछ शब्द अप्रसिद्ध, अरूढ या लाक्षणिक अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। पर इस प्रकार के छन्द अपवादस्वरूप हैं और वे इस धारा की सामान्य प्रवृत्ति के अन्तर्गत नही आते।

यहाँ प्रसाद गुण के उदाहरणस्वरूप कुछ छन्द दिए जा रहे हैं। कहना न होगा कि हिन्दी नीति-काव्य के अधिक छन्दो की भाषा इन्ही की भाँति सरल एव स्पष्ट है।

करता था तौ क्यूं किया, अब करि क्यूं पछताइ।
बोवै पेड बबूल का अम्ब कहाँ तें खाइ॥[1] कबीर

समय पाय फल होत है समय पाय झरि जाय।
सदा रहे नहिं एक सी, का रहीम पछिताय॥[2] रहीम

जड चेतन गुण दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥[3] तुलसी

भागहीन को ना मिले भली वस्तु को भोग।
दाख पके मुख पाक को होत काग को रोग॥[4] वृन्द

जग नद मे तेरी परी देह नाव मझधार।
मन मलाह जो वस करै निहचै उतरै पार॥[5]
दुलारेलाल भार्गव

(ख) शैली—

शैलीगत प्रधान विशेषताएँ—नीतिकाव्य के सृजन मे नीतिकार कवियो का ध्येय पाठक या श्रोता को धार्मिक, व्यावहारिक तथा स्वास्थ्य एव शकुन आदि के विषय मे उपदेश देना या नीति की बातें बतलाना रहा है, इसी कारण स्पष्टता, सरलता और प्रभविष्णुता से अपनी शैली को समन्वित करने का उन्होने विशेष प्रयास किया है। उपदेश देने का ढग यदि सरल, स्पष्ट और प्रभावशाली न हो तो उसका देना और न देना बराबर है। यहाँ नीति-काव्य की शैलीगत इन प्रधान विशेषताओ पर कुछ विस्तार से विचार किया जा रहा है।

---

१ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ३०।
२ रहिमन विलास, पृ० २६।
३ तुलसी दोहा, ३६६।
४ वृन्द सत०, पृ० ४१६।
५ दुलारे दोहा०, पृ० ३६।

स्पष्टता और सरलता—स्पष्टता और सरलता हिन्दी नीति-काव्य की शैली के प्राण है। हिन्दी काव्य की अन्य धाराओं की भाँति इस धारा के कवियों का ध्यान व्यंजना और लक्षणा या उलझे अलकारों से बोझिल अभिव्यक्ति की ओर बिल्कुल नहीं गया। उन्होंने प्रधान रूप से शब्दों के अभिधेयार्थ का ही सहारा लिया और केवल सरल, सीधे तथा विषय की पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति मे सहायक अलकारों को ही अपनी रचना के लिए चुना। नीति-काव्य की शैली मे स्पष्टता और सरलता पर विशेष ध्यान केवल हिन्दी मे ही नहीं है। यह परम्परा संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश से होती आई है। दूसरे शब्दों मे प्राचीनकाल से ही नीति के लिए सरल और स्पष्ट शैली अपेक्षाकृत अधिक मान्य रही है। यह मान्यता अकारण नहीं है। बोझिल, दुरूह, या काव्य के व्यंजना-लक्षणामूलक दुर्बोध या असुबोध चमत्कारों से युक्त शैली मे भाव-गाम्भीर्य चाहे जो हो कहते या सुनते ही प्रभाव डालने की शक्ति नहीं रहती। पर नीति और उपदेश के क्षेत्र मे यह शक्ति अत्यावश्यक है, इसीलिए सरलता और स्पष्टता के बिना नीति-काव्य पगु हो जायगा। उसका सद्यः प्रभाव डालने का लक्ष्य ही समाप्त हो जायगा। इसी कारण केशव जैसे 'कठिन काव्य के प्रेत' और चमत्कारवादी कवि ने भी जब-जब नीतिपूर्ण सूक्ति या छन्द कहने का प्रयास किया है उन्हे अपनी अस्पष्ट और चमत्कारपूर्ण टेढी शैली को छोडकर सरलता, सुबोधता और स्पष्टता को अपनाना पडा है। रामचन्द्रिका मे राम परशुराम से 'होनहार' के सम्बन्ध मे कहते हैं—

टूटै टूटनहार तरु वायुहि दीजत दोष।
त्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष।
हम पर कीजत रोष कालि गति जानि न जाई।
होनहार ह्वै रहै मिटै मेटी न मिटाई॥
होनहार ह्वै रहै मोहमद सब को छूटै।
होय तिनूका बज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै॥[1]

क्या मुक्तककार और क्या प्रबन्धकार प्राय सभी नीतिकारो ने इसी प्रकार की सरल और स्पष्ट शैली को नीति के लिए अपनाया है।

अपनी शैली को इन दोनो गुणो से समन्वित करने के लिए जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नीतिकारों ने प्रधान रूप मे दो बातो का ध्यान रखा है—

१—अभिधार्थ पर ही प्रधान रूप से दृष्टि रखते हुए सरल एव प्रचलित शब्दो का प्रयोग।

---

१ रामचन्द्रिका, पृ० १२६।

२—भावाभिव्यक्ति मे प्रत्यक्ष सहायक सरल अलकारो का प्रयोग।

इसके विरुद्ध जहां भी कठिन या अप्रचलित शब्दो या अलकारो का प्रयोग किया गया है वहां प्रभविष्णुता एव आकर्षण का पूर्णतया अभाव है। बाकीदास के बहुत से नीति छन्दों मे यह दोष है।

प्रभविष्णुता—नीति के छन्द पढने या सुनने वालो को प्रभावित करने के लिए ही लिखे जाते हैं, अतएव बिना प्रभविष्णुता के उनकी कोई उपयोगिता नही।

काव्य मे प्रभविष्णुता के लिए दो बातो का होना आवश्यक है—

१—जो कुछ कहा जाय स्पष्ट और सरल हो।

२—कहने का ढग आकर्षक हो।

प्रथम के विषय में ऊपर विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि हिन्दी के अधिकाश नीतिकारों में यह वर्तमान है।

कहने के ढग की दृष्टि से हिन्दी नीति-काव्य को मोटे रूप से दो वर्गो मे रखा जा सकता है। पहले वर्ग में नीति-काव्य का वह अश है जिसके कहने का ढग पूर्णत सीधा साधा और गद्यवत् है। इस ढग से कहे गए नीति छन्दो मे बातें वाग्वैदग्ध-पूर्ण ढग से या सटीक उदाहरणों (अप्रस्तुत विधान) आदि के साथ न कही जाकर सीधे कही गई हैं। जगजीवन साहब कहते हैं—

भूलु फूलु सुख पर नहीं, अबहूँ होहु सचेत।
साईं पठवा तोहि कों लावो तेहि तें हेत ॥[1]

इस दोहे मे उसी ढग का सहारा लिया गया है। कबीर के

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगनाथ।
साध सगति हरि भगत बिनु कछू न आवै हाथ ॥[2]

या गिरिधर के

साई बैर न कीजिये गुरु पडित कवि यार।
बेटा बनिता पँवरिया यज्ञ करावन हार।
यज्ञ करावनहार राजमन्त्री जो होई।
विप्र पडोसी वैद्य आपको तपै रसोई।
कह गिरिधर कविराय युगन ते यह चलि आई।
इन तेरह सो तरह दिए बनि आवै साई ॥[3]

---

१ जगजीवनबाणी, पृ० १३०।

२ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ४६।

३ गिरिधर कुण्ड०, पृ० १६।

मे भी इसी ढग को अपनाया गया है। सन्तो एव गिरिधर जैसे कुछ अन्य कवियो द्वारा लिखित नीति-साहित्य का अधिकाश इसी प्रकार का है।

नीति-काव्य का दूसरा वर्ग वह है, जिसमे कहने का ढग सीधा और गद्यवत् न होकर काव्योचित एव आकर्षक है। इसमे भावो को स्पष्ट करने मे समर्थ उदाहरण आदि सरल अलकारो के प्रयोग के कारण ऊपर के छन्दो की शुष्कता नही है। रहीम, वृन्द तथा दीनदयाल गिरि आदि के अधिकाश नीति-छन्द इसी वर्ग के हैं। उदाहरणार्थ वृन्द का एक दोहा है—

करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात है सिल पर होत निसान ॥[1]

यहाँ कथित बात को उदाहरण से पुष्ट करने से छन्द अधिक आकर्षक और प्रभावशाली हो गया है। इसी प्रकार रहीम का एक दोहा है—

बिगरी बात बनै नहीं लाख करो किन कोय।
रहिमन फाटे दूध को मथे न माखन होय ॥[2]

कहना न होगा कि प्रथम वर्ग के ढग की शुष्कता दूसरे वर्ग मे नही है, इसीलिए प्रभविष्णुता की दृष्टि से दोनो मे बहुत अन्तर है। प्रथम मे इसकी मात्रा अत्यल्प या नहीं के बराबर है तो दूसरे मे अत्यधिक है।

नीति-काव्य की विभिन्न शैलियाँ—

नीति-काव्य मे विषय-वर्णन की कई शैलियाँ मिलती है। यहाँ उन पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

उपदेशात्मक शैली—उपदेशात्मक शैली हिन्दी नीति-काव्य की सबसे सीधी, स्पष्ट और नीरस शैली है। इसमे किसी भी प्रकार के ऐसे ढग के प्रयोग का प्रयास नही रहता, जिससे कथन आकर्षक और प्रभावशाली हो। सन्त कवियो, गिरिधर तथा घाघ और भड्डरी आदि के बहुत से नीति-छन्द इस शैली के हैं। कुछ उदाहरण लिये जा सकते है। सुन्दरदास 'विश्वास' करने के विषय मे उपदेश देते हैं—

सुन्दर अब विस्वास गहि सदा रहैं प्रभु साथ।
तेरौ कियो न होत है सब कुछ हरि के हाथ ॥[3]

आधुनिक कवि हरिदीन त्रिपाठी माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध मे कहते हैं—

सेवा कीजै मातु अरु पितु की सहित सनेह।
जाके शोणित शुक्र के मिले बनी यह देह ॥

---

१ वृन्द सत०, २११।

२ रहीम दोहा०, १३५।

३ सुन्दर ग्रन्थ०, ७१९।

मिले बनी यह देह जीव जामे सुख मानै।
जाके बिनु नहिं वेद ईश को भजन बखानै।।
दीन कहै पाछै पूजहु सब देवी देवा।
पहिले चित दे करहु मातु पितु गुरु की सेवा।।[1]

उदाहरणो से यह भी स्पष्ट है कि उपदेशात्मक शैली मे कवि व्यक्ति या समूह से सीधे उपदेश के स्वर मे कहता है जैसे 'बिस्वास गहि' या 'सेवा कीजै'। इसी कारण इस शैली की नीति कविताएँ उच्च कोटि की नही कही जा सकती और इनके रचयिता कवि से अधिक उपदेशक या सुधारक जैसे है।

उपदेशात्मक शैली के अन्तर्गत ही पहाडा, अखरावट, सोलह तिथि निर्नय, बारहखडी, बर्ननामा, ककहरा या अलिफनामा आदि रूप मे कहे गए उपदेशो के छन्द भी आते है, जिनमे हिन्दी या उर्दू के अक्षर, अक, तिथि या वार आदि मे क्रम से एक-एक को लेकर उपदेश के छन्द कहे गए है।

इस प्रकार वर्णमाला या अक आदि के अनुसार कविता करने की परम्परा भारतवर्ष के बाहर भी मिलती है। चासर ने ए, बी, सी के अनुसार मेरी के प्रति एक कविता लिखी थी और उसके भी पूर्व लगभग सन् १३३० ई० मे किसी फ्रासीसी कवि ने भी इस प्रकार की कविता की थी।[2]

भारत मे इस शैली के प्राचीनतम प्रयोग 'अगुत्तर निकाय' के सख्यात्मक उपदेशो मे मिलते है। आगे चलकर अपभ्रश के किसी पृथ्वीचन्द्र जैन नामक कवि ने सन् १३४३ के लगभग 'मातृका प्रथमाक्षर दोवक' मे इस शैली का प्रयोग किया है।[3]

हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो मे कबीर, सुन्दरदास, धरनीदास, पलटू साहब तथा सहजोबाई आदि सन्तो, जायसी तथा जान आदि सूफी कवियो एव विश्वनाथ सिह तथा रामसहायदास आदि ने इस शैली की कविता की है। इनकी इन रचनाओ मे साम्प्रदायिक रहस्योद्घाटन या योग आदि से सम्बद्ध बाते भी है पर कही-कही नीति या उपदेश की बातें भी हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१ सामान्य नीति काव्य, ३७।

२ Geoferey Chaucer—L lailavoix लन्दन पृ० ६३।

३ मलयाली साहित्य में 'अक्षराली' नामक काव्य भी इसी प्रकार का होता है। उसमें छन्द की प्रत्येक पक्ति के आरम्भिक अक्षर किसी वर्ण की बारहखडी के होते हैं। भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, काशी, २०१०, पृ० ४६।

'ल' अक्षर—लल्ला लालच बुरी बलाय यही सब बात बिगारी ।
लालच जेहि का नाम माया की है महतारी ॥[१]
'ए' अक्षर—एरणा नीच ऊँच नहिं देख देख सब एक पसारा ।
नहि बाह्मन नहिं सूद्र नही छत्री कोउ न्यारा ॥[२]
'क' अक्षर—क कै करहु करनी भली ज्यो आगे सुप होइ ।[3]
'ष' अक्षर—पैर रेंड बबूर सेंहुड सो न फरिहै दाख ।[४]
तीज— तीज तनिक सुख कारने
बहुत फसायो जीव ।
लालच लगि ऐसो गिरै
जैसे मक्खी घीव ।[५]

सूक्त्यात्मक शैली—नीति-साहित्य की अपेक्षाकृत अच्छी और अपनी शैली सूक्त्यात्मक है। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द तथा दीनदयाल आदि नीति के प्रधान कवियो ने प्रमुख रूप से इसी शैली को अपनाया है। इस शैली की प्रधान विशेषताएँ दो हैं। पहली विशेषता तो यह कि इस शैली मे कही गई बात उपदेशात्मक शैली की भाँति सीधे नही कही जाती। उदाहरण के लिए 'परिश्रम करने' को लें। उपदेशात्मक शैली मे यदि कहना हो तो उपदेशकार कहेगा—

श्रम कर श्रम कर रे मनुज श्रम ते जागे भाग ।
श्रम विहीन के भाग मे लगे सदा ही आग ॥[६]

पर सूक्तिकार इस बात को सीधे न कह कर एक सामान्य बात के रूप मे कहेगा जिससे सुनने वाले को इस बात का अनुभव न हो कि बात सीधे उसके लिए है। वृन्द ने परिश्रम के विषय मे लिखा है—

श्रम ही ते सब मिलत है बिन श्रम मिलै न काहि ।
सीधी अँगुरी घी जम्यो क्यो हूँ निकरै नाहि ॥[७]

सूक्त्यात्मक शैली की दूसरी विशेषता है कहने के ढंग का सौन्दर्य। इसमे किसी शब्दालकार के सहारे या योही किसी एक शब्द को बार-बार कहकर या

---

१ पलटू साहब . ककहरा ।
२ तुलसी साहब : ककहरा ।
३ जान बर्ननामा ।
४ धरनीदास ककहरा ।
५ सोलह तिथि निर्नय, सहजो बानी, पृ० ४६ ।
६ नीति छन्द० ।
७ वृन्द सत०, १६० ।

इसी प्रकार के अन्य चमत्कारो से छन्द को ऐसा आकर्षक और प्रभावशाली वना दिया जाता है कि उपदेश की भाँति इस शैली मे कहा गया छन्द टकरा कर रह नही जाता अपितु श्रोता या पाठक के मन मे चुभता है और देर तक अपना प्रभाव रखता है।

ऊपर श्रम के विषय मे उद्धृत दोनो छन्दो मे ये दोनो विशेषताएँ स्पष्ट है। कहना न होगा कि प्रभविष्णुता और कथन-सौन्दर्य की दृष्टि से दोनो छन्दो मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

हिन्दी नीति-काव्य मे प्रयोग की दृष्टि से सूक्त्यात्मक शैली के कई भेद-विभेद किए जा सकते है जिनमे कुछ प्रमुख के सक्षिप्त और सोदाहरण विवरण यहाँ दिये जा रहे है।

मोटे रूप से इस शैली के दो भेद है। पहले प्रकार की सूक्तियो मे अप्रस्तुत विधान के सहारे कही गई वात या नीति को स्पष्ट, पुष्ट, प्रमाणित, समर्थित या उदाहृत करते है। उदाहरणस्वरूप तुलसी का एक दोहा लिया जा सकता है—

वडो गहे ते होत वड, ज्यो वावन-कर-दण्ड।
श्री प्रभु के सग सो वढो, गयो अखिल ब्रह्मण्ड ॥[1]

यहाँ कवि को कहना है कि छोटे या साधारण व्यक्ति भी वडो का साथ पकडने से वडे हो जाते है। इसके लिए वह भगवान वामन के हाथ के डण्डे का उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि करता है।

रामचरित उपाध्याय का एक छन्द है—

साम नय से दुष्ट सीधे मार्ग पर जाते नही।
हाथ मे आते न जव तक दण्ड वे पाते नही।
तप्त हो जव तक घनो की चोट खाता है नही।
काम मे तव तक हमारे लोह आता है नही ॥[2]

यहाँ लोह (अप्रस्तुत) की विशेपता से सामान्य दुष्ट के दण्ड की वात का समर्थन है।

इस प्रकार की शैली की सूक्तियो मे अप्रस्तुत का अर्थातरन्यास, काव्यलिंग, दृष्टान्त तथा उदाहरण आदि अलकारो के रूप मे प्रयोग किया जाता है। इन विभिन्न अलकारो के आधार पर इसके और भी उपभेद किए जा सकते हैं।

सूक्त्यात्मक शैली का दूसरा भेद वह है जहाँ अप्रस्तुत विधान का सहारा

---

१ तुलसी दोहा०, ५३२।
२ काव्य दर्पण, पृ० ३८६।

लिए विना ही वात चमत्कार, आकर्षण या वाग्वैदग्घपूर्ण ढंग से कही जाती है। इसके भी वहुत से भेदोपभेद किए जा सकते हैं। यहाँ कुछ प्रधान भेदो को देखा जा सकता है।

कभी-कभी कुछ कवि किसी एक क्रिया को लेते है और उसकी वार-वार आवृत्ति करते हुए नीति की अनेक वातें एक ही छन्द मे कह जाते है। गिरिधर दास 'देना' क्रिया को लेकर कहते हैं—

गुरुन को शिष्यन, सुपात्र भूमि देवन को,
मान देहु ज्ञान देहु दान देहु धन सो।
सुत को सन्यासिन को वर जिजमानन को,
सिच्छा देहु भिच्छा देहु दिच्छा देहु मन सो।
सत्रुन को मित्रन को पित्रन को जगवीच,
तीर देहु, छीर देहु, नीर देहु पन सो।
गिरिधर दास स्वामी को अघी को आसु,
रुख देहु सुख देहु दुख देहु तन सो॥[1]

इस छन्द का आकर्षण 'देहु' की आवृत्ति तथा अंत्यानुप्रास के कारण है।

क्रिया के अतिरिक्त संज्ञा शब्दो की आवृत्ति भी की जाती है। एक दोहे मे शिवदुलारे त्रिपाठी 'शोभा' की आवृत्ति करते हुए नीति की वातें कहते हैं—

धन की शोभा धर्म है, प्रिय की शोभा प्रीति।
कुल की शोभा पुत्र है, नृप की शोभा नीति।[2]

अव्यय शब्दो का भी इस प्रकार प्रयोग नीति-काव्य मे मिलता है। वैताल 'विना' की आवृत्ति करते हुए कहते हैं—

वुधि विन करै वेपार, दृष्टि विन नाव चलावै।
सुर विन गावै गीत, अर्थ विन नाच नचावै॥
गुन विन जाय विदेस, अकल विन चतुर कहावे।
वल विन वाँधे युद्ध, हौंस विन हेत जनावे॥
अन इच्छा इच्छा करे, अन दीठी वाता कहै।
वैताल कहै विक्रम सुनो यह मूरख की जात है॥[3]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४६५।
२ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ६७०।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४०१।

इसी प्रकार 'कहा'[१] (क्या), 'सून'[२] (शून्य), न कछु[३] तथा 'मरै'[४] आदि अनेकानेक अन्य शब्दो की आवृत्ति करते हुए भी एक छन्द मे नीति की अनेकानेक बातें कहने की शैली हिन्दी नीति-साहित्य मे मिलती है।

कुछ कवियो ने कभी-कभी सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय शब्दो की आवृत्ति तो की है पर नीति की बहुत सी बाते न कहकर एक ही बात कही है। उदाहरणार्थ बैताल का महत्व दिखलाने के लिए 'टका' की आवृत्ति करते हैं—

टका करैं कुलहूल टका मिरदग बजावैं।
टका चढैं सुखपाल टका सिर छत्र धरावै॥
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड लडैया॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाए रात दिन।
बैताल कहैं बिक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥[५]

बैताल ने इसी प्रकार एक अन्य छप्पय मे जीभ के महत्व-दर्शन के लिए 'जीभ' शब्द की आवृत्ति की है।[६]

कुछ कवियो ने किसी एक बात के सम्बन्ध मे नीति कथन के लिए उसकी आवृत्ति तो की है पर साथ ही बहुत से उदाहरण लेते हुए छन्द के अन्त मे अपने लक्ष्य को स्पष्ट किया। ऐसे छन्दो मे उदाहरणो के बाद उनके निष्कर्ष स्वरूप से नीति की बात रखी जाती है अत उसमे अधिक बल आ जाना स्वाभाविक है। गग का एक छन्द उदाहरणार्थ देखा जा सकता है—

फूट गए हीरा की बिकानी कनी हाट-हाट,
काहू घाट मोल काहू बाढ मोल को लयो।
टूट गई लका फूट मिल्यो जो विभीपन है,
रावन समेत बस आसमान को गयो।
कहैं कवि गग दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक मे फूटे तें गुमान वाको नै गयो।

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २३७।
२ नीति छन्द०।
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २२८।
४ वही, भाग १, पृ० ३६६।
५ वही, भाग १, पृ० ३६६।
६ वही, भाग १, पृ० ३६६।

फूटें तें नरद उठि जात बाजी चौसर को,
आपुस के फूटे कहु कौन को भलो भयो।[1]

सार, कारणमाला तथा एकावली आदि शृंखलामूलक अलकारो के प्रयोग से भी हिन्दी नीति-साहित्य मे सुन्दर सूक्तियाँ कही गई हैं। एक-एक उदाहरण लिए जा सकते हैं।

सार—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहि।
उनते पहिले वे मुए तिन मुख निकसत नाहि॥[2]

सूक्तियो की यह शैली भी आकर्षक और प्रभावशाली होती है। इसमे एक के बाद दूसरे को अधिक अच्छा या अधिक बुरा दिखलाया गया है।

एकावली—

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढे कछु नाही।
ते न पढे जिन साधु न माधित, दीह दया न हियँ जिन माही॥
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो जु बसै छल छाही॥[3]

सूक्तियो की इस शैली मे विषय या वस्तु के ग्रहण और त्याग द्वारा एक माला या श्रेणी बनाकर चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न किया गया है।

कारणमाला—

गुरु ते विद्या होत है, विद्या ते ह्वै ज्ञान।
ज्ञान ते होत है जगत मे सुख सम औ कल्याण॥[4]

इस शैली मे कार्य और कारण की लडी या माला द्वारा आकर्षण उत्पन्न किया जाता है।

कुछ कवियो ने अपने छन्दो मे केवल कुछ प्रश्न रख दिए है, जिनकी ध्वनि से उत्तर निकलता है और उसमे नीति की बाते रहती है। तुलसी का एक प्रसिद्ध दोहा इस तरह का है—

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ॥[5]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० २७९।
२ रहीम दोहा०, २४०।
३ नीति छन्द०।
४ नीति छन्द०।
५ तुलसी दो०, २६७।

यहाँ चार प्रश्न मात्र हैं पर इनसे ध्वनि निकलती है कि आग सब कुछ जला सकती है, समुद्र मे सब कुछ समा सकता है, स्त्री सब कुछ कर सकती है, और काल सबको खा सकता है। सूक्ति-कथन की यह शैली भी बडी सुन्दर है यद्यपि हिन्दी नीति-काव्य मे इसका बहुत कम प्रयोग हुआ है।

इसी मे मिलती-जुलती सूक्ति-कथन की एक शैली वह भी है जिसमे एक ही छन्द मे पहले प्रश्न और फिर उत्तर रहता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक छन्द है—

कवि—हे स्वतन्त्रते! जन्म तुम्हारा।
कहाँ बता यह प्रश्न हमारा॥

स्वतन्त्रता—सूर देश हित तजते जहाँ।
प्राण जन्म मेरा है वहाँ॥[1]

भगवानदीन ने भी इस शैली मे कुछ दोहे लिखे हैं। दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

किसे मृत्यु का डर नही, किसे न धन की चाह?
जिसे आत्मा का पता, लगा जो उसकी राह॥

तथा

किसे हार का डर नही, किसे न जय की चाह?
जय पाकर हंसता न जो, हार करे नहि आह॥[2]

इस शैली के छन्द भी हिन्दी नीति-साहित्य मे अधिक नही मिलते।

अन्योक्ति शैली—नीति-साहित्य की शैलियो मे सबसे सुन्दर और शिष्ट अन्योक्ति शैली है।

अन्योक्ति एक अलकार है। जिस प्रकार सादृश्य बतलाने के लिए सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलकारो का काव्य मे प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार किसी को बुरा न लगने देने की दृष्टि से व्यग्यमूलक अलकार प्रयुक्त हुए हैं। अलकारो के व्यग्यमूलक वर्ग मे अप्रस्तुत प्रशसा, प्रस्तुताकुर, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, गूढोक्ति, तथा काकु वक्रोक्ति—ये सात अलकार आते हैं। इनमे अप्रस्तुत प्रशसा के पाँच भेद—कार्य निवन्धना, कारण-निवन्धना, सामान्य निवन्धना, विशेष निवन्धना

---

१ द्विवेदी काव्य माला, पृ० ४२०।
२ नीति के दोहे।

और सारूप्य-निबन्धना होते हैं। पाँचवे भेद सारूप्य निबन्धना का ही दूसरा नाम अन्योक्ति है।

अन्योक्ति मे प्रस्तुत का (या से) कथन न कर उससे मिलते-जुलते अप्रस्तुत का (या से) कथन करते हैं।

उदाहरण के लिए दीनदयाल की एक अन्योक्ति ली जा सकती है। कवि किसी ऐसे व्यक्ति को उपदेश देना चाहता है जो अपने ऐश्वर्य एवं उन्नति की दशा मे गुणियो या सज्जनो का साथ न कर दुर्गुणियो या दुर्जनो के साथ बुरे कामो में अपना धन बहा रहा है। वह प्रस्तुत या उस व्यक्ति की बात न कर अप्रस्तुत रूप मे आम के वृक्ष को चुनता है और उससे कहता है—

ऐसी संगति रावरे सग न सजै रसाल।
कागन के गन ये तुमै घेरि रहे इहि काल।
घेरि रहे इहिकाल कहा कुसुमाकर आये।
रसहु सुगन्ध समेत वृथा तुम देत बहाये।
बरनै दीनदयाल दई गति भई अनैसी।
कोकिल कीर मलिन्द तीन नहि सगति ऐसी॥[1]

कहना न होगा कि इसमे बाते सभी आम से कही गई हैं पर घटती हैं एक ऐश्वर्यशाली व्यक्ति पर भी। इस प्रकार इस शैली की सहायता से प्रत्यक्ष रूप से कुछ कहे बिना भी सब कुछ कहने मे कवि सफल हुआ है।

इस शैली के सबसे अधिक सुन्दर छन्द दीनदयाल के अन्योक्ति कल्पद्रुम मे मिलते हैं, पर दीनदयाल के अतिरिक्त तुलसी, रहीम, वृन्द, बिहारी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, कन्हैयालाल पोद्दार, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा सैयद अमीर अली 'मीर' आदि ने भी सुन्दर अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

कथात्मक शैली—पचतन्त्र, बुद्ध-जातक, प्राकृत-अपभ्रंश की जैन कथाएँ तथा सेख सादी की गुलिस्ताँ आदि इसी शैली मे लिखी गई है। इसमे एक ऐसी कथा रहती है जिसमे निष्कर्ष स्वरूप नीति की कोई बात निकलती है और वह छन्द रूप मे कथा के आरम्भ, अन्त या बीच मे रहती है। प्रभविष्णुता की दृष्टि से यह शैली सबसे सफल कही जा सकती है। हिन्दी मे 'किस्सा तोता मैना' कुछ इसी प्रकार की शैली मे है, यद्यपि उसकी नीति स्त्री और पुरुष की बुराई और अच्छाई तक ही सीमित है। मध्ययुग मे ईश्वरदास कृत 'सत्यवती की कथा', कुशललाभ कृत 'माधवानल

---

१ अन्योक्ति कल्पद्रुम, ८८।

आपने जो वायुजित् को दुर्वचन कल था कहा।
हो गया होगा कदाचित् आपका मुख कटु महा ॥ ११ ॥
"तो दया करके मिठाई थाल भर यह लीजिए।
और खाकर के सुमुख को मित्र, मीठा कीजिए॥
मारने मे तानपूरा भी निकम्मा हो गया।
लीजिए मुद्रा इसी से फिर मँगा लेना नया" ॥ १२ ॥
दो रजत मुद्रा तथा लेकर मिठाई थाल भर।
दास देने को गया उस दुष्ट के तत्काल घर॥
कह सुनाया सब सन्देश वायुजित् का प्रेम से।
फिर कहा,—"पूछा उन्होने आप तो हैं क्षेम से ?" ॥ १३ ॥
सोचकर कल की कथा, आश्चर्य मे होने लगा।
वेदना मन में हुई वह पातकी रोने लगा॥
आँख से आँसू निकल कर गाल पर झडने लगे।
कण्ठ से उसके निकल ये शब्द सुन पडने लगे॥ १४ ॥
"हाय ! मैंने विना कारण वायुजित् को दुख दिया।
पर सहज ही मे उन्होने जीत आज मुझे लिया॥
क्या रहेगा सुखी करके पुरुष खोटे काम को।
भोगना होगा मुझे इस पाप के परिणाम को" ॥ १५ ॥
कह सका इतना अधम बस कण्ठ उसका भर गया।
दौडता रोता हुआ वह वायुजित् के घर गया॥
"यह महा अपराध मेरा क्षमा हे प्रभु ! कीजिए।
आ पडा अब मैं शरण मे त्राण-भिक्षा दीजिए" ॥ १६ ॥
लोट कर पग पर क्षमा माँगी बुरे व्यवहार की।
शिष्ट के सतसग से सुर हो गया वह नारकी॥
युद्ध मे अरि जीतना भाता न श्रेष्ठ उदार को।
किन्तु सज्जन सद्गुणो से जीतते ससार को॥ १७ ॥

मुकरी शैली—मुकरी या मुकरनी कविता की उस शैली को कहते है जिसमे कथित बात मे 'मुकर कर' दूसरी बात कही जाय। अमीर खुसरो की मुकरियाँ हिन्दी मे प्रसिद्ध है।

नीति विषयक मुकरियाँ केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा रामचरित उपाध्याय ने लिखी है, जिनमे प्रधान अँग्रेजी (साहित्य और शिक्षा), बेकारी, खिताब, सरकारी

अफसर, बाबू, अफीम, विधवा-विवाह, सज्जन, पण्डित तथा मद्यपान आदि के विषय मे हैं। यहाँ तीन उदाहरण दिए जा रहे हैं—

सरकारी अफसर—

मतलब की ही बोले बात।
राखे सदा काम की घात।
डोलैं पहिनैं सुन्दर समला।
क्यो सखि साजन नहिं सखि अमला॥[1]

खिताब (सर आदि के)—

इनकी उनकी खिदमत करो।
रुपया देते देते मरो।
तब आवैं मोहिं करन खराब।
क्यो सखि साजन नही खिताब॥[2]

पण्डित—

परगुण को गाते रहते है।
दोष किसी का नहिं कहते है।
निज कुल को करते है मण्डित।
क्यो सखि सुरगण नहिं सखि पण्डित॥[3]

मुकरी शैली का भारतेन्दु तथा रामचरित उपाध्याय ने नीति के लिए अपवाद स्वरूप ही प्रयोग किया है, यह इसके लिए अन्योक्ति या सूक्ति की भाँति उपयुक्त शैली नही कही जा सकती।

प्रकृति-चित्रण के साथ—सस्कृत साहित्य मे प्रकृति-चित्रण के साथ नीति-कथन का उदाहरण प्रधानतः केवल भागवत मे मिलता है। हिन्दी मे भी इसका एकमात्र उदाहरण रामचरित मानस के किष्किधा काण्ड के वर्षा और शरत वर्णन मे मिलता है। वहाँ कवि को अभिप्रेत है प्रकृति-चित्रण पर उदाहरण तथा अन्य अलकारो के लिए अप्रस्तुत रूप मे नीति की बातें कही गई हैं। यहाँ दोनो वर्णनो से कुछ अंश देखे जा सकते हैं।

वर्षा वर्णन—

दामिनि दमक रही घन माही।
खल कै प्रीति जथा थिर नाही।

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, प० ६।
२ भारतेन्दु-सुधा, पृ० २२।
३ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० २७२।

बरषहिं जलद भूमि निअराए।
जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसें।
खल के बचन सन्त सह जैसें।
छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहुँ धन खल इतराई।
भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी।
सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा।
सरिता जल जलनिधि महुँ जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।
हरित भूमि तृन सकुल, समुझि परहिं नहिं पथ।
जिमि पाखड विवाद ते गुप्त होहिं सदग्रथ।[1]

शरद् वर्णन—

उदित अगस्ति पथ जल सोपा।
जिमि लोभहि सोषइ सन्तोषा।
सरिता सर निर्मल जल सोहा।
सन्त हृदय जस गत मद मोहा॥

पक न रेनु सोह असि धरनी।
नीति निपुन नृप कै जसि करनी।
जल सकोच विकल भइ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना॥

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।
चक्रवाक मन दुख निसि पेखी।
जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी।[2]

प्रकृति-चित्रण के साथ नीति कथन की शैली है तो अच्छी पर इसका प्रयोग अधिक नहीं हुआ है।

---

१ मानस, ४ १४।
२ मानस, ४ १७।

अन्त में कहा जा सकता है कि उपर्युक्त शैलियो मे हिन्दी नीति-काव्य की प्रतिनिधि शैलियाँ केवल उपदेशात्मक, सूक्त्यात्मक तथा अन्योक्ति ही हैं। औरो का प्रयोग आनुषगिक रूप से ही हुआ है।

(ग) अलकार—

काव्य मे अलकारो का प्रयोग मूलतः अभिव्यक्ति की पूर्णता और शैली मे सौन्दर्य एवं आकर्षण के लिए किया गया है। "वह फूल सा कोमल है" कहने मे कहने वाला कोमलता की अधिक सुन्दर और पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। 'वह कोमल है' मे भी कोमलता का उल्लेख है, पर 'फूल सा' न कहने से कोमलता की उतनी सफल अभिव्यक्ति नही है। यथार्थत काव्य मे अलकार के प्रयोग की मूल भावना यही होनी चाहिए। पर, इसके अतिरिक्त चमत्कार के लिए, या साधन न होकर साध्य रूप मे, अलकार-प्रयोग की प्रवृत्ति भी साहित्य मे मिलती है, जिसे किसी भी दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता।

हिन्दी नीति-काव्य मे प्रमुखत पहली प्रवृत्ति ही मिलती है। चमत्कारार्थ या साध्य रूप मे अलकार-प्रयोग के दर्शन अपवाद-स्वरूप ही कही-कही हो जाते हैं।

पीछे कहा जा चुका है कि नीति-काव्य मे दो प्रकार की शैलियाँ प्रमुख रूप से मिलती है। एक शैली तो सीधे उपदेश की है, जिसमे बिना किसी उदाहरण आदि के बात कही जाती हैं और दूसरी सूक्ति की है, जिसमे उदाहरणो के सहारे अभिव्यक्ति को अधिक पूर्ण, आकर्षक और प्रभावशाली बना दिया जाता है। अलंकारो का स्वाभाविक, सुन्दर और काव्योचित प्रयोग सूक्त्यात्मक शैली की नीति कविता मे ही है। उपदेशात्मक नीति कविता मे प्राय अलकार मिलता ही नही और यदि मिलता भी है तो बहुत कम।

हिन्दी नीति-काव्य के बहुप्रचलित और प्रमुख अलंकार अन्योक्ति, अर्थान्तर-न्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, लोकोक्ति. विशेषोक्ति, काव्यलिंग, विकल्प तथा विनोक्ति हैं। यहाँ सक्षिप्त विवेचन के साथ हिन्दी नीति-काव्य मे उनके उदाहरण दिए जा रहे हैं।

अन्योक्ति—हिन्दी नीति-काव्य का यह सबसे प्रचलित अलंकार है। प्रचलन के अतिरिक्त एक और दृष्टि से भी इसका नीति-काव्य मे विशेष महत्व है। नीति-काव्य मे उपदेश की बाते रहती हैं, और इस अलकार का सहारा न लेने पर उपदेश की बात किसी व्यक्ति के प्रति सीधे कही जाती है, जो न तो बहुत शिष्ट ही है और न बहुत शोभन ही। इसके विपरीत अन्योक्ति रूप मे कहने पर बात जिसके प्रति कहनी रहती है, उसने न कही जाकर उसके उपयुक्त उपमान या अप्रस्तुत को सम्बोधित करके कही जाती है, और केवल ध्वनि से यथार्थ व्यक्ति पर घटित होती है। इन

प्रकार इस अलकार के आधार पर कही गई नीति या उपदेश की बात जिसके प्रति कही जाती है उसे बुरी भी नही लगती और प्रभाव भी डालती है।

नीति-काव्य के लिए अन्योक्ति सर्वाधिक उपयुक्त अलकार है। इसी कारण सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा हिन्दी आदि सभी के नीतिकारो ने न्यूनाधिक रूप से इसका प्रयोग किया है। हिन्दी मे तुलसी, रहीम, बृन्द, बिहारी, वियोगीहरि, दुलारेलाल भार्गव, अमीर अली 'मीर' तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि बहुतों ने इस अलकार का सफल प्रयोग किया है, पर, दीनदयाल गिरि इसके सम्राट् कहलाने के अधिकारी हैं। उनका अन्योक्ति-कल्पद्रुम हिन्दी नीति-काव्य मे अन्योक्ति अलकार के प्रयोग की दृष्टि से सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

अन्योक्ति का शाब्दिक अर्थ है 'अन्य के प्रति कही गई उक्ति' अर्थात् इस अलकार मे उक्ति कही जाती है किसी और पर, किन्तु घटित होती है किसी और पर। उदाहरण के लिए दीनदयाल गिरि की एक अन्योक्ति है—

भूले अब घन तुम कितै प्रथमै याको पालि।
लखत रावरी राह को सूखि गयो यहु सालि॥
सूखि गयो यहु सालि अहो अजहूँ नहिं आए।
दै दै नाहक नीर सिन्धु मे सुदिन गँवाए॥
बरनै दीनदयाल कहां गरजत हो फूले।
समय न आए काम काम कौने भ्रमि भूले॥[1]

इसमे कवि धनिक से कहना चाहता है कि ऐ धनिक जिन्हे आवश्यकता हो उन्हे दो। जो स्वय धनी है उन्हे देना व्यर्थ है। पर वह सीधे धनी से न कहकर बादल से कहता है। इसी प्रकार बिहारी का एक दोहा है—

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु विहग विचारि।
बाज पराए पानि परि तू पछीहि न मारि॥[2]

यहाँ कवि को अभिप्रेत है दुष्ट स्वामी के सकेत पर अनर्थ करने वाले सेवक को उपदेश देना, पर वह उससे न कहकर बाज (अन्य या अप्रस्तुत) से कह रहा है।

हिन्दी नीति काव्य मे अन्योक्ति के लिए चुने गए अप्रस्तुत कई प्रकार के हैं। उनके मुख्य वर्ग निम्न हैं—

१ पौराणिक वस्तुएँ—पारस, चिन्तामणि तथा कल्पद्रुम आदि।

२ प्राकृतिक वस्तुएँ—पानी, मेघ, वायु, सूर्य तथा चन्द्र आदि।

---

१ अन्योक्ति कल्प०, पृ० ४५।

३ व्यवसायी—किसान, कुलाल, चित्रकार, माली, रजक, तमोली तथा जौहरी आदि।

४. वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।

५ पशु—सिंह, हाथी, घोडा, मृग तथा सियार आदि।

६. पक्षी—हंस, चातक, तोता, बाज, काग, कोकिल तथा शुक आदि।

७. जन्तु—चूहा, साँप तथा नेवला आदि।

८. कीडा—खटमल, तथा घुन आदि।

९. ऋतु—वसन्त, पावस, गर्मी तथा बरसात आदि।

१०. समय—सध्या, दोपहर तथा प्रात आदि।

११. पेड—अशोक, कदली तथा चन्दन आदि।

१२. फूल—कमल, चम्पा तथा केतकी आदि।

१३. बाजा—मृदग, ढोल तथा वशी आदि।

१४. नदी—गगा, कर्मनाशा तथा यमुना आदि।

अर्थान्तरन्यास—अर्थान्तरन्यास का अर्थ है 'अर्थान्तर' (अर्थात अन्य अर्थ) का 'न्यास' (अर्थात् रखना)। उस अलकार मे एक अर्थ (सामान्य या विशेष) के समर्थन के लिए दूसरा अर्थ (विशेष या सामान्य) रखा जाता है। हिन्दी नीति-काव्य मे इसका प्रयोग प्राय· हुआ है। कुछ उदाहरण है—

सामान्य का विशेष से समर्थन—

छोटेन सो सोहैं बडे कहि रहीम यह रेख।
महसन को हय बाँधियत लै दमरी की मेख॥[1]
बडे न हूजै गुनन बिनु विरद बडाई पाय।
कहत धतूरे सो कनक गहनो गढो न जाय॥[2]
झूठे ही करिये जतन कारज बिगरै नाहिं।
कपट पुरुष ज्यो खेत पर देखत मृग भज जाहिं॥[3]

विशेष का सामान्य से समर्थन—

कौन बड़ाई जलधि मिलि गग नाम भो धीम।
केहि की प्रभुता नहि घटी, पर घर गए रहीम॥[4]

---

१ रहीम दोहा०, ५६।
२ बिहारी सत०, ६३५।
३ बृन्द सत०, ३७२।
४ रहीम दोहा०, ४४।

कीजै गमन सुमानसर यह दुखदायक ताल।
हस वस अवतस हौ मौन गहो इहि काल॥
मौन गहो इहि काल काक बल खल या ठावै।
अति कठोर वर जोर सोर चहुँ ओर मचावै॥
बरनै दीनदयाल इन्हे तजि सुख सो जीजै।
सठ सगति अति भीति भूलि तहँ गमन न कीजै॥[1]

हिन्दी नीति-काव्य मे अर्थान्तरन्यास का प्रयोग 'सामान्य का विशेष से समर्थन' रूप में ही विशेप हुआ है। विशेष का सामान्य से समर्थन कम मिलता है।

उदाहरण--उदाहरण अलकार मे कोई सामान्य बात या वाक्य कहकर "ज्यो" या "जैसे" आदि शब्दो के साथ, उसका कोई विशेष उदाहरण देकर समता या एकता दिखाई जाती है। नीति-काव्य का यह भी बहुप्रयुक्त अलकार है। कुछ उदाहरण हैं—

अनुचित उचित रहीम लघु करहिं बडन के जोर।
ज्यो ससि के सजोग ते पचवत आग चकोर॥[2]
रहिमन यो सुख होत है बढत देखि निज गोत।
ज्यो बडरी अँखियाँ निरखि आँखिन को सुख होत॥[3]
मिलै जो सरलहि सरल ह्वै कुटिल न सहज विहाइ।
सो सहेतु ज्यो वक्रगति व्याल न बिलै समाइ॥[4]
बुरो बुराई जो तजै तो चित खरो सकात।
ज्यो निकलक मयक लखि गनै लोग उतपात॥[5]

इसके विपरीत विशेप कह कर सामान्य से भी समता दिखाने की प्रवृत्ति कुछ कवियों मे मिलती है—

बूंद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के वचन सत सह जैसे॥[6]

दृष्टान्त—इस अलकार मे कोई सामान्य वात कह कर दृष्टान्त देते है, पर, उदाहरण की भाँति ज्यो, जैसे, यो आदि वाचक शब्द नही रखते, साथ ही अर्थान्तर-

---

१ अन्योक्ति कल्प०, पृ० १७।
२ रहीम दोहा०, ५।
३ वही, २२६।
४ तुलसी दोहा०, ३३४।
५ विहारी सत०, ६५३।
६ मानस, ४ १६ २।

न्यास की भाँति एक वाक्य का दूसरे से समर्थन भी नही करते । केवल दोनो मे समता का भाव रहता है । नीति-काव्य मे दृष्टान्त के पर्याप्त उदाहरण मिलते है—

दुसह दुराज प्रजानि को क्यो न बढै अति द्वन्द ।
अधिक अँधेरो जग करै मिलि मावस रवि चन्द ॥[१]
रहिमन अँसुआ नेन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ॥[२]
सन्त न छांडै सन्तई, जै कोटिक मिलै असन्त ।
चन्दन भुवँगा बैठिया सीतलता न तजन्त ॥[३]
रज्जब जग जलता मिलै साधू सीतल अग ।
चदन विष व्यापै नही जो कोटिक भिदै भुवग ॥[४]

प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तूपमा का अर्थ है प्रति वस्तु या प्रत्येक वाक्यार्थ के प्रति उपमा । इसमे उपमेय और उपमान के पृथक-पृथक दो वाक्यो मे एक ही समान धर्म शब्द भेद द्वारा कहते है । हिन्दी नीति-काव्य का यह भी सुपरिचित अलकार है । उदाहरण हैं—

चटक न छांडत घटत हू सज्जन नेह गँभीर ।
फीको परै न वरु परै रँग्यो चोल रग चीर ॥[५]
कटक करि करि परत गिरि साखा सहस खजूरि ।
मर्राहि कुनृप करि करि कुनय सो कुचालि भवभूरि ॥[६]

लोकोक्ति—किसी भी प्रसग मे किसी लोकोक्ति के प्रयोग से लोकोक्ति अलकार होता है । कुछ उदाहरण है—

दीवो अवसर को भलो जासो सुधरै काम ।
खेती सूखे बरसिवो घन को कौने काम ॥[७]
ता बिन होय न काज सिध, जासो लागी बात ।
गुरु बिन होत न चौथ व्रत, दूलह बिना बरात ॥[१]

---

१ बिहारी सत०, ६३२ ।
२ रहीम दोहा०, १७२ ।
३ कबीर ग्रन्थ०, पृ० ५१ ।
४ रज्जब जी की बानी, पृ० ७९ ।
५ बिहारी सत०, ६१९ ।
६ तुलसी दोहा०, ५१४ ।
७ वृन्द सत०, १८ ।

अग्रदास तथा प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी नीति कविता मे इस अलकार का सबसे अधिक प्रयोग किया है। अग्रदास की प्रत्येक कुण्डलिया एक लोकोक्ति से आरम्भ हुई है और अन्त मे भी वही लोकोक्ति आई है—

अन्धा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।
पीछे बाछा खाय कहत गुरु शिष्य न माने।
ज्ञान पुरान मसान छिनक महँ धर्म भुलाने॥
बुरो विप्र लौ रीति मृतक धन लेत न लाजै।
नीच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै॥
अग्रजीव अघा तलो, बँधै सो करै उपाय।
अन्धा बाटे जेवरी पीछे बाछा खाय॥[2]

प्रतापनारायण मिश्र की "अनूठी कहावतें" की भी प्रत्येक कविता के अन्त मे एक-एक लोकोक्ति हैं—

जिहि सन पावहु कछु गुन ज्ञान।
तेहि आगे न बनौ बुधिमान॥
न तु वह धरिहि तुम्हार कुनाँव।
मेरी बिल्ली मुझी से म्याँव॥[3]

विशेषोक्ति—ऐसी उक्ति जिसमे कारण रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न विशेषोक्ति है। नीति-काव्य में इसका भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण है—

रहिमन कबहुँ बडँन के नाहिं गर्व को लेस।
भार धरैं ससार को तऊ कहावत सेस॥[4]
कोऊ दूर न करि सकै विधि के उलटे अक।
उदधि पिता तउ चन्द को धोय न सको कलक॥[5]
सरस्वति के भडार की बडी अपूरब बात।
ज्यो खरचै त्यो-त्यो बढै विन खरचै घटि जात॥[6]

---

१ वृन्द सत०, ६८३।
२ सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिट्रेचर, बुक २, पृ० ३०२।
३ अनूठी कहावतें, पृ० १२।
४ रहीम दोहा०, १७८।
५ वृन्द सत०, ३०६।
६ वही, ६०६।

काव्यलिंग—इस शब्द मे लिंग का अर्थ 'कारण' है। काव्यलिंग अलकार मे किसी बात को कह कर उसका ज्ञापक कारण कहा जाता है। उदाहरण है—

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौरात है या पाए बौराय ॥[१]
पर जन सों सो मन करें परिहरि हरि सो प्रीति।
झूठे सो मानें हरप अहो जगत विपरीत ॥[२]

विकल्प—जहाँ इस प्रकार वर्णन हो कि यह होगा या वह, विकल्प अलकार होता है। नीति-काव्य से कुछ उदाहरण हैं—

ऊँची जाति पपीहरा पियत न नीचो नीर।
कै जाँचै घनश्याम सो कै दुख सहै सरीर ॥[3]
साधु कहावन कठिन है लम्बा पेड खजूर।
चढै तौ चाखै प्रेम रस गिरै तो चकनाचूर ॥[४]
द्वै ही गति है बड़ेन की कुसुम मालती भाय।
कै सब के सिर पर रहैं के वन माँहि बिलाय ॥[५]

विनोक्ति—जहाँ विनु, रहित, शून्य, बिना, हीन तथा रिक्त आदि शब्दो के द्वारा एक के विना दूसरे का शोभित या अशोभित होना कहा जाय, विनोक्ति अलकार होता है। कुछ उदाहरण हैं—

(क) किसी के विना अशोभित होना—

ससि विन सूनी रैन ज्ञान विनु हिरदो सूनो।
कुल सूनो विनु पुत्र पत्र विन तरुवर सूनो ॥
गज सूनो इक दन्त ललित विन सायर सूनो।
विप्र सुनो विन वेद, वृक्ष विनु पुहुप विहूनो ॥
हरिनाम भजन विनु सत, अरु घटा विनु सूनी दामिनी।
वैताल कहै विक्रम सूनो, पति विनु सूनी कामिनी ॥[६]

---

१ बिहारी सत०, ६५१।
२ वृन्द सत०, ७००।
३ तुलसी (नीति छन्द०)।
४ कबीर (वही)।
५ वृन्द सत०, ४७५।
६ वैताल, कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४००।

अग्रदास तथा प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी नीति कविता मे इस अलंकार का सबसे अधिक प्रयोग किया है। अग्रदास की प्रत्येक कुण्डलिया एक लोकोक्ति से आरम्भ हुई है और अन्त मे भी वही लोकोक्ति आई है—

अन्धा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।
पीछे बाछा खाय कहत गुरु शिष्य न माने।
ज्ञान पुरान मसान छिनक महँ धर्म भुलाने॥
बुरो विप्र लो रीति मृतक धन लेत न लाजै।
नीच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै॥
अग्रजीव अघा तलो, बँधै सो करै उपाय।
अन्धा बाटे जेवरी पीछे बाछा खाय॥[2]

प्रतापनारायण मिश्र की "अनूठी कहावतें" की भी प्रत्येक कविता के अन्त मे एक-एक लोकोक्ति हैं—

जिहि सन पावहु कछु गुन ज्ञान।
तेहि आगे न बनो बुधिमान॥
न तु वह धरिहि तुम्हार कुनाँव।
मेरी बिल्ली मुझी से म्याँव॥[3]

विशेषोक्ति—ऐसी उक्ति जिसमे कारण रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न विशेषोक्ति है। नीति-काव्य में इसका भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण है—

रहिमन कबहुँ बडेन के नाहिं गर्व को लेस।
भार धरै ससार को तऊ कहावत सेस॥[4]
कोऊ दूर न करि सकै विधि के उलटे अक।
उदधि पिता तउ चन्द को धोय न सको कलक॥[5]
सरस्वति के भडार की बडी अपूरब बात।
ज्यो खरचै त्यों-त्यो बढ़ै बिन खरचै घटि जात॥[6]

---

१ वृन्द सत०, ६८३।
२ सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिट्रेचर, बुक २, पृ० ३०२।
३ अनूठी कहावतें, पृ० १२।
४ रहीम दोहा०, १७८।
५ वृन्द सत०, ३०६।
६ वही, ६०६।

काव्यलिंग—इस शब्द मे लिंग का अर्थ 'कारण' है। काव्यलिंग अलकार में किसी वात को कह कर उसका ज्ञापक कारण कहा जाता है। उदाहरण है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौरात है या पाए बौराय॥[1]
पर जन सौ सो मन करै परिहरि हरि सो प्रीति।
भूठे सो मानै हरप अहो जगत विपरीत॥[2]

विकल्प—जहाँ इस प्रकार वर्णन हो कि यह होगा या वह, विकल्प अलकार होता है। नीति-काव्य से कुछ उदाहरण हैं—

ऊँची जाति पपीहरा पियत न नीचो नीर।
कै जाँचे घनश्याम सो कै दुख सहै सरीर॥[3]
साधु कहावन कठिन है लम्बा पेड़ खजूर।
चढ़ै तो चाखै प्रेम रस गिरै तो चकनाचूर॥[4]
द्वै ही गति है बडेन की कुसुम मालती भाय।
कै सब के सिर पर रहैं के बन माँहि विलाय॥[5]

विनोक्ति—जहाँ विनु, रहित, शून्य, विना, हीन तथा रिक्त आदि शब्दो के द्वारा एक के विना दूसरे का शोभित या अशोभित होना कहा जाय, विनोक्ति अलकार होता है। कुछ उदाहरण हैं—

(क) किसी के विना अशोभित होना—

ससि विन सूनी रैन ज्ञान विनु हिरदो सूनो।
कुल सूनो विनु पुत्र पत्र विन तरुवर सूनो॥
गज सूनो इक दन्त ललित विन सायर सूनो।
विप्र सुनो विन वेद, वृक्ष विनु पुहुप विहूनो॥
हरिनाम भजन विनु संत, अरु घटा विनु सूनी दामिनी।
वैताल कहे विक्रम सूनो, पति विनु सूनी कामिनी॥[6]

---

१ बिहारी सत०, ६५१।
२ वृन्द सत०, ७००।
३ तुलसी (नीति छन्द०)।
४ कबीर (वही)।
५ वृन्द सत०, ४७५।
६ वैताल, कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४००।

जिय बिनु देह नदी बिनु वारी।
तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी॥[1]

(ख) किसी के बिना शोभित होना—

रोग बिना यह गात ज्यो तम विहीन निसि होय।
लाज बिना गनिका सुत्यो निलज्जता विनु जोय॥[2]

इन प्रमुख अलकारो के अतिरिक्त और बहुत से अलकारो के भी हिन्दी नीति-काव्य मे यत्र-तत्र प्रयोग मिलते है। यहाँ कुछ प्रधान के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

परिकराकुर—

दीन हीन जानै कहा सेइ राज-दरबार।
उनकै तौ आधार बस दीन बन्धु कै द्वार॥[3]
कलपि कलपि मूखन मरति तुव सन्तति अभिराम।
कहा जानि धार्यो जननि, अन्नपूरणा नाम॥[4]

परिसख्या—

पावस ही मे धनुष अब, सरित-तीर ही तीर।
रोदन ही मे लाल दृग नौरस ही मे बीर॥[5]
शुचि मे गलानि बसै प्राप्ति मे हानि बसै।
जय मे हारि सुन्दरता मे छबि छीनता॥
रोग बसै भोग मे, सयोग मे वियोग बसै।
गुण मे गरब बसै सेवा माहिं दीनता॥[6]

सार—

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं॥[7]

कारणमाला—

विनु विस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीवन लह विश्राम॥[8]

---

१ तुलसी (नीति छन्द०)।
२ नीति छन्द०।
३ वियोगी हरि, नव सतसई सार, पृ० २६६।
४ वही, पृ० २४६।
५ वियोगी हरि, नव सतसई सार, पृ० २७२।
६ वनारसी दास, (नीति छन्द०)।
७ रहीम दोहा०, २४०।
८ तुलसी (नीति छन्द०)।

एकावली—

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जुपढे कछु नाहीं।
ते न पढे जिन साधु न साधित दीह दया न हियँ जिन माही॥
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो तु बसै छल छाँही॥[१]

विभावना—

विना कहे हूँ सत पुरुप पर की पूरे आस।
कौन कहत हैं मूर्य को घर-घर करत प्रकास॥[२]

विरोधाभास—

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोय।
वारे उजियारो लगें, वढे अँधेरो होय॥[३]

विषम—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहि कोय।
ज्यो ज्यो बूड़ै श्याम रग, त्यो त्यो उज्जल होय॥[४]

यथासख्य—

होय भले को सुत बुरो भलो बुरो के होय।
दीपक के काजल प्रकट कमल कीच ते जोय॥[५]

मिथ्याध्यवसित—

खल वचननि की मधुरई चाखि साँप निज श्रोन।
रोम रोम पुलकित भए कहत मोद गहि मौन॥[६]

विधि—

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।[७]

रूपक—

जगु जलनिधि जल मोह महात्रस्ना तरग वर।
तट दुहु, दिसि मदमान लोभ अज्ञान भवँर भर।

---

१ नीति छन्द०।
२ वृन्द सत०, ४५०।
३ रहीम दोहा० ८२।
४ विहारी सत०, १८३।
५ वृन्द, नव सतसई सार, पृ० १८६।
६ मतिराम, नव सतसई सार, पृ० १६१।
७ मैथिलीशरण गुप्त, (नीति छन्द०)।

काम क्रोध अति जतु गहि करवर छलवोरहिं।
मन विलास बह पवन कलुप बवडर झकझोरहिं।
लै विषम सत्रु तेहि माँझ पर कहि नरहरि केहि सँभरइ।
पुरुपोत्तम परम कृपाल विन एहि अवत्थ को उद्धरइ॥[१]

व्यतिरेक—

सत हृदय नवनीत समाना।
कहा कविन पै कहत न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता।
पर दुख द्रवै सुसत पुनीता॥[२]

दीपक—

यह रहीम निजसग लै जनमत जगतन कोय।
बैर प्रीति अभ्यास जस होत होत ही होय॥[३]

मुद्रा—

सुबुध बीच परिदुहुन को हरत कलह रस पूर।
करत देहरी दीप ज्यों घर आगन तम दूर॥[४]

यमक—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है या पाये बौराय॥[५]
रहिमन अपने पेट सों बहुत कह्यौ समुझाय।
जो तू अनखाए रहे तोसो को अनखाय॥[६]

श्लेष—(क) शब्द—

चरण धरत चिन्ता करत चितवत चारहुँ ओर।
सुवरण को देखत फिरें कवि, व्यभिचारी, चोर।[७]
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
वारे उजियारो लगे बढ़े अँधेरो होय॥[८]

---

१ नरहरि, अकवरी दरवार के हिन्दी कवि, पृ० २६४।
२ तुलसो, नीति छन्द०।
३ रहीम दोहा०, १५८।
४ वृन्द, नव सतसई सार, पृ० १८७।
५ विहारी सत०, ६५१।
६ रहीम दोहा०, १६६।
७ नीति छन्द०।
८ रहीम, नव सतसई सार, पृ० ४३।

(ख) अर्थ—

पानी बाढे नाव मे घर मे बाढै दाम।
दोनो हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥[1]

लाटानुप्रास—

पराधीन जो जनु, नही स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जनु नही, स्वर्ग नरक ता हेतु॥[2]

वृत्यनुप्रास—

ससि सुकेस साइस सलिल मान सनेह रहीम।
बढत बढत वढि जात है घटत जटत घटि सीम।[3]

(घ) 'छन्द'—

काव्य का प्राण तो उसका मूल भाव है पर शरीर की भाँति उसके वाह्य उपकरणों का भी महत्व कम नही है। इन वाह्य उपकरणो मे छन्द का स्थान प्रमुख है। एक ही भाव दो भिन्न छन्दो मे यदि बांधा जाय तो एक मे यदि वह खिल उठता है तो दूसरे मे उसके सौन्दर्य मे कमी आ जाती है। यही कारण है कि भारत मे बहुत पहले से छन्द की महता स्वीकार की गई है और इसे वेदागो मे स्थान दिया गया है।

अन्य बहुत सी परम्पराओ की भाँति हमारी छन्द परम्परा भी वेदो तक जाती है। प्राचीन साहित्य मे वैदिक और लौकिक छन्दो के उल्लेख मिलते है। वैदिक छन्द वर्ण प्रधान थे। लौकिक छन्द से अर्थ उन छन्दो का लिया जाता है जो वेदो मे नही प्रयुक्त हुए हैं, पर सस्कृत साहित्य मे जिनके प्रयोग मिलते है। वैदिक छन्दो से ही विकसित होने के कारण इनमे भी वर्ण की प्रधानता है। मात्रिक छन्दो की मूल परम्परा प्राकृत साहित्य से आरम्भ होती है। प्राकृत मे ही प्रभावित होने के कारण वाद के सस्कृत साहित्य के भी कुछ छन्द मात्रिकता की ओर झुक गए। प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनो मे मात्रिक छन्दो की प्रधानता है। हिन्दी ने अपना जीवन-रस संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश तीनो से ही लिया है अतः इसमे मात्रिक और वार्णिक दोनो ही प्रकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है। मध्ययुगीन साहित्य अपेक्षाकृत प्राकृत अपभ्रश से अधिक निकट था और परम्परागत छन्दो को ही उसने अपनाया। अत. उसमे मात्रिक छन्दो की प्रधानता है पर आधुनिक युग मे सस्कृत के प्रभाव के कारण वर्णवृत्तो की सख्या मे वृद्धि हो गई है।

---

१ नीति छन्द०।
२ वीर सत०, पृ० ४८।
३ रहीम दोहा०, २७३।

काम क्रोध अति जतु गहि करवर छलवोरहिं ।
मन विलास बह पवन कलुष बवडर झकझोरहिं
लै विपम सत्रु तेहिं मांझ पर कहि नरहरि केहि
पुरुषोत्तम परम कृपाल बिन एहि अवत्थ को

व्यतिरेक—

सत हृदय नवनीत समाना ।
कहा कविन पै कहत न जाना ।
निज परिताप द्रवै नवनीता ।
पर दुख द्रवै सुसत पुनीता ॥[२]

दीपक—

यह रहीम निजसग लै जनमत जगतन
बैर प्रीति अभ्यास जस होत होत ही हो

मुद्रा—

सुबुव बीच परिदुहुन को हरत कलह रर
करत देहरी दीप ज्यो घर आगन त

यमक—

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अ
वा खाये बौरात है या पाये
रहिमन अपने पेट सो बहुत कह्यौ
जो तू अनखाए रहे तोसो को

श्लेष—(क) शब्द—

चरण धरत चिन्ता करत चितवत च
सुवरण को देखत फिरें कवि, व्यभिचा
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपत
वारे उजियारो लगे बढ़े

---

१ नरहरि, अकवरी दरवार के हिन्दी कवि, ।
२ तुलसी, नीति छन्द० ।
३ रहीम दोहा०, १५८ ।
४ वृन्द, नव सतसई सार, पृ० १८७ ।
५ विहारी सत०, ६५१ ।
६ रहीम दोहा०, १६९ ।
७ नीति छन्द० ।
८ रहीम, नव सतसई सार, पृ० ४३ ।

मात्रा-स्खलन दोष भी नीति के दोहो मे कही-कही मिल जाते हैं। ऊपर का उदाहरण इसी श्रेणी का है।

अपभ्रंश के प्रसग मे दोहे का विवेचन करते हुए याकोवी ने इसके पश्चिमी और पूर्वी दो भेद किए हैं। हिन्दी मे इस प्रकार के तो भेद नही किए गए हैं पर गुरु लघु के प्रयोग के अनुसार भेद है। दोहे मे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चारो चरणो मे ४८ मात्राएँ होती है। अब यदि दोनो मे २० गुरु (४० मात्राएँ) तथा आठ लघु आवें तब भी ४८ पूरा होने से दोहा हो जायगा और यदि १९ गुरु (३८ मात्राएँ) और १० लघु आवें तब भी दोहा पूरा हो जायगा। इसी प्रकार लघु गुरु की अधिकता और न्यूनता के आधार पर इसके बहुत से भेद किए जा सकते हैं। पिंगलाचार्यों ने इनमे से प्रधान २३ को स्वीकार किया है जिनके नाम और मात्राएँ इस प्रकार हैं[1]—

भ्रमर (२२ग+४ल), सुभ्रामर (२१ग+६ल), शरभ (२०ग+८ल), श्येन (१९ग+१०ल), मंडूक (१८ग+१२ल), मर्कट (१७ग+१४ल), करभ (१६ग+१६ल), नर (१५ग+१८ल), हस (१४ग+२०ल), मदुकल (१३ग+२२ल), पयोधर (१२ग+२४ल), चल (११ग+२६ल), वानर (१०ग+२८ल), त्रिकल (९ग+३०ल), कच्छप (८ग+३२ल), मच्छ (७ग+३४ल), शार्दूल (६ग+३६ल) अहिवर (५ग=३८ल), व्याल (३ग+४०ल), विडाल (३ग+४२ल), श्वान (२ग+४४ल), उदुर (१ग+४६ल) तथा सर्प (४८ल)।

इनमे बहुतो के उदाहरण नीति-काव्य मे मिल जाते हैं।

त्रिकल—

आलस तजि रतनावली जथा समय करि काज।
अबको करिबो अबहि करि तबहि पुरै सुप साज ॥[2]

मदुकल—

तुलसी चातक देत सिख सुतहिं बारही बार।
तात न तर्पन कीजियो बिना बारिधर-धार ॥[3]

पयोधर—

केवल गुन ही ते न जन चहिये भाग-सहाय।
फूलत-फलत न देखिये मँहगो पान बिकाय ॥[4]

---

१ प्राकृत पैंगलम में दिए गए २३ नामों मे इससे साधारण भिन्नता है।
२ रत्न०, १०१।
३ तुलसी दो०, २०४।
४ ब्रज सत०, पृ० ४०।

एक प्रयुक्त रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। हरदीन त्रिपाठी ने "सामान्य नीति काव्य' मे भी इस प्रकार' की कुण्डलियाँ लिखी हैं।

अग्रदास ने भी नीति की कुण्डलियाँ लिखी है। उनका स्वरूप कुछ और भी भिन्न है। एक उदाहरण लीजिए—

अधा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।
पीछे बाछा खाय कहात गुरुशिष्य न माने।
ज्ञान पुरान मसान छिनक महँ धर्म भुलाने।
बुरो विप्र लौं रीति मृतक धन लेत न लाजै।
नीच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै।
अग्र जीव अन्धा तलो बँधै सो बुरे उपाय।
अन्धा बाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।

अग्रदास की सभी कुण्डलियाँ इसी प्रकार की हैं। यह कुण्डलिया प्रसिद्ध कुण्डलियाँ छन्द से पूर्ण तथा भिन्न है। उसमे छ पक्तियाँ होती है तो इसमे ७ हैं। उसमे १४४ मात्राएँ होती हैं तो इसमे १६८ मात्राएँ हैं। उसमे प्रथम पक्ति का आरम्भ और अन्तिम का अन्त एक होता है और दूसरी पक्ति का अन्तिम चरण और तीसरी का प्रथम चरण एक होता है तो इसमे पहली पक्ति और अन्तिम पक्ति पूर्णतया एक है तथा पहली पक्ति का दूसरा चरण दूसरी पक्ति का पहला चरण है। इस प्रकार कुण्डलीवत् स्वरूप का इसमे विलकुल पता नही है। साथ ही दोहा के बाद रोला न होकर यहाँ रोला के बाद दोहा है।

हिन्दी नीति-साहित्य मे गिरिधर, दीनदयाल, अग्रदास, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' तथा हरदीन त्रिपाठी आदि की कुण्डलियाँ अधिक सुन्दर वन पडी है।

छप्पय—छप्पय का भी नीति-काव्य मे प्रयोग हुआ है यद्यपि यह वीर रस के अधिक उपयुक्त है। नरहरि तथा वैताल आदि ने छप्पय ही लिखे हैं। इसमे कुल छ पद (पटपद) होते हैं अतः इसका नाम छप्पय है। पृथ्वीराज रासो मे छप्पय छन्द को 'कवित्त' कहा गया है। रूप दीप पिंगल के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले इसका नाम छप्पय न होकर 'कवित्त ही था। छदोऽनुशासनम् तथा कुछ अन्य ग्रन्थो मे इसका नाम 'वत्यु' या 'वत्थुवयरण' भी मिलता है।

छप्पय मे २४, २४ मात्राओ के रोला के चार पद होते हैं और अन्त मे उल्लाला के दो पद होते हैं। उल्लाला मे कभी तो २६ और कभी २८ मात्राएँ होती हैं। २६ मात्राओ के होने पर छप्पय मे कुल १४८ मात्राएँ होगी और २८ मात्रा के

• नी० काव्य, ३३।

होने पर १५२। लघु और गुरु के आधार पर इसके अजय, विजय, शेष, वल, ताटंक तथा वर्ण आदि ७१ भेद होते हैं।

हिन्दी नीति-काव्य मे १५२ मात्रा के छप्पय ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वेताल का एक छप्पय है—

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू।
बाभन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जु कुल मे दाग लगावै।
अरु बे नियाव राजा मरै तबै नीद भरि सोइये।
बैताल कहै विक्रम सुनो एते मरै न रोइए॥[1]

छप्पय के ७१ भेदो की दृष्टि से यह 'शेष' नामक छप्पय है, जिसमे ४६ गुरु ६० लघु और १०६ वर्ण होते हैं। छप्पय के ७१ भेदो मे अन्य बहुतो के उदाहरण भी हिन्दी-नीति काव्य मे मिल जाते है।

१४८ मात्रा के अल्प प्रचलित छप्पय का भी उदाहरण देखा जा सकता है—

अग्नि ताहि जल होत सिन्धु सरिता तिहि छन मे।
मेरु स्वल्प पाखान सिंह हरिना तिहि वन मे।
पुष्पमाल सम होत ताहि अति विषधर व्याला।
अमृत सम ह्वै जात ताहि विष विषम कराला।
नीति ग्रन्थ मत देखिकै श्री शिव सम्पति कवि कहै।
सकल लोक मोहन करन शील जासु तन मे रहै॥[2]

छप्पय के ७१ भेदो की दृष्टि से यह शलभ छप्पय है जिसमे ११० वर्ण, ३८ गुरु तथा ७२ लघु होते हैं।

सोरठा—सोरठा दोहे का ही एक रूप है। किसी भी दोहे को उलट कर सोरठा बनाया जा सकता है। सौराष्ट्र मे दोहे का यह उलटा रूप ही प्रचलित था अत. उसी के आधार पर उसका 'सोरठा' नाम पड़ा। इसके सम चरणो के अन्त मे जगण का निषेध है। दोहे की भाँति लघु गुरु के आधार पर इसके भी २३ भेद किए जा सकते हैं, यद्यपि इसका अधिक प्रचलन न होने के कारण दोहे के भेदो की भाँति भेदो के नामकरण का प्रयास नही किया गया है। यों वे ही नाम इसके भी रखे जा सकते हैं। सोरठा छन्द का प्रयोग अपभ्रंश मे भी मिलता है और हिन्दी मे

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३६६।
२ वही, २, पृ० १३८-६।

एक प्रयुक्त रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। हरदीन त्रिपाठी ने "सामान्य नीति काव्य' में भी इस प्रकार• की कुण्डलियाँ लिखी हैं।

अग्रदास ने भी नीति की कुण्डलियाँ लिखी है। उनका स्वरूप कुछ और भी भिन्न है। एक उदाहरण लीजिए—

अधा वाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।
पीछे बाछा खाय कहात गुरुशिष्य न माने।
ज्ञान पुरान मसान छिनक महँ धर्म भुलाने।
बुरो विप्र लौं रीति मृतक धन लेत न लाजै।
नीच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै।
अग्र जीव अन्धा तलो बँधे सो बुरे उपाय।
अन्धा वाँटे जेवरी पीछे बाछा खाय।

अग्रदास की सभी कुण्डलियाँ इसी प्रकार की हैं। यह कुण्डलिया प्रसिद्ध कुण्डलियाँ छन्द से पूर्ण तथा भिन्न है। उसमे छ पक्तियाँ होती हैं तो इसमे ७ हैं। उसमे १४४ मात्राएं होती हैं तो इसमे १६८ मात्राएं है। उसमे प्रथम पक्ति का आरम्भ और अन्तिम का अन्त एक होता है और दूसरी पक्ति का अन्तिम चरण और तीसरी का प्रथम चरण एक होता है तो इसमे पहली पक्ति और अन्तिम पक्ति पूर्णतया एक है तथा पहली पक्ति का दूसरा चरण दूसरी पक्ति का पहला चरण है। इस प्रकार कुण्डलीवत् स्वरूप का इसमें बिल्कुल पता नही है। साथ ही दोहा के बाद रोला न होकर यहाँ रोला के बाद दोहा है।

हिन्दी नीति-साहित्य मे गिरिधर, दीनदयाल, अग्रदास, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' तथा हरदीन त्रिपाठी आदि की कुण्डलियाँ अधिक सुन्दर बन पडी है।

छप्पय—छप्पय का भी नीति-काव्य मे प्रयोग हुआ है यद्यपि यह वीर रस के अधिक उपयुक्त है। नरहरि तथा बैताल आदि ने छप्पय ही लिखे हैं। इसमे कुल छ पद (पटपद) होते हैं अत. इसका नाम छप्पय है। पृथ्वीराज रासो मे छप्पय छन्द को 'कवित्त' कहा गया है। रूप दीप पिंगल के आधार पर कहा जा सकता है कि पहले इसका नाम छप्पय न होकर 'कवित्त ही था। छदोऽनुशासनम् तथा कुछ अन्य ग्रन्थो मे इसका नाम 'वत्थु' या 'वत्थुवयण' भी मिलता है।

छप्पय मे २४, २४ मात्राओ के रोला के चार पद होते हैं और अन्त मे उल्लाला के दो पद होते हैं। उल्लाला मे कभी तो २६ और कभी २८ मात्राएँ होती हैं। २६ मात्राओं के होने पर छप्पय मे कुल १४८ मात्राएं होगी और २८ मात्रा के

• नी० काव्य ३३।

होने पर १५२। लघु और गुरु के आधार पर इसके अजय, विजय, शेष, वल, ताटंक तथा वर्ण आदि ७१ भेद होते है।

हिन्दी नीति-काव्य मे १५२ मात्रा के छप्पय ही अधिक प्रयुक्त हुए है। वैताल का एक छप्पय है—

मरै बैल गरियार मरै वह अडियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू।
वाभन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय जु कुल मे दाग लगावै।
अरु वे नियाव राजा मरै तवै नीद भरि सोइये।
वैताल कहै विक्रम सुनो एते मरै न रोइए॥[1]

छप्पय के ७१ भेदो की दृष्टि से यह 'शेष' नामक छप्पय है, जिसमे ४६ गुरु ६० लघु और १०६ वर्ण होते हैं। छप्पय के ७१ भेदो मे अन्य वहुतो के उदाहरण भी हिन्दी-नीति काव्य मे मिल जाते है।

१४८ मात्रा के अल्प प्रचलित छप्पय का भी उदाहरण देखा जा सकता है—

अग्नि ताहि जल होत सिन्धु सरिता तिहि छन मे।
मेरु स्वल्प पाखान सिंह हरिना तिहि वन मे।
पुष्पमाल सम होत ताहि अति विपधर व्याला।
अमृत सम ह्वै जात ताहि विप विपम कराला।
नीति ग्रन्थ मत देखिकै श्री शिव सम्पति कवि कहै।
सकल लोक मोहन करन शील जासु तन मे रहै॥[2]

छप्पय के ७१ भेदो की दृष्टि से यह शलभ छप्पय है जिसमे ११० वर्ण, ३८ गुरु तथा ७२ लघु होते है।

सोरठा—सोरठा दोहे का ही एक रूप है। किसी भी दोहे को उलट कर सोरठा वनाया जा सकता है। सौराष्ट्र मे दोहे का यह उलटा रूप ही प्रचलित था अतः उसी के आधार पर उसका 'सोरठा' नाम पडा। इसके सम चरणो के अन्त मे जगण का निषेध है। दोहे की भाँति लघु गुरु के आधार पर इसके भी २३ भेद किए जा सकते हैं, यद्यपि इसका अधिक प्रचलन न होने के कारण दोहे के भेदो की भाँति भेदो के नामकरण का प्रयास नही किया गया है। यों वे ही नाम इसके भी रखे जा सकते हैं। सोरठा छन्द का प्रयोग अपभ्रंश मे भी मिलता है और हिन्दी मे

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ३९९।
२ वही, २, पृ० १३८-९।

चन्दवरदायी से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों द्वारा यह प्रयुक्त हुआ है। नीति-काव्य में रहीम, जान तथा भगवानदीन के सोरठे अच्छे हैं। रहीम का एक सोरठा है—

ओछे को सतसग, रहिमन तजहु अगार ज्यो।
तातो जारै अग, सीरो पर कारो लगै ॥[1]

सवैया—सवैया प्रमुखत शृङ्गार रस के उपयुक्त छन्द है, पर नीति के लिए भी कुछ लोगो ने इसका प्रयोग किया है। सवैया का उल्लेख प्राकृत पैंगलम से पूर्व किसी ग्रन्थ मे नही मिलता। इसके नाम की व्युत्पत्ति सस्कृत 'सपाद' से ज्ञात होती है पर 'सपाद' से इसका क्या सम्बन्ध है स्पष्ट नही है। सवैया मात्रिक और वर्णिक दोनो प्रकार के होते हैं, पर अधिक प्रचलन वर्णिक का ही है।

वर्णिक सवैयो से मदिरा, किरीट, मत्तगयन्द चित्रपदा, मल्लिका, माधवी, दुर्मिल तथा कमला ये आठ भेद प्रसिद्ध हैं। देव ने मजरी, ललित, सुधा और अलसा नाम के चार और सवैयो का आविष्कार किया था। इनमे कुछ तो सगण, कुछ भगण और कुछ जगण पर आधारित हैं। हिन्दी नीति-काव्य मे इनमे से बहुतो के प्रयोग मिलते हैं। दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

मत्तगयन्द (सात भगण, दो गुरु)—

ज्ञान घटै ठग चोर की सगति मान घटै पर गेह के जाए।
पाप घटै कछु पुन्य किए अरु रोग घटै कछु औषध खाए।
प्रीत घटै कछु मांगन तें अरु नीर घटै रितु ग्रीपम आए।
नारि प्रसग तें जोर घटै जमत्रास घटै हरि के गुन गाए ॥[2]

मदिरा (सात भगया, एक गुरु)—

सांप सुशील, दयायुत नाहर, काक पवित्र औ सांचो जुवारी।
पावक सीतल, पाहन कोमल रैन अमावस की उजियारी।
कायर धीर, सती गनिका, मत वारो कहा मतवारो अनारी।
मोतियराम विचारि कहै नहि देखी सुनी नरनाह की यारी ॥[3]

नीति के सवैयों मे स्खलन भी मिलते हैं। ऊपर उद्धृत सवैया मे अन्तिम पक्ति मे देखी में 'खी' को 'खि' मानने पर ही यह शुद्ध है। इसी प्रकार तीसरी पक्ति मे मतवारो मे 'रो' को 'र' या ह्रस्व ओ के साथ मानने पर ही इसका रूप शुद्ध कहा जा सकता है।

---

१ रहिमन विलास, पृ० २८।
२ कविता कौमुदी, पृ० ५१८।
३ वही।

कवित्त—'कवित्त' शब्द का सम्बन्ध 'कविता' शब्द से है। यह नाम पहले 'छप्पय' का था पर मध्ययुग मे एक नए छन्द को यह नाम दे दिया गया। इसे मुक्तक या घनाक्षरी भी कहते हैं। इसमे ३१, ३२ या ३३ वर्ण होते हैं। इसके ९ भेद होते हैं, जिनमे अधिक प्रसिद्ध मनहरण तथा रूप घनाक्षरी हैं। हिन्दी नीति-काव्य मे मनहरण का ही प्रयोग अधिक मिलता है। इसमे १६, १५ के विराम से ३१ वर्ण होते है तथा अन्त मे गुरु होता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

चाहौ धन धाम भूमि भूपन भलाई भूरि,
सुजस सहूर जुत रैयत को लालियौ।
तोडादार घोडादार बीरनि सो प्रीति करि,
साहस सो जीत्ति जग खेत ते न चालियौ।
सालियौ उदडनि को दडिन को दीजौ दंड,
करिकै घमड घाव दीन पै न घालियौ।
बिन्ती छत्रसाल करै होय जो नरेस देस,
रहै न कलेम लेम मेरो कह्यौ पालियौ।[1]

चौपाई—चौपाई का प्रधान प्रयोग हिन्दी के पद्मावत, रामायण तथा कृष्णायन आदि प्रबन्ध-काव्यो मे हुआ है। इन प्रबन्ध-काव्यो मे ही कही-कही इस छन्द मे नीति और उपदेश की बातें भी वर्णित है। प्राय लोग दो पक्ति को ही चौपाई समझते हैं। जैसे—

छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहुँ धन खल इतराई॥[2]

पर यथार्थत यह आधी चौपाई या अर्द्धाली है। पूरी चौपाई मे चार पक्ति होती है—

बरषहि जलद भूमि निअराए।
जथा नवहि बुध विद्या पाए।
बूँद अघात सहहि गिरि कैसे।
खल के वचन सत सह जैसे॥[3]

इन चार पक्तियो या पादयो के कारण ही इसका नाम चौपाई है। चौपाई के प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ होती है। चौपाई के अन्त मे जगण तथा तगण का निषेध है। चन्दवरदायी से लेकर आधुनिक काल तक चौपाई का हिन्दी मे प्रयोग हुआ

---

१ छत्रसाल ग्रन्थावली, पृ० ७४।

२ मानस, ४.१४.३।

३ वही, ४.१४.२।

है। ऊपर तुलसी की नीति-चौपाई उद्धृत है। जायसी का भी एक उदाहरण लिया जा सकता है—

पेम सुनत मन भूलु न राजा।
कठिन पेम सिर देउ तौ छाजा।
पेम फाँद जो परा न छूटा॥
जीउ दीन्ह वहु फाँद न टूटा॥[1]

बरवै—बरवै मूलत लोक-साहित्य का छन्द है। अवध मे आज भी होली आदि के अवसर पर बरवै कहे जाते हैं। 'बरवै' शब्द की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। साहित्य में रहीम ने इसका पहले-पहल प्रयोग किया था। हिन्दी नीति-काव्य मे भी इसका प्रयोग हुआ है। आधुनिक नीतिकार कवि महेशचन्द्र प्रसाद ने अपनी पूरी 'स्वदेश-सतसई' इसी छन्द मे लिखी है।

बरवै छन्द मे दो पक्तियाँ होती हैं और प्रत्येक पक्ति मे दो-दो चरण, इस प्रकार कुल चार चरण होते हैं। इनमें विषम अर्थात् पहले और तीसरे चरणों में बारह-बारह और सम अर्थात् दूसरे और चौथे चरणो मे सात-सात मात्राए होती हैं। दो उदाहरण हैं—

एकहि वस्तु कहूँ पर हँस कहुँ रोय।
भाग-फेर ते सुख-दुख पावत सोय॥
पिसत कहूँ खल मो मोती सुकुमार।
कहूँ ताज की सोभा करत अपार॥[2]

बरवै छन्द के अन्त मे जगण (ISI) अच्छा लगता है। ऊपर उदाहरण स्वरूप दिए बरवै जगणात ही हैं। हिन्दी नीति काव्य के प्राय सभी बरवै ऐसे ही हैं। अपवादस्वरूप बहुत ही कम बरवो के अन्त मे तगण (SSI) मिलता है। एक तगणान्त उदाहरण देखा जा सकता है—

मरन सबै कहँ निहचै कला कै आज।
देश-धर्म पै मरता धरता ताज॥[3]

प्रमुख रूप से उपर्युक्त आठ—दोहा, कुण्डलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, कवित्त, चौपाई तथा बरवै—छन्दो का ही हिन्दी नीति साहित्य मे प्रयोग हुआ है अत ये हिन्दी नीति-साहित्य के प्रतिनिधि छन्द हैं। पर, इनके अतिरिक्त अन्य बहुत

---

१ जायसी ग्रन्थ०, पृ० १२४।
२ स्वदेश सत०, पृ० ५०।
३ वही, पृ० ८।

से प्राचीन और नवीन छन्दो मे भी नीति और उपदेश की बातें मिल जाती हैं। यहाँ उनमे से कुछ प्रमुख का उल्लेख अत्यन्त सक्षेप मे किया जा रहा है।

तोमर—यह १० मात्राओ के चार पदो का छन्द है। प्रत्येक पद के अन्त मे गुरु लघु होता है—

पति देइ जो अति दुःख।
मन मानि लीजै सुक्ख॥
सब जगत जानि अमित्र।
पति जानि केवल मित्र॥[१]

विजात—चार पदो का मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक पद मे १४ मात्राएँ होती हैं और पदो के आरम्भ मे लघु का विधान है—

दाता अलह रहमान रे।
जिन दियो है जिय दान रे॥
विसरहु न रैन विहान रे।
यो देत सिप कवि जान रे॥[२]

चौपई—चार पदो का मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक पद मे १५ मात्राएँ और पदान्त मे गुरु लघु होता है—

सन्त कहै सुनि रसना बात।
जो बिन बोलें रह्यो न जात॥
तौ तू लै करता को नाम।
और छाडि दै सिगरे काम॥[३]

पदपादाकुलक—चार पदो का मात्रिक छन्द जिसके प्रत्येक पद में १६ मात्राएँ होती हैं और आदि मे द्विकल अवश्य रहता है पर त्रिकल कदापि नही रहता—

जिहिं नाम लये सब काज सरैं।
जप तें जम काहे को ढील करैं॥
धन ते जु निरंजन नाम करैं।
पल मे अघ कोटक होहिं परैं॥[४]

---

१ राम चन्द्रिका, ९. १२।

२ जान, सुधासिंघ।

३ जान, सतनावा।

४ जान, वुद्धिदायक। जान की हस्तलिखित पोथी में इस छन्द का 'मोदक' नाम दिया गया है पर यथार्थत यह मोदक नहीं है। मोदक में चार भगण होते हैं।

पद—पद मे आरम्भ मे एक छोटी 'टेक' होती है और उसके बाद टेक की अपेक्षा लम्बी पंक्तियाँ होती हैं। प्राय टेक और अन्य पंक्तियो का तुक एक होता है। यदि टेक मे पूरे पद का मुख्य भाव निहित हो तो अधिक अच्छा माना जाता है।

धीरे धीरे धीरे मन धीरे ही सब कुछ होय।
धीरे राज धीरे काज धीरे योग धीरे ध्यान
धीरे सुख समाज जोय।

× ×

तानसेन कहे सुनो साह अकबर एतो बडो राज
एती बडी बादशाही धीरे ही ते पाई सोय।[1]

सन्तो ने भी उपदेशात्मक पद लिखे हैं।

लोकगीत—लोकगीतो के लय पर भी बहुत से नीति के छन्द मिलते हैं। पंडित शिव सम्पति सुजान शर्मा के 'पचरा-प्रकाश' से उदाहरण लिया जा सकता है—

छैला जिनि करु देहियाँ के गुमनवाँ न।
यामे नली-नली सब जोरी॥
देखत हो जो काली गोरी।
पांचो तत्वन थोरी थोरी॥
ब्रह्मा करिके मिश्रित विरचे जिव भवनवाँ न।[2]

उर्दू बह्र—आधुनिक युग मे उर्दू बह्रो का भी हिन्दी कविता में पर्याप्त और कई रूपो मे प्रयोग हुआ है। हरिऔध जी का एक 'छपद' है—

उमगो भरा दिल किसी का न टूटे।
पलट जाँय पाँसे मगर जुग न फूटे॥
कभी सग निज सगियो का न छूटे।
हमारा चलन घर हमारा न लूटे॥
सगो से सगे कर न लेवें किनारा।
फटे दिल मगर घर न फूटे हमारा॥[3]

उन्ही का एक चौपदा है—

धन विभव की बात क्या जिनके बडे।
रज बराबर थे समझते राज को॥

---

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० २४०।

२ कविता कौमुदी, भाग २, पृ० १३५।

३ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १२७।

है तरस आता उन्ही के लाडिले ।
है तरसते एक मूठी नाज को ॥[1]

शेर रूप मे भी प्रयोग मिलते हैं—

बुरा भी आदमी ही है, किसी कारण से ऐसा है ।
न क्यो कारण को उस काटो घृणित वह किस वजह से है ॥[2]



---

१ चुभते चौपदे, पृ० १०१ ।
२ नीति छन्द० ।

उपसंहार

पिछले अध्यायो मे हिन्दी नीति-काव्य का अध्ययन किया गया है। यो तो प्रबन्ध मे बीच-बीच मे यथास्थान निष्कर्षस्वरूप बातें कही गई हैं, पर यहाँ अन्त मे पूरे अध्ययन को दृष्टि मे रखते हुए कुछ निष्कर्ष दिये जा सकते हैं।

हिन्दी के नीति-काव्य मे भाव एव कला दोनो ही दृष्टियो से मौलिक उद्भावनायें कम ही हैं। हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य ही नीति की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है, जिसके प्रधान स्तम्भ रहीम, तुलसी, वृन्द, दीनदयाल तथा गिरिधर है, और ये सभी हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यो, विशेषतः सस्कृत के बहुत ऋणी हैं। सन्त कवियो की साखियां तथा कुछ आधुनिक कवियो के नीति अश इसके अपवाद अवश्य हैं, जिनमे जाति-पाँति, धर्माडम्बर, राष्ट्रीयता, श्रम तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य आधुनिक विषयो से सम्बद्ध नीति की बातें मौलिक हैं, पर इनकी संख्या अत्यल्प है और साथ ही ये विषय सामान्य नीति विषयो मे गौण स्थान रखते हैं, प्रमुख नही। इसके अतिरिक्त इनके कवि भी हिन्दी नीति-काव्य के प्रतिनिधि कवि नही है। अतएव यह निष्कर्ष निकालने मे हमे कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि हिन्दी का नीति साहित्य प्रमुखत हमारे पूर्ववर्ती साहित्यो, विशेषत सस्कृत के नीति के कवियो के अनुभवो पर ही आश्रित है। पर, इसके लिए हम हिन्दी के नीति के कवियो को अमौलिक या परानुगामी होने का दोषी नही ठहरा सकते। सच पूछा जाय तो भारतीय समाज मे नीति के प्रधान विषयो के सम्बन्ध मे प्राचीनकाल से ही कुछ बँधे-बँधाये दृष्टिकोण चले आ रहे हैं और वे आज भी लगभग उसी रूप एव अश मे मान्य है। इनमे बहुत से तो समान रूप से विश्व के सभी सभ्य राष्ट्रो मे मान्य हैं। इधर नवीन आर्थिक व्यवस्था और तदनुकूल जीवन दर्शन तथा पश्चिम के सम्पर्क से हमारे दृष्टिकोण मे कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं, पर उनकी बहुत कम ही उपलब्धियाँ इतनी निश्चित हो सकी हैं, जो धर्म, व्यवहार या अन्य विषयक नीतियो के रूप मे हमारे जीवन पर छा सकें। ऐसी स्थिति मे नीति के सामान्य विषयो के सम्बन्ध मे हिन्दी के नीतिकारो के लिए सस्कृत आदि के कवियो का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नही रहा है।

नीति साहित्य की बातें परम्परा से आते हुए अनुभवो पर आधारित हैं और इसी कारण जीवन के लिए बड़ी ही उपयोगी हैं, पर उनको जीवन मे उतारने के लिए बड़ी ही सावधानी एवं सतर्कता की आवश्यकता है। पीछे धर्म, व्यवहार तथा राज्य-

व्यवस्था विषयक नीतियो मे ऐसी बहुत सी बातें मिली हैं, जो एक दूसरे की विरोधी हैं। इनमे कुछ तो असत्य हो सकती हैं और ऐसी बातो का निराकरण यथास्थान कर दिया गया है, पर अन्य बहुत सी ऐसी हैं जो विरोधी होते हुए भी अपने-अपने स्थानो पर सत्य हैं। ऐसी नीतियो का अधानुकरण न करके परिस्थिति, स्थान, काल तथा व्यक्ति के सन्दर्भ में इन्हें समझकर अनुसरण करना श्रेयस्कर होता है। कुछ बातें नये वातावरण मे पुरानी भी हो सकती हैं और उनका अनुसरण करने मे भी विवेक अपेक्षित है। ससार मे शायद ही कोई ऐसा सिद्धान्त हो, जिसका अधानुकरण लाभकर हो। नीति मे कही गई सभी बातो के सम्बन्ध मे इसका ध्यान रखना चाहिये और इस दृष्टि से नीति में बतलाई गई बातो को लचीली समझना चाहिये।

नीति-काव्य मे जितने भी सिद्धान्त अपनाये गये हैं, बहुमत के आधार पर। उनके अपवाद मिल सकते हैं, पर उन अपवादो के आधार पर उन सिद्धान्तो का असत्य कहना समीचीन नही।

कला की दृष्टि से हिन्दी का नीति साहित्य बहुत ही सफल है, इसी कारण यह इतना लोकप्रिय है। इसमे भाषा, शैली, अलकरण विधान तथा छन्द सभी ऐसे रखे गये हैं जो अभिव्यक्ति को पूर्णता पर पहुँचाकर प्रभविष्णुता मे सहायक हो सकें।

अन्त मे इतना और जोड देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्य सम्बन्धी हमारे सस्कारो के कदाचित् अत्यधिक सुसस्कृत और नूतन हो जाने के कारण अब इस रूप मे नीति-काव्य के विकास की सम्भावना बहुत कम रह गई है। कहना अप्रासगिक न होगा कि नीति-काव्य-धारा ने यदि कोई नूतन रूप नही अपनाया तो उसे मात्र इतिहास की चीज रह जाना पडेगा।

———

सहायक ग्रन्थों की सूची

[मु]द्रित ग्रन्थ—

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि . सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ, प्रथम संस्करण

अनघ · मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाव, झाँसी, स० १६८२

अनमोल रत्न शम्भूदयाल, १६२८ ई०

अनूठी कहावतें प्रतापनारायण मिश्र, काशी, प्रथम संस्करण

अन्योपदेशशतकम् · नीलकंठ दीक्षित, काव्यमाला, भाग ६, बम्बई, १६३० ई०

अन्योपदेशशतकम् : मधुसूदन, काव्यमाला भाग ६, बम्बई, १६१६ ई०

अन्योक्ति कल्पद्रुम : दीनदयालगिरि, प्रयाग, सं० २००२

अन्योक्ति संग्रह : वीरेश्वर, काव्यमाला, भाग ५, बम्बई, १६३७ ई०

अपभ्रंश प्रकाश देवेन्द्रकुमार, बनारस, प्रथम संस्करण

अलकार मंजूषा : भगवानदीन, प्रयाग, १६२७ ई०

आधुनिक काव्यधारा : केशरीनारायण शुक्ल, बनारस, सं० २०००

आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना . शैलकुमारी, इलाहाबाद, १६५१ ई०

आर्य संस्कृति के मूलाधार : बलदेव उपाध्याय, काशी, १६४७ ई०

इसप्स फैबुल्स, इलाहाबाद, १६३० ई०

ईशावास्योपनिषद्, गोरखपुर, सं० २०००

उपदेशशतकम् : गुमानी, काव्यमाला, भाग २, बम्बई, १६३२ ई०

ऋग्वेद · अनु० रामगोविन्द द्विवेदी, प्रयाग, १६५४ ई०

ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग १ · विंटरनीत्स, कलकत्ता, १६२७ ई०

ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर : कीथ, लन्दन १६४१ ई०

ऐतरेयोपनिषद्, गोरखपुर, स० २०००

करुण सतसई रामेश्वर करुण, कृष्णनगर (लाहौर), १६६१ वि०

कठोपनिषद्, गोरखपुर, सं० १६६६

कबीर ग्रन्थावली, काशी, सं० २००८

कबीर वचनावली, हरिऔध, प्रथम संस्करण

कविता, कौमुदी. भाग १ : रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग, १६४६ ई०, बम्बई १६५४

कविता, कौमुदी, भाग २ . रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग, सं० १६८३

कामन्दकीय नीतिसार टीका० ज्वालाप्रसाद, बम्बई, स० १९६१
कालिदास ग्रन्थावली, काशी, स० २००७
काव्य दर्पण रामदहिनमिश्र, पटना, १९५१
काव्यवाटिका : किशोरीलाल गुप्त, कलकत्ता, १९३१ ई०
काव्यवाटिका गोपाल ब्रह्मचारी प्रथम सस्करण
किसान मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी
किसान सतसई जगनसिंह सेंगर, अलीगढ १९४८ ई०
कुलदीपा सहस्रदोहावली, काशी, २००४ वि०
केनोपनिषद्, गोरखपुर, तीसरा सस्करण
कौटलीय अर्थशास्त्र अनु० उदयवीर शास्त्री, लाहौर, १९२५ ई०
क्लैसिकल सस्कृत लिटरेचर कीथ, लन्दन, १९२७ ई०
गरीबदास की बानी, प्रयाग, १९२० ई०
गाथासप्तशती, बम्बई, १९३३ ई०
गिरिधर कुण्डलियाँ, बम्बई, स० १९८१
गृहस्थगीता मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, दूसरा सस्करण
ग्राम्या सुमित्रानन्दन पन्त पहला सस्करण
गोरखबानी स० बडथ्वाल, काशी, पहला सस्करण
घाघ और भड्डरी स० रामनरेश त्रिपाठी, इलाहाबाद, १९४८ ई०
घाघ और भड्डरी, बनारस, १९१८ ई०
चर्यापद, कलकत्ता, प्रथम सस्करण
चाणक्यनीतिदर्पण टीका० अभिमन्यु, काशी १९४६ ई०
चाणक्य सूत्र, कौटलीय अर्थशास्त्र (लाहौर) के अन्त मे
चिन्तामणि : रामचन्द्रशुक्ल, प्रथम भाग प्रथम सस्करण
चित्राधार जयशकर प्रसाद तीसरा सस्करण
चुभते चौपदे हरिऔध, पटना, १९२४ ई०
चैम्बर्स इनसाइक्लोपीडिया
छन्द प्रभाकर भानु, बिलासपुर, १९२६ ई०
छत्रसाल ग्रन्थावली, पन्ना, स० १९८३
जगजीवन शब्दावली
जमाल दोहावली स० महावीरसिंह गहलोत, काशी, १९४५ ई०
जातक अनु० भ० आ० कौसल्यायन, भाग १, २, ३ प्रयाग, प्रथम सस्करण
जाफरे चासर, लन्दन
जायसी ग्रन्थावली गीगल बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम सस्करण

जैन जातक . अनु० अमूल्य चरन, लाहौर, १६२५ ई०
ज्ञानावली : स० शेतावचन्द्र, कलकत्ता, १६८४ वि०
तुलसी सुक्ति सुधा स० वियोगी हरि, बनारस, सं० १६८६
तुलसी दोहावली टीका० भगवानदीन दूसरा सस्करण
तुलसी सतसई टीका० रामचन्द्र द्विवेदी, पटना, १६२६ ई०
तुलसी साहब की बानी प्रयाग दूसरा संस्करण
तुलसी हितोपदेश सं० द्वा० प्र० चतुर्वेदी प्रथम संस्करण
तैत्तरीयोपनिषद्, गोरखपुर, स० २०००
द उपनिषद्स : महादेवन, मद्रास
दक्खिनी का पद्य और गद्य—श्रीराम शर्मा, हैदराबाद, १६५४
दादूदयाल की बानी, काशी, १६०६ ई०
दादूदयाल की बानी, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण
दिव्य दोहावली हरिऔध, प्रयाग, १६४६
दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, काशी, स० १६७६
दुलारे दोहावली, लखनऊ, स० १६६३
दूलनदासजी की बानी, इलाहाबाद, १६१४ ई०
दृष्टान्तकलिकाशतक कुसुमदेव, काव्यमाला, भाग १४, बम्बई, १६३८ ई०
दोहाकोष
द्विवेदी काव्यमाला, इलाहाबाद,
धम्मपद अनु० भ० आ० कौसल्यायन, १६४० ई०
धरनीदास की बानी, इलाहाबाद प्रथम संस्करण
धर्मनीति महात्मा गाधी, दिल्ली, १६५०
धौम्य नीति, बम्बई
नवसतसईसार · स० कैलाश भटनागर, प्रयाग, १६४५ ई०
नीति छन्दावली · सं० राधामोहन अग्रवाल, कलकत्ता, सं० १६६८
नीतिधनदम् धनदराज, काव्यमाला, भाग १३, बम्बई, १६१६ ई०
नीतिधर्म अथवा धर्मनीति . महात्मा गाधी, बम्बई सं० १६७८
नीतिप्रकाश लखनऊ प्रथम सस्करण
नीति मजरी : द्याद्विवेद, बनारस, १६३३
नीतिशतक : भर्तृहरि, इलाहाबाद, १६४६ ई०
नीति सुधा तरंगिणी . रामप्रसाद तिवारी, लखनऊ प्रथम संस्करण
नए सुभाषित रामधारीसिंह दिनकर, पटना, १६५८

सभाविलास, काशी, स० १९५२
सभाविलास, लखनऊ, १९१३ ई०
सहजोबाई की बानी, प्रयाग, १९२६ ई०
सामान्य नीति काव्य हरदीन त्रिपाठी, काशी, स० १९७१
सावयधम्म दोहा देवसेन, कारजा, स० १९८९
सिरसनीति सतसई शिवरत्नशुक्ल 'सिरस' बछरावाँ (रायबरेली) १९९३ वि०
सुन्दर ग्रन्थावली स० हरिनारायण शर्मा, कलकत्ता, स० १९९३
सुताप्रबोध रामप्रसाद तिवारी, प्रयाग, १९१७ ई०
सुधासरोवर . कविकिंकर, लहरिया सराय, स० १९८५
सूक्ति मुक्तावली सोमप्रभाचार्य, काव्यमाला भाग ७, बम्बई, १९२६ ई०
सूक्तिशतक, (सरस्वती, भाग २८, में प्रकाशित)
सूक्ति सग्रह कवि राक्षस, बम्बई, १९३० ई०
सूक्ति सुधा, लाहौर, १९२८ ई०
सूफी काव्य सग्रह स० परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, १९५१ ई०
सेलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर स० लाला सीताराम, कलकत्ता
स्वदेश सतसई महेशचन्द्रप्रसाद, आरा, स० १९८७
हरिऔध सतसई हरिऔध, काशी, सन् १९४७
हिन्दी कविता मे युगान्तर सुधीन्द्र, दिल्ली, १९५० ई०
हिन्दी काव्य धारा राहुल साकृत्यायन, प्रयाग, १९४५ ई०
हिन्दी काव्यशास्त्र बालेन्दु
हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग नामवरसिंह, इलाहाबाद, १९५२ ई०
हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास कामताप्रसाद जैन, काशी, १९४७
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १ तथा २ नेमिचन्द्र शास्त्री, काशी, १९५६
हिन्दी विश्वकोष, कलकत्ता प्रथम संस्करण
हिन्दी साहित्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आगरा, १९५२ ई०
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास डा० रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद, १९४८
हिन्दी साहित्य का इतिहास शुक्ल, काशी, स० २००९
हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—रा० व० शुक्ल तथा डा० भ० मिश्र इलाहाबाद, १९५६
हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास सूर्यकान्त, लाहौर, १९३१ ई०
हिन्दी सुभाषित स० रामकवि, दिल्ली, १९२२ ई०

इन्दुई साहित्य का इतिहास : गार्सां द तासी, अनु० डॉ० वार्ष्णेय, प्रयाग, प्रथम संस्करण

हितोपदेश : टीका० रामतेज शास्त्री काशी

स्तलिखित ग्रन्थ—

गुणगंजनामा

जान ग्रन्थावली

दोहासार संग्रह दारासाह

नीति के दोहे : महात्मा भगवानदीन

नीति छन्दावली (संग्रह ग्रन्थ)

सर्वंगी रज्जब जी

पत्र-पत्रिकाएँ—

आलोचना, इन्दु, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, प्रसारिका, संसार, सम्मेलन पत्रिका, साहित्य सन्देश, सरस्वती, सुधा, समालोचक, विश्वमित्र तथा हिन्दुस्तानी आदि।

संक्षेप—

कल्प०—कल्पद्रुम। कुण्ड०—कुण्डलिया। कौ०—कौमुदी। ग्र०, ग्रन्थ०—ग्रन्थावली। छं०, छन्द—छन्दावली। वा०—बानी। तरंग०—तरंगिणी। दे०—देखिये। दो०, दोहा०—दोहावली। शब्द०—शब्दावली। रत्न०—रत्नावली। सत०—सतसई। सूक्ति०—सूक्तावली।



हिन्दुई साहित्य का इतिहास : गार्सां द तासी, अनु० डॉ० वार्ष्णेय, प्रयाग, प्रथम संस्करण

हितोपदेश · टीका० रामतेज शास्त्री काशी

हस्तलिखित ग्रन्थ—

गुणगंजनामा

जान ग्रन्थावली

दोहासार संग्रह · दारासाह

नीति के दोहे महात्मा भगवानदीन

नीति छन्दावली (संग्रह ग्रन्थ)

सर्वंगी · रज्जब जी

पत्र-पत्रिकाएँ—

आलोचना, इन्दु, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, प्रसारिका, संसार, सम्मेलन पत्रिका, साहित्य सन्देश, सरस्वती, सुधा, समालोचक, विश्वमित्र तथा हिन्दुस्तानी आदि ।

संक्षेप—

कल्प०—कल्पद्रुम । कुण्ड०—कुण्डलिया । कौ०—कौमुदी । ग्रं०, ग्रन्थ०—ग्रन्थावली । छ०, छन्द—छन्दावली । वा०—वानी । तरंग०—तरंगिणी । दे०—देखिये । दो०, दोहा०—दोहावली । शब्द०—शब्दावली । रत्न०—रत्नावली । सत०—सतसई । सूक्ति०—सूक्तावली ।

———